ऋग्वेद में आचार-सामग्री

(Ethical Element in the Rigveda)

सत्यप्रिय शास्त्री

विश्वानि देव सवितर्-दुरितानि परासुव । यद्-भद्रं तन्न-आसुव

देव-यज्ञ

बलिवैश्वदेव यज्ञ

पितृयज्ञ

अतिथि-यज्ञ

सत्संग

स्वाध्याय

ब्रह्म-यज्ञ

ओ३म्

ओ३म्

ऋग्वेद में आचार-सामग्री

(Ethical Element in the Rigveda)

शोधकर्त्ता :

सत्यप्रिय शास्त्री

प्रकाशक :

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

हिण्डौन सिटी (राज०)-३२२ २३०

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट**
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी
(राज०)-३२२ २३०
दूरभाष : ०७४६९-२३४६२४
चलभाष : ०-९४१४०-३४०७२

संस्करण : स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द सरस्वती एवं प्रा० राजेन्द्र जिज्ञासु
अमृत महोत्सव, २००६

मूल्य : १००.०० रुपये

प्राप्ति स्थान : १. **टंकारा साहित्य सदन**, आर्यसमाज, हिण्डौन सिटी (राज०), दूरभाष : ०७४६९-२३४९००
२. **श्रेष्ठ साहित्य सदन**, सैंती, चित्तौड़गढ़ (राज०)
शाखा-पहुँना, जि०-चित्तौड़गढ़ (राज०)
दूरभाष :०१४७१-२२२०६४
३. **श्री हरिकिशन ओम्प्रकाश**, ३९९, गली मन्दिर वाली, नया बाँस, दिल्ली-११० ००६,
दूरभाष-०११-२३९५८८६४
४. **श्री दयारामजी पोद्दार**, झारखण्ड राज्य आर्य प्रतिनिधि सभा, आर्यसमाज मन्दिर, स्वामी श्रद्धानन्द पथ, राँची (झारखण्ड)-८३४ ००१
चलभाष : ०-९२३४७५०६०७
५. **श्री गणेशदास गोयल**, २७०४, प्रेममणि निवास, गली पत्तेवाली, नया बाजार, खारी बावली, दिल्ली-६
दूरभाषः ०११-५५३७९०७०
६. **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**, ४४०८, नई सड़क, दिल्ली-६, दूरभाषः ०११-२३९७७२१६
७. **आर्य प्रकाशन**, ८१६, कुण्डेवालान, अजमेरी गेट, दिल्ली-११० ००६, दूरभाष : ०११-२३२३३२८०
८. **डॉ० श्री अशोकजी आर्य**, आर्य कुटीर,
११६, मित्र विहार, मंडी डबवाली, जि०-सिरसा, (हरि०)-१२५१०४, दूरभाष : ०१६६८-२२७९३५
९. **श्री राजेन्द्रकुमार**, १८, विक्रमादित्य पुरी, स्टेट बैंक कालोनी, बरेली (उ०प्र०), दूर.: ०५८१-२५४३९४४

शब्द संयोजन : **भगवती लेज़र प्रिंट्स**, ईस्ट ऑफ कैलाश,
नई दिल्ली-११० ०६५

मुद्रक : अजय प्रिंटर्स, दिल्ली-32

किञ्चित्प्रास्ताविकम्

अब से लगभग ६ वर्ष पूर्व जब मैंने संस्कृत एम०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की थी, उसके बाद जुलाई में श्रद्धेय गुरुवर डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री जी से मिला तथा शोधकार्य करने की इच्छा व्यक्त की। उस समय आपने मुझ से प्रिय विषय पूछा—मैंने 'वेद' को अपना प्रिय विषय बताया, अध्ययनकाल में वेद मेरा प्रियतम विषय रहा है। मैंने गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन से विशेष कोर्स वेद का किया हुआ है।

कुछ समय विचार-विमर्श के पश्चात् श्रद्धेय शास्त्री जी ने 'ऋग्वेद में आचार-सामग्री' (Ethical Element in the Rigveda Samhita) विषय सुझाया और उसकी रूपरेखा तैयार करवा दी तथा आगरा विश्वविद्यालय में स्वीकृति हेतु भिजवा दिया।

आगरा विश्वविद्यालय ने लिखा कि श्री शास्त्री जी आपके विषय का निर्देशन कार्य नहीं करा सकते, क्योंकि उनके पास पहले से ही ५ शोध-छात्र कार्य कर रहे हैं, अतः किसी और का नाम निर्देशक के लिए भेजिए।

इधर उस समय मेरठ विश्वविद्यालय बन चुका था। अतः मेरठ विश्वविद्यालय के अन्तर्गत शोध-कार्य करना समीचीन जान पड़ा। इसको व्यावहारिक रूप देते हुए इसी विषय को श्रद्धेय डॉ० साहब के प्रिय शिष्य और मेरे मेरठ कॉलिज में संस्कृत के गुरु श्री डॉ० केशवराम पाल, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्० के निर्देशन में १२।११।६७ को मेरठ विश्व-विद्यालय, मेरठ को भिजवा दिया। जहाँ १५।४।६८ की मीटिंग में रिसर्च कमेटी ने इस विषय पर शोध-कार्य करने की अनुमति प्रदान कर दी।

ऋग्वेद में उपलब्ध आचार-सामग्री संकलन करने से छूटने न पाए इसलिए सर्वप्रथम मैंने विषय-विभाग (Tentative Contents) को सामने रखकर ऋग्वेद का कई बार आद्योपान्त पारायण किया और अपने विषय के अनुरूप सामग्री को चिह्नित किया। उन चिह्नित मन्त्रों को मैंने सायण भाष्य की सहायता से सम्पूर्ण सामग्री को संकलित किया। तदनन्तर जिन मन्त्रों का अर्थ अस्पष्ट या सन्दिग्ध था, जिनके अर्थ के विषय में भाष्यकार और अनुवादक एकमत नहीं थे उनका ग्रिफिथ एवं जयदेव शर्मा के हिन्दी अनुवाद की सहायता से ऊहापोह के साथ अर्थ निश्चय किया।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अध्ययनकाल में मुझे अनेक बार आशा और निराशा के झूलों में झूलना पड़ा। अध्ययन के मध्य में ऐसे भी अवसर आये जब कि ऋग्वेद में उपलब्ध आचार-सम्बन्धी सामग्री की एकरूपता निराशा को जन्म देती थी। ऐसे अवसरों पर डॉ० पाल साहब सदा ही कार्य करने के लिए उत्साहित करके उपलब्ध सामग्री का उपयोग करने का नया मार्ग प्रदर्शित करके कार्यरत रहने की प्रेरणा देते रहते थे।

ऋग्वेद की सम्पूर्ण आचार सम्बन्धी सामग्री को एकत्र तथा विभक्त करने पर यह ज्ञान हुआ कि ऋग्वेद से प्राप्त सामग्री में इतनी एकरूपता है कि सम्पूर्ण को पी-एच०डी० की उपाधि हेतु प्रस्तुत किये जानेवाले शोध-प्रबन्ध की सीमाओं में बाँधा नहीं जा सकता। अतः ऐसी उपलब्ध सामग्री जिससे कोई नया प्रकाश नहीं पड़ता उसको छोड़ दिया गया है, लेकिन इतना ध्यान अवश्य रखा गया है कि कोई महत्त्वपूर्ण एवं नया प्रकाश करनेवाली सामग्री छूटने न पाए।

'आचार'

नैतिक आचरण को बताने के लिए प्राचीनकाल में धर्म शब्द प्रयुक्त होता था, लेकिन यह धर्म शब्द कणाद मुनि के अनुसार जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो उसे धर्म कहकर उसके व्यापक अर्थ का निरूपण किया गया है तथा मीमांसादर्शन एवं महाभारत में उल्लिखित धर्म शब्द का अर्थ वैशेषिक दर्शन में किये गये अर्थ के अनुरूप नहीं है।

आजकल यह शब्द (Religion) और मजहब के लिए प्रयुक्त होने लगा है जो प्राचीनकाल के अर्थों से बिल्कुल ही विपरीत है।

नैतिक शब्द भी कर्त्तव्य भावना के लिए प्रयुक्त होता है, लेकिन नीति शब्द का अर्थ उससे भिन्न भी है जब कि नीति शब्द का तद्धितान्त रूप 'नैतिक' बनता है। 'नीति-कथा' और 'नीति-शतक' इसके द्योतक हैं।

सदाचार शब्द सत्पुरुषों के व्यवहार के लिए प्रयुक्त होता है और आचार शब्द भी इसी अर्थ में व्यवहृत किया जाता है। फिर भी आजकल नैतिक आचरण को बताने के लिए 'आचार' शब्द ही प्रयुक्त होता है, इसलिए आचार शब्द को नैतिक आचरण के अर्थ को द्योतन करने के लिए प्रबन्ध में रखा गया है और वहीं पर इसके विषय में विशेष रूप से विचार किया गया है।

प्रथम अध्याय में वैदिक साहित्य से आचार-सामग्री का सामान्य परिचय कराया गया है, जिससे यह स्पष्ट रूप से प्रतीत हो सके कि वैदिक साहित्य में आचार-सामग्री का अभाव नहीं है, जैसी कि पाश्चात्य विद्वानों की भ्रान्त धारणा है।

इसी अध्याय के अन्त में वैदिक आचार तत्त्वों एवं बौद्ध आचार तत्त्वों की तुलना की गई है तथा दोनों की समानता को प्रदर्शित करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि बौद्ध आचार तत्त्वों का उद्‌गम स्थान वैदिक आचार तत्त्व ही हैं, जिससे इतना तो स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि विश्व में जिन आचार तत्त्वों का बोलबाला रहा है उनका मौलिक रूप में उद्‌गम स्थान ऋग्वेद है।

द्वितीय अध्याय में सत्य और श्रद्धा के विषय में विशेष चर्चा की गई है। सत्य के प्रति आस्था और असत्य के प्रति घृणा का भाव ऋग्वेद में पाया जाता

है। श्रद्धा और विश्वास का चित्रण भी किया गया है।

तृतीय अध्याय में अहिंसा के विषय का दिग्दर्शन कराया गया है जिसमें ऋग्वेद की मूल भावना अहिंसामय सुख-शान्ति की है इसको स्पष्ट किया गया है और हिंसकों के प्रति आक्रोश व्यक्त किया गया है, उसको भी यथास्थान दिखाते हुए ऋग्वेद की अहिंसा-भावना को स्पष्ट किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में दान का विवेचन प्रस्तुत किया गया है, दान और दक्षिणा का अन्तर एवं समानता का उल्लेख करते हुए राजदान, दीनों के दान के साथ इस दान प्रकरण के अध्याय को सम्पन्न किया गया है।

पंचम अध्याय को समाज में सामञ्जस्य (Harmony) की भावना नाम से प्रस्तुत किया गया है, जिसमें देवों से धन, गौ, अश्वादि के साथ वीर पुत्रों की सामूहिक कामना की गई है तथा सुख-शान्ति, स्वस्ति, भद्रता, मधुरता, निडरता, दीर्घ आयुष्य, रक्षण एवं विजय की सामूहिक प्रार्थनाओं का उल्लेख किया गया है। सामूहिक खान-पान, यज्ञ-विधान के अतिरिक्त समानता का सन्देश दिया गया है। पारिवारिक सामञ्जस्य की भावना का भी चित्रण करते हुए आर्येतर जनों के साथ सामञ्जस्य भावना के अभाव के कारण को स्पष्ट किया गया है।

षष्ठ अध्याय प्रगतिशील जीवन के नाम से लिखा गया है। इसमें श्रम एवं श्रमिक की महत्ता की चर्चा करते हुए प्रगति के बाधक पाप, अपराध, निन्दा आदि तत्त्वों को दिखाने के बाद प्रगति में अत्यन्त सहायक उत्साह, आदान-प्रदान की भावना एवं स्वावलम्बी जीवन आदि का उल्लेख किया गया है।

सप्तम अध्याय में वैवाहिक जीवन और काम सम्बन्धी आचरण का निरूपण किया गया है। यह अध्याय सभी अध्यायों से विस्तृत हो गया है, इसका कारण यह है कि वैवाहिक जीवन या पारिवारिक जीवन ही सामाजिक आचार की आधार-शिला कही जा सकती है जिसका विशद वर्णन ऋग्वेद में हुआ है। इसमें युवक युवति से पति-पत्नी हो जाने पर उनके पारस्परिक व्यवहार, कर्त्तव्य एवम् अधिकार का उल्लेख किया गया है और जब ये पति पत्नी सन्तानोत्पत्ति करके पिता माता बन जाते हैं तब इनका अपने पुत्र-पुत्रियों के साथ पारस्परिक आचरण कैसा हुआ है इसका ऋग्वेद के आधार पर चित्र प्रस्तुत किया गया है।

काम-सम्बन्धी आचरण के विषय में पाश्चात्य एवं तदनुवर्ती विद्वानों की यह भ्रान्त धारणा है कि ऋग्वैदिक काल में पिता पुत्री, माता पुत्र एवं भाई बहिन के मध्य निकटाभिगमन होता था इसका ऋग्वेद की साक्षियों से निराकरण किया गया है।

अष्टम अध्याय सामाजिक कुरीतियों के नाम से आरम्भ किया गया है। जिनमें जुआ, चोरी, व्यभिचार आदि अनैतिक रीतियों का उल्लेख किया गया है जिनका ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से निषेध एवं निन्दा की गई है।

नवम अध्याय उपसंहार के रूप में लिखा गया है जिसमें पूर्व लिखित अध्यायों का पुनरावलोकन करते हुए आचार तत्त्वों का संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया गया है।

मैंने शोध-कार्य करते समय जिन सत्यों का अवलोकन किया है, उनको समग्र रूप से प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है। ऋग्वेद में 'आचार सामग्री' जिस प्रकार की उपलब्ध हुई है उसको बिना पूर्वाग्रह के वैसी ही प्रतिपादित की गई है। मैं एक शोधकर्त्ता का एकमात्र उद्देश्य सत्य का उद्घाटन करना मानता हूँ। इसी सत्य की जिज्ञासा से ऋग्वेद का अनेक बार पारायण किया और जैसा उसमें उपलब्ध हुआ उसको वैसा ही रखने का प्रयत्न किया है।

ऋग्वेद में इस उपलब्ध आचार-सामग्री से मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि इससे समाजशास्त्रियों एवं आचारशास्त्रियों को हमारी संस्कृति एवं सभ्यता की मूल भावना को समझने में पर्याप्त सहायता मिलेगी तथा आजतक व्याप्त धारणा निर्मूल होगी कि वेदों में कोई विशेष आचार-सामग्री नहीं है।

यह शोध-कार्य संस्कृत के प्रसिद्ध मनीषी एवं दार्शनिक विचारक श्रद्धेय डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, अध्यक्ष भारतीय विद्या-संस्थान, दरियागंज, देहली एवं श्रीमान् डॉ० केशवरामपाल, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्०, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, लाजपतराय कॉलिज, साहिबाबाद के निर्देशन में सम्पन्न हुआ है जिसके लिए मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी, हरिद्वार के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार, श्री पं० धर्मदेव जी, वेदवाचस्पति, विद्या मार्तण्ड, डॉ० हरिदत्त जी शास्त्री, अवकाश प्राप्त अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, डी०ए०वी० कालेज, कानपुर, डॉ० निरुपण विद्यालङ्कार जी अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, मेरठ कॉलिज, मेरठ का हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने अनेक निर्देशात्मक महत्त्वपूर्ण परामर्श देकर शोध-कार्य में सहायता की है। श्री पं० नन्दकिशोर जी, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, पोस्ट ग्रेजुएट कॉलिज, गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर का भी अत्यन्त आभारी हूँ जिनके माध्यम से केन्द्रीय शोध-छात्रवृत्ति से मैं लाभान्वित हुआ हूँ।

श्रद्धेय आचार्य कृष्ण जी 'वेदमनीषी' का भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने शोध-कार्य में आनेवाली बाधाओं को दूर करके सतत कार्यरत रहने के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। प्रो० रामप्रसाद जी एवं प्रो० सत्यव्रत जी राजेश प्रवक्ता, वेद-विभाग, गुरुकुल विश्वविद्यालय, काँगड़ी के दोनों बन्धुओं का हृदय से आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने शोध-कार्य की प्रगति के लिए तन-मन-धन से हर सम्भव सहायता प्रदान की।

मैं अपने मित्र श्री रामकिशोर वर्मा का भी बहुत आभारी हूँ जिन्होंने बड़ी योग्यता एवं मनोयोग के साथ शोध-प्रबन्ध के टंकण-कार्य को किया है।

आषाढ़ विक्रमी सं० २०२९

विनीत

सत्यप्रिय शास्त्री

विषय-सूची

संकेत-सारणी

अथर्ववेद	:	अथर्व०, अ०
आपस्तम्ब धर्मसूत्र	:	आप० ध० सू०
ऋग्वेद	:	ऋक्० ऋ०
ऋक्सूक्त वैजयन्ती कोश	:	ऋ० वै० को०
ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध	:	ऋ० पा० स०
ऐतरेय ब्राह्मण	:	ऐ० ब्रा०
कौषीतकि ब्राह्मण	:	कौ० ब्रा०
गौतम धर्मसूत्र	:	गौ० ध० सू०
तैत्तिरीय संहिता	:	तै० सं०
तैत्तिरीय ब्राह्मण	:	तै० ब्रा०
तैत्तिरीयोपनिषद्	:	तै० उ०
धम्मपद	:	ध० प०
निरुक्त	:	निरु०
निघण्टु	:	नि०
पाणिनीय अष्टाध्यायी	:	पा० अ०
पाणिनीय धातुपाठ	:	पा० धा० पा०
बृहद्देवता	:	बृ० दे०
मनुस्मृति	:	मनु०
महाभारत सभापर्व	:	म० स० प०
मैत्रायणी संहिता	:	मै० सं०
यजुर्वेद	:	यजु०
याज्ञवल्क्य स्मृति	:	याज्ञ०
रघुवंश	:	रघु०
वसिष्ठ धर्मसूत्र	:	व० ध० सू०
विदुरनीति	:	वि० नी०
शतपथ ब्राह्मण	:	श० ब्रा०
सायण भाष्य	:	सा० भा०

अध्याय-१

वैदिक साहित्य में—
आचार तत्त्व का सामान्य परिचय

१. आचार का स्वरूप—मनुष्य भी अन्य प्राणियों की भाँति एक शरीरधारी प्राणी है, उन्हीं की भाँति वह भी जन्म और मृत्यु को प्राप्त होता रहता है, उसको भी आहार-विहार, निद्रा और भय की वृत्तियाँ अन्य प्राणियों की तरह सताती रहती हैं। इतनी समानता होने पर भी उसमें कुछ विशेषताएँ भी हैं जिनके कारण अन्य प्राणियों से वह श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि विधाता ने उसको विवेक प्रदान किया है तथा अनुभूतियों के लिए एक स्पन्दनशील हृदय दे रखा है। कृत्याकृत्य, उचित-अनुचित, हानि और लाभ को समझने के लिए मस्तिष्क भी उसके पास है। इसलिए पशु-पक्षी अपने खान-पान पर कोई सोच-विचार नहीं करते। लेकिन मनुष्य प्रत्येक व्यवहार में चाहे वह खाने-पीने से सम्बन्धित हो अथवा ग्रहण-परित्याग का विचार करता है कि ऐसा करना उचित है या अनुचित। इसके करने से मुझे दुःख मिलेगा या सुख होगा, मुझे पाप लगेगा या पुण्य होगा, मेरे इस कार्य से अन्य प्राणियों को कष्ट पहुँचेगा या उनको सुख मिलेगा, इस प्रकार हर दिशा में उसका मस्तिष्क विचार करता है। तब उसका हृदय उसके अनुकूल उसको आचरण करने के लिए प्रेरित करता है। अतएव अपनी इस विशिष्टता के कारण ही पशु जगत् से वह उत्कृष्ट कहलाता है। मनुष्य की व्यवहार उत्कृष्टता को ही शास्त्रीय भाषा में आचार कहते हैं।

२. आचार शब्द की व्युत्पत्ति—**''आचर्यते यः स आचारः''** इस व्युत्पत्ति के अनुसार तो जो कुछ भी किया जाय वह आचार कहलाएगा, परन्तु इस व्युत्पत्तिजन्य अर्थ के आधार पर प्रत्येक की जानेवाली क्रिया को आचार का नाम नहीं दिया जा सकता, क्योंकि आचार इस बाह्य क्रिया-कलाप के अतिरिक्त भी कुछ है जिसका सम्बन्ध उर्वर मस्तिष्क तथा हृदय से है जो विधाता ने उपहारस्वरूप प्रदान किया है। इसलिए हमारी प्रत्येक वह क्रिया जिस पर मस्तिष्क ने विचार किया है तथा हृदय ने उसका अनुमोदन कर दिया है वही क्रिया आचार की कोटि में आएगी।

अब यदि उपर्युक्त आचार शुभाभिमुख होगा तो वह सदाचार कहलाएगा और यदि वह अशुभ दिशा की ओर हुआ तो उसका नाम 'दुराचार' होगा। ऐसा होने पर भी सामान्यरूप से 'आचार' शब्द सदाचार अर्थ का ही द्योतक है[१]।

---

१. **तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥** —मनु० २।१८

आचार शब्द 'आङ्' उपसर्गपूर्वक[1] चर धातु से भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। 'चर' धातु के प्रसिद्ध दो अर्थ हमें धातुपाठ में उपलब्ध होते हैं गति और भक्षण[2] इन दोनों अर्थों में जो गति अर्थ है उसके 'ज्ञान, गमन और प्राप्ति ये तीन अर्थ होते हैं', इसका तात्त्विक अर्थ हुआ कि जो खाने के लिए गति करता है वह पशु है और जो ज्ञान, गमन और प्राप्ति के निमित्त भक्षण करता है वह मनुष्य है।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।

—न्यायदर्शन अ० १। आ० १। सू० १०

इसमें आत्मा के लिंगों में सुख-दुःखरूप फल की प्राप्ति के लिए इच्छा और द्वेष रूप गमन (प्रयत्न) है। यह सब ज्ञानपूर्वक होना आवश्यक है, अर्थात् जो खाने के लिए जीता है वह पशु है और जो जीने के लिए खाता है वह मनुष्य है। पशु में भक्षण अर्थ प्रधान है और जबकि मनुष्य में 'चर' धातु का गति अर्थ प्रधान है, भक्षण अर्थ गौण है। चरैवेति चरैवेति का उपदेश मनुष्य के लिए ही है न कि पशु के लिए। इसी आचरण को सत्युग कहते हैं—कृतं सम्पद्यते चरन्।

'चर' धातु में गति अर्थ है वह तो आत्मा पद में अत् सातत्य गमने से उपलब्ध होता है। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि गतिशीलता आत्मा पद में भी पाई जाती है।

आश्रम-व्यवस्था में गतिशीलता—आश्रम-व्यवस्था में आदि और अन्त्याश्रमी के गतिशील होने के कारण सातत्य गमनशीलता है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए सतत गमनशील रहना आचार है। ब्रह्म का बोध कराने के निमित्त सतत गमनशील परिव्रजन (व्रज गतौ) भी आचार है ब्रह्म रूप सत् तत्त्व की प्राप्ति और बोध कराने के लिए गति करना सत्+आचार सदाचार है। यहाँ पर 'आङ्' उपसर्ग और परि उपसर्ग की भी समानता है।

वेदों में चर धातु का उल्लेख—वेदों में चर धातु का प्रयोग हुआ है जिसका सम्बन्ध आचार से ही है।

ऋग्वेद में एक स्थान पर 'चर' धातु का उल्लेख करते हुए करणीय कर्म का विधान करने के साथ-साथ ही अकरणीय कर्म का निषेध भी किया गया है। न तो हम हिंसा करते हैं और न हम फूट डालते हैं, हम तो मन्त्र के अनुसार आचरण करते हैं[3]। ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल में एक स्थान पर 'स्वस्ति' पथ पर अनुसरण करने का उल्लेख किया गया है।

हम सूर्य-चन्द्र के समान कल्याण के पथ का अनुसरण करें, बार-बार दानी, अहिंसनीय और ज्ञानी के साथ संगति करें[4]।

---

१. आङ् मर्यादाभिविध्योः। —पा० २।१।१३; आङ् मर्यादावचने। —पा० १।४।८९
२. चर गत्यर्थः, भक्षणे च। —पा० धा० पा० पृ० १२ (भ्वादिगणः)
३. **नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि।** —ऋ० १०।१३४।७
४. **स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव। पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि॥**
—ऋ० ५।५१।१५

यजुर्वेद के प्रथम अध्याय में सत्यव्रती होने की इच्छा व्यक्त की गई है—

हे व्रतों के स्वामी अग्निदेव! मैं व्रत ग्रहण करूँगा, मैं उसमें समर्थ होऊँ और वह मेरा सत्यव्रत सिद्ध होवे, मैं अनृत से हटकर इस सत्य को प्राप्त करता हूँ[१]। यजुर्वेद के चतुर्थ अध्याय में परमदेव अग्नि से प्रार्थना की गई है—

हे परमदेव अग्निस्वरूप परमेश्वर! हमें दुराचार से पृथक् करो और सुचरित प्राप्त कराओ[२]।

३. समाजशास्त्र और आचारशास्त्र की घनिष्ठता—(क) समाज और आचार की शब्दरचना पर विचार—समाज और आचार पदों में 'अज' और 'चर' दोनों ही धातुएँ जहाँ गत्यर्थ हैं वहाँ 'आङ्' उपसर्ग पूवर्क भी हैं। समाज पद में सम् आङ् अज=समाज में सम् उपसर्ग की अधिकता है फिर यह भी कि मनुष्यों के समूह को समाज और पशुओं के समूह को (सम्+अज)=समज कहते हैं। अत: समाजशास्त्र और आचार शास्त्र का विधि-विधान मनुष्यों के लिए न कि पशुओं के लिए होता है। यह रहस्य, 'आङ्' उपसर्ग ने खोला है। 'आङ्' उपसर्ग मर्यादा-अभिविधि में आता है। बस मर्यादित गति का नाम ही सदाचार है। इस प्रकार आचार और समाज में प्रयुक्त 'आङ्' उपसर्ग आचार और समाज की शब्दरचना पर विशेष प्रकाश डालता है।

क्षेत्र की दृष्टि से विचार करेंगे तो आचारशास्त्र का क्षेत्र व्यक्तिगत है जब कि समाजशास्त्र का क्षेत्र समाज तक है। आचार शास्त्र का सम्बन्ध आश्रम-व्यवस्था से है और समाजशास्त्र का सम्बन्ध वर्णव्यवस्था से है।

(ख) समाजशास्त्र और आचारशास्त्र के सम्बन्ध में समाजशास्त्रियों का दृष्टिकोण—

समाजशास्त्रियों का दृष्टिकोण यह है कि आचारशास्त्र अच्छे-बुरे की व्याख्या करता है और समाजशास्त्र समाज में होनेवाले अच्छे-बुरे व्यवहारों के कारणों को खोज निकालता है। दोनों का उद्देश्य एक आदर्श समाज की स्थापना करना है, इसलिए इन दोनों शास्त्रों में परस्पर अत्यन्त घनिष्ठता है। जैसा कि समाजशास्त्रियों का विचार है—"समाजशास्त्र व नीतिशास्त्र अथवा आचारशास्त्र" में घनिष्ठ सम्बन्ध है। आचारशास्त्र सदाचार से सम्बन्धित है, प्रत्येक समाज में एक विशेष प्रकार के सदाचार का स्तर पाया जाता है और यह आशा की जाती है कि उस समाज के सभी सदस्य उस का पूर्णरूप से पालन करेंगे। आचारशास्त्र सदाचार के स्तरों अथवा मापदण्ड की व्याख्या करता है। इस प्रकार यह विज्ञान समाज के अन्तर्गत मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों का सूक्ष्म अध्ययन करता है जो सामाजिक व्यवस्था संचालन के

---

१. **अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।**
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ —यजु० १।५

२. **परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्व मा सुचरिते भज॥** —यजु० ४।२८

लिए अत्यधिक लाभप्रद है। समाजशास्त्र भी सामाजिक सम्बन्धों में एकता वा घनिष्ठता लाने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार आदर्श सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना करता है। इतनी समानता होते हुए भी दोनों विज्ञानों को एक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि आचारशास्त्र एक आदर्शवादी विज्ञान है, जबकि समाजशास्त्र एक व्यावहारिक शास्त्र है[1]।

इस प्रकार समाजशास्त्र अपने में एक विशेष सुधारात्मक विज्ञान होते हुए भी आचारशास्त्र पर ही निर्भर है। आचारशास्त्र के स्वतन्त्र विज्ञान होने पर भी अन्ततोगत्वा वह समाज के लिए ही है, क्योंकि समाज ही उस आचार-शास्त्र की मर्यादाओं में अपने आपको बाँधकर निरन्तर उन्नति पथ पर अग्रसर होता रहता है। यह बात अलग है कि समाजशास्त्र अच्छे-बुरे की व्याख्या करनेवाले आचार के कार्य-कारण भाव पर भी विचार करता है, इस अपने विभेदक धर्म के रहते हुए भी वह आचारशास्त्र का ऋणी है उसके विशाल भवन का आधार आचारशास्त्र ही है।

४. आचार का महत्त्व—मानव-जीवन में आचार का बड़ा महत्त्व है, यह आचार राक्षस को मानव और मानव को देवता की कोटि में ला खड़ा करता है। आचार से युक्त व्यक्ति सब का विश्वासपात्र होता है। आचारवान् व्यक्ति जहाँ अपने मित्रों में विश्वासपात्र होता है, वहाँ वह इसी गुण के कारण अपने विरोधियों में भी आदर प्राप्त करता है। आचार से मानव अस्वस्थ से स्वस्थ हो जाता है और स्वस्थ व्यक्ति दीर्घ आयुष्य प्राप्त करता है।

यह आचार इतनी दिव्य वस्तु है कि चाहे कोई व्यक्ति चारों वेद सभी शास्त्रों का अध्ययन आद्योपान्त कर ले, यदि वह इसका पालन हृदय से नहीं करता तो वह इन सत्य शास्त्रों के अध्ययन से कुछ भी फल प्राप्त नहीं कर सकता। आचारहीन व्यक्ति को तो वेद भी पवित्र नहीं करते[2]। इसलिए आचार कोई सामान्य वस्तु नहीं है, इसका पालन करना धर्म ही नहीं, अपितु परमधर्म है[3]।

पारिवारिक जीवन में आचार का कम महत्त्व नहीं है, क्योंकि यदि पति इसको छोड़ दे तो अपनी प्रिय पत्नी का विश्वासपात्र न रहे और पत्नी छोड़ दे तो पति के हृदय से उसकी प्रेम की छाप मिट जाए। पिता में न हो तो पुत्र उदासीन हो जाए और पुत्र में न रहे तो बुढ़ापे में पिता निराश हो जाए। माता में न रहे तो उसकी सन्तान दुश्चरित्र एवं क्रूर हो जाए।

सामाजिक जीवन में आचार का इतना महत्त्व है कि यदि व्यापारीवर्ग इसको सर्वथा तिलाञ्जलि दे दें तो उनका व्यापार चौपट हो जाए। गुरु इसको

१. समाजशास्त्र व सामाजिक संगठन पृ० १५
२. नैनं छन्दांसि वृजनात्तारयन्ति। वि०नी० ३।४२ की टीका में उद्धृत—
"आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः"।
यस्तन्त्र वेद किमृचा करिष्यति। —ऋ० १।१६४।३९
३. आचारः परमो धर्मः। —मनु० ४।१०८

त्याग दे तो उसका गुरुत्व संकट में पड़ जाए। साधुवर्ग इसको छोड़ दे तो उसका साधुत्व हवा हो जाए। स्वामी में न रहे तो सेवक निराश होकर अपनी उच्छृंखलताओं पर उतर आए और सेवक में न रहे तो स्वामी निराश होकर अपने कार्यालय में ताला डाल दे। इस प्रकार आचार की महत्ता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है।

५. ऋग्वेद में देवों के आचार का उद्भव—ऋग्वेद विश्व के पुस्तकालय में प्राचीनतम ग्रन्थ है, जो हमारी संस्कृति और सभ्यता का मूलाधार है जिसने भाषा, देवताख्यान, धर्म आदि के विषय में विश्व को बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत की है। जिस में सत्य, अहिंसा, दान आदि आचार तत्त्व का उल्लेख भी हुआ है। वैदिक साहित्य में ऋग्वेद का मुख्य स्थान होने के कारण उसमें उपलब्ध आचार तत्त्व का यहाँ पर सामान्य रूप से परिचय कराया जा रहा है, क्योंकि इसी प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय से अष्टमाध्याय तक इन्हीं विषयों पर ऊहा-पोह के साथ उनकी विस्तृत चर्चा की जायेगी।

ऋग्वेद में देवों के आचरण को आदर्श माना गया है। देव अमर हैं, सदा सत्य, दानादि व्रतों के पालक हैं।[1], उनके आचरण का अनुकरण करनेवाला मानव भी श्रेष्ठ मानव हो जाता है।[2] ऋग्वेद में आचरण के विषय में स्पष्ट उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। जैसे सत्यपालक देवता[3], मनुष्यों के मध्य सत्य और अनृत को देखते हुए विचरण करते हैं।[4] असत्यवादी को दण्डित करने की प्रार्थना की जाती हैं[5] और देवता अदानी और असत्यवादी को दण्डित करते हैं[6]।

ऋग्वेद का प्रसिद्ध सूर्या सूक्त (१०।८५) में सोम के साथ सूर्य-पुत्री सूर्या का आदर्श विवाह रूपक रूप में आरम्भ होता है जिसमें देवता भाग लेते हैं। सोम और सूर्या के आदर्श विवाह का अनुकरण मनुष्यों के विवाह के लिए प्रयुक्त होता है जिसको बृहद् देवताकार ने कहा है कि "ये ही वैवाहिक मन्त्र मनुष्यों के भी विवाह के लिए कहे गये हैं।[7]" जो आज भी वैदिक विवाह-पद्धतियों में मानव-विवाह के लिए प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार ऋग्वेद में देवों की आचार-पद्धति मानवों के लिए अनुकरणीय बन गई है।

६. वैदिक साहित्य में आचार तत्त्व का संक्षिप्त परिचय—

(अ) सत्य और श्रद्धा।

---

१. —ऋग्वेद ५।६७।४

२. यद् देवा अकुर्वन् तत् करवाणि। —शत० ब्रा०
जो देव करते हैं वैसा मैं करूँगा यह मानवों के व्यवहार की प्रणाली है, जो देव करते हैं वह मनुष्यों को करना योग्य है। (उषा देवता) ऋग्वेद का सुबोध भाष्य पृ० १४६।

३. —ऋग्वेद ५।६५।२

४. यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते पश्यञ् जनानाम्। —ऋग्वेद ७।४८।३

५. ऋतं यो अग्रे अनृतेन हन्ति। तमर्चिषा स्फूर्जयञ्जातवेदः॥ —ऋग्वेद १०।८७।११

६. अनाशीर्दामहमस्मि प्रहन्ता सत्यध्वृतं वृजिनायन्तमाभुम्। —ऋग्वेद १०।२७।१

७. मन्त्रा वैवाहिका ह्येते निगद्यन्ते नृणामपि। —बृ० दे० ७।१३८

सत्य—सत्य मानव-जीवन का एक श्रेष्ठ गुण, कदाचित् सर्वश्रेष्ठ गुण माना गया है, जीवन में इसकी बड़ी महत्ता मानी गई है। हमारे प्राचीन साहित्य में तथा अन्य देशों के भी श्रेष्ठ साहित्य में इसके आचरण पर बड़ा बल दिया गया है।

(१) ऋग्वेद में देवों के साथ-साथ सत्योक्ति को भी रक्षक के रूप में उल्लिखित किया गया है—

''सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः।'' —ऋ० १०।३७।२

वह सत्य उक्ति मेरी चहुँ ओर से रक्षा करे।

(२) यजुर्वेद—यजुर्वेद में सत्य के व्रत के लिए अग्निदेव से प्रार्थना की गई है—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
—यजु० १।५
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि॥

हे व्रतों के स्वामी अग्निदेव! मैं व्रत ग्रहण करूँगा, मैं उसमें समर्थ होऊँ और वह मेरा व्रत सिद्ध होवे। मैं अनृत से (हटकर) इस सत्य को प्राप्त करता हूँ, क्योंकि मनुष्य-जीवन का लक्ष्य सत्यव्रती होना है, उस सत्य के व्रत से मनुष्य के अन्दर दैवी भावों का उदय होता है एवं वह देवों की समीपता प्राप्त करता है, देव स्वाभाविक रूप से सत्य के व्रती होते हैं, उनके व्रतों में न्यूनाधिकता नहीं पाई जाती पर मनुष्य का जीवन वैसा नहीं होता है। उसमें अटूट व्रत नियम नहीं होते वह तो व्रत नियमों को जीवन में लाने का प्रयत्न करता है। उसके मानवीय विधान क्षणभंगुर होते हैं। यही मनुष्य में प्रविष्ट अनृत भाव है। मनुष्य जितना सत्य-नियम पालन करेगा सत्य के व्रतों को जीवन में ढालने का प्रयत्न करेगा, उसी का जीवन दीक्षित होगा तथा दीक्षा से सत्य उत्पन्न होता है, जैसा कि कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में कहा है—

यः सत्यं वदति स दीक्षितः।
सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठिता भवति॥ —कौ० ब्रा० ७।३

अथर्ववेद—अथर्ववेद में सत्य के आचरण पर बल देते हुए कहा गया है कि प्राण सत्यवादी को उत्तम लोक में स्थापित करते हैं[१]। लेकिन असत्यवादी को वरुण के पाश बाँध लेते हैं[२]। इससे यह स्पष्ट है कि मानव को वरुण के पाश से बचने के लिए और उत्तम लोक की प्राप्ति के लिए सत्य का आचरण करना चाहिए।

श्रद्धा—श्रद्धा मानव जीवन के लिए एक आवश्यक गुण है जिससे हमें जीवन में सत्यनिष्ठ होने की धारणा का बल मिलता है। जिसकी उत्पत्ति का मूल कारण है दूसरे का महत्त्व स्वीकार करना। महत्त्व स्वीकार किये बिना श्रद्धा जैसा पवित्र भाव उत्पन्न नहीं होता। इस दृष्टिकोण से जब हम ऋग्वेद

---

१. प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोके आदधात्। —अ० ११।४।११
२. छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तम्। —अथर्व० ४।१६।६
कहीं पर सिनन्तु भी पाठ मिलता है।

में उल्लिखित देवसमाज पर विचार करते हैं तब यह बात और भी युक्ति-युक्त प्रतीत होती है, क्योंकि देवों का महत्त्व ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर प्रदर्शित किया गया है।

(१) ऋग्वेद—ऋग्वेद में ब्रह्मणस्पति पर श्रद्धा का कारण उनका बड़प्पन प्रतीत होता है, क्योंकि इनको देवों का पिता कहा गया है। इसलिए इनकी सेवा (पूजा) श्रद्धायुक्त मन से करने का उल्लेख किया गया है—

स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः।
देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम्॥

—ऋ० २।२६।३

जो सच्चे श्रद्धायुक्त मन से देवों के पिता ब्रह्मणस्पति की सेवा करता है वह अपने मनुष्य एवम् आत्मीयजन, पुत्र तथा अन्य लोगों के साथ अन्न-धन को प्राप्त करता है।

यजुर्वेद—यजुर्वेद में श्रद्धा भाव का उल्लेख करते हुए कहा गया है—हे आशीर्वाद देनेवाले पुरुषो! (ऋत्विजो) इस आशीर्वचन के लिए श्रद्धा करो। जिस आशीर्वचन से दम्पती (पति-पत्नी) आनन्द का उपभोग करते हैं, वीर पुत्र उत्पन्न होता है वह पुत्र ऐश्वर्य प्राप्त करता है तथा घर में पाप रहित वृद्धि को प्राप्त होता है[१]। यजुर्वेद में प्रजापति के द्वारा श्रद्धा और अश्रद्धा का स्थान निश्चित किये जाने का उल्लेख है—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥ —यजु० १९।७७

प्रजापति भगवान् ने सत्य और असत्य (अनृत) के स्वरूप को देखकर उनको अलग-अलग कर दिया। उन्होंने अनृत में अश्रद्धा और सत्य में श्रद्धा को स्थापित किया। सम्भवतः इसीलिए मनुष्यों में सत्य के प्रति श्रद्धा और असत्य के प्रति अश्रद्धा पाई जाती है। श्रद्धा से सत्य की उपलब्धि होती है इसका भी उल्लेख यजुर्वेद के इसी १९वें अध्याय में किया गया है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥ —यजु० १९।३०

व्रत से दीक्षा को प्राप्त होता है दीक्षा से दक्षिणा को प्राप्त करता है, दक्षिणा से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य प्राप्त होता है।

अथर्ववेद—अथर्ववेद में श्रद्धा को अनेक स्थलों पर वर्णन किया गया है। रुद्रदेव के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए कहा है—

भव राजन् यजमानाय मृड पशूनां हि पशुपतिर्बभूथ।
यः श्रद्दधाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड॥

—अथर्व० ११।२।२८

हे उत्पादक देवराज रुद्र! यजमान के लिए सुखकारी हो, पशुओं के

---

१. श्रदस्मै नरो वचसे दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः।
पुमान् पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा विश्वाहारपऽ एधते गृहे॥ —यजु० ८।५

स्वामी हो, जो (व्यक्ति) ये देव लोग हैं इस प्रकार की श्रद्धा रखता है उसके दो पाये (मनुष्य) और चौपायों को सुखी कर। श्रद्धा धारण करने की वस्तु है इसका उल्लेख अथर्ववेद में करते हुए कहा गया है—मैं विश्व को जीतनेवाला ब्रह्मोदन (ज्ञानान्न) पकाता हूँ। देव लोग मुझ श्रद्धा को धारण करनेवाले का कथन सुनें[१]। इसी प्रकार अथर्ववेद के एक अन्य स्थान पर दम्पती को सम्बोधित करते हुए कहा गया है—'हे दम्पती! अनुकूलता के साथ कार्य आरम्भ करो। अनुकूलता के साथ चहल-पहल करो। इस (गृहस्थाश्रम) लोक को श्रद्धा धारण करनेवाले प्राप्त होते हैं'[२]।

(आ) अहिंसा—अहिंसा मानव जीवन के लिए अत्यावश्यक है, अहिंसा के बल पर ही हम पशुओं से हटकर मानव कोटि को प्राप्त करते हैं अतएव किसी प्राणी को मन, वचन, कर्म से पीड़ा न देना अहिंसा है। जो व्यक्ति इसको आचरण में लाता है वह अहिंसक कहलाता है।

(१) ऋग्वेद—ऋग्वेद में अहिंसक व्यक्ति का अनुसरण करने का उल्लेख किया गया है—

यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे॥ —ऋ० ५।६४।३

(बुद्धिमान् जन) इस अहिंसक प्रिय मित्र की शरण में रहकर, जिस गति (श्रेष्ठ जीवन) को प्राप्त करते हैं मैं भी इस अहिंसक मित्र के पथ से गति को प्राप्त करूँ। जीवन में हमें कभी भी हिंसक व्यक्ति के मार्ग का अनुसरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि हमारी हिंसा करनेवाला व्यक्ति स्वयम् अपने कर्मों से ही हिंसित हो जाता है। जैसा कि ऋग्वेद में कहा है—

यो नः कश्चिद्रिरिक्षति रक्षस्त्वेन मर्त्यः।
स्वैः ष एवै रिरिषीष्ट युर्जनः॥ —ऋ० ८।१८।१३

जो अपने राक्षसी स्वभाव से हमारी हिंसा करना चाहता है वह अपने कर्मों से ही स्वयं ही मारा जाता है। (इसलिए) हे देवो! न तो हम हिंसा करते हैं और न ही हम फूट डालते हैं, हम तो मन्त्र के अनुसार आचरण करते हैं[३]।

यजुर्वेद—हिंसा की दृष्टि में शत्रुता होती है तो मित्र दृष्टि में अवश्य ही अहिंसा पाई जाती है। जिस मित्र दृष्टि का उल्लेख यजुर्वेद में किया गया है—

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ —यजु० ३६।१८

मित्र की दृष्टि से मुझे सब प्राणी देखें, मैं मित्र की दृष्टि से सब प्राणियों को देखता हूँ। हम सब (परस्पर) मित्र की दृष्टि से देखें। यजुर्वेद में इस

१. ब्रह्मोदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः। —अथर्व० ४।३५।७
२. अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते। —अथर्व० ६।१२२।३
३. नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि। —ऋ० १०।१३४।७

विध्यात्मक अहिंसा के अतिरिक्त निषेधात्मक हिंसा का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया गया है जिसमें परोपकारी जीवों एवं मानवमात्र की हिंसा का निषेध स्पष्टरूप से किया गया है—

(१) अपने शरीर से प्रजा को मत मारो—"**मा हिंसीस्तन्वा प्रजा**"
—यजु० १२।१३

(२) दो पैरवाले मनुष्यादि प्राणियों की हिंसा मत करो—"**मा हिंसीः पुरुषम्**" यजु० १६।३ '**इदं मा हिंसीः द्विपादं पशुम्**'। —यजु० १३।४७

(३) घोड़े की हिंसा मत करो—**अश्वं**...**मा हिंसीः**...। —यजु० १३।४७
इदं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनम्। —यजु० १३।४८

(४) भेड़ ऊन देती है उसे न मारो—**अविं मा हिंसीः**...। —यजु० १३।४३
इदमुर्णायुं मा हिंसीः। —यजु० १३।५०

५. लोगों के लिए गाय दूध देती है उसकी हिंसा न कर—**घृतं दुहानामदितिं जनाय मा हिंसीः..**। —यजु० १३।४९

इस प्रकार पशु हिंसा का निषेध किया गया है और पशुओं का रक्षण और पालन का विधान यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के प्रथम मन्त्र में किया गया है—

यजमानस्य पशून् पाहि... —यजु० १।१

अथर्ववेद—हिंसा के मूल में दो तत्त्व होते हैं, एक स्वार्थ दूसरा विद्वेष का भाव। इन दोनों से ही हिंसा का आरम्भ होता है। इन दोनों तत्त्वों से अलग रहने का उल्लेख अथर्ववेद में किया गया है। स्वार्थी व्यक्ति ही जीवों की हिंसा करता है। इसलिए कहा गया है—"मा जीवेभ्यः प्रमदः" अथर्व० ८।१।७

जीवों के लिए प्रमाद मत कर।

दूसरा है विद्वेष जिसके लिए अथर्ववेद में अविद्वेषी होने का उल्लेख किया गया है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्योअन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ —अ० ३।३०।१

मैं तुम्हारे (अन्दर) समान हृदय, समान प्रीतियुक्त मन तथा अविद्वेष भाव को स्थापित करता हूँ। तुम एक दूसरे से ऐसे प्यार करो जैसे गाय नवजात बछड़े को प्यार करती है।

(इ) दान—दान देना मनुष्य जीवन का एक आवश्यक कृत्य है। परोपकारमय जीवन की दान ही एकमात्र कसौटी है। जिससे मनुष्य की परोपकार भावना का सम्यक् ज्ञान होता है। अन्न, वस्त्र और पेय पदार्थों के दान से दीनहीन निराश्रित व्यक्तियों के शारीरिक कष्टों का शमन होता है और उन्हें सुख-शान्ति की प्राप्ति होती है। दान से दाता का समाज में यश और सम्मान होता है।

(१) ऋग्वेद—ऋग्वेद में दानी की प्रशंसा करते हुए कहा गया है—

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।

—ऋ० १०।११७।३

जो अन्न ग्रहण करनेवाले को देता है जो अन्न की कामना से भिक्षा करनेवाले को देता है और निर्बल को अन्न देता है, वही (वास्तव) में दानी (भोजा) है। ऋग्वेद १०।१०७।८ में कहा गया है कि उदार दाता कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होते, वे दीनहीन दशा को प्राप्त नहीं होते और दानी पुरुष कभी हानि तथा पीड़ा (व्यथा) को प्राप्त नहीं करते[1]।

(२) यजुर्वेद—यजुर्वेद में दान के विषय में कहा गया है—

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।

हे सोम देव! तेरे सामर्थ्ययुक्त अक्षय ऐश्वर्य के देनेवाले हों।

यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के प्रथम मन्त्र में त्याग भावना का उपदेश देते हुए कहा गया है—त्यागपूर्वक उपभोग करो लालच मत करो—

"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः" —यजु० ४०।१

शतपथ ब्राह्मण में दक्षिणा के लिए स्वर्ण, गौ, वस्त्र और अश्व का विधान किया गया है जिससे यह प्रकट होता है कि दान सभी वस्तुओं का किया जा सकता है।

चतस्रो वै दक्षिणाः हिरण्यं गौर्वासोऽश्वः। —श०ब्रा० ४।३।४।७

(३) अथर्ववेद—

अथर्ववेद में उदारता से दान करने का विधान किया गया है—

"शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर" —अथर्व० ३।२४।५

हे मनुष्य! तू सौ हाथोंवाला होकर धन प्राप्त कर और हजार हाथोंवाला होकर दान कर, क्योंकि दान करने से मनुष्य का धन घटता नहीं, अपितु उनको अधिक धन की प्राप्ति होती है। जैसा अथर्ववेद में कहा गया है—

ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुह्रते दक्षिणां सप्त मातरम्॥

—अथर्व० १।८६।२९

जो लोग धन से सदा अपनी पालना करते हैं और उदारता से दान करते हैं वे सर्वदा सप्तमातृ दक्षिणा (धन) को प्राप्त होते हैं।

(ई) समाज में सामञ्जस्य की भावना—जिस मानव समुदाय में भेद-भावना न हो और समानता के साथ-साथ सामूहिकता हो, वह समाज सामञ्जस्य (HARMONY) भावनावाला कहलाएगा।

(१) ऋग्वेद—हमें समाज में सामञ्जस्य भावना के सभी तत्त्व ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसमें सामाजिक अन्याय और भेद भावना नहीं है, एक ही परिवार का कोई भी सदस्य जीविका साधन अपनाने में स्वतन्त्र है, किसी विशेष कार्य के प्रति घृणा का भाव नहीं है, यही कारण है कि एक ही परिवार के सदस्य भिन्न-भिन्न कार्य करते हुए चित्रित किये गये हैं—

---

१. **न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः।** —ऋ० १०।१०७।८

"कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।" —ऋ० ९।११२।३

मैं मन्त्रद्रष्टा हूँ, पिता वैद्य है और माता चक्की पीसनेवाली है।

समानता—सभी मनुष्य अपने जीवन की उन्नति के लिए या सौभाग्य के लिए समानरूप से वृद्धि को प्राप्त हों, किसी का पक्षपात न हो यही समानता है। ऋग्वेद में एक स्थान पर समानता के विषय में कहा गया है—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।

—ऋ० ५।६०।५

सौभाग्य प्राप्ति के लिए कोई छोटा-बड़ा नहीं है, ये सभी भाई संवृद्धि को प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद में कहा गया है—

"संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।" —ऋ० १०।१९१।२

तुम्हारा संगतिकरण एक सा हो, तुम्हारी वाणी के कथन में समानता हो, तुम्हारे मन के विचार समान हों।

सामूहिक भावना—

ऋग्वेद सामूहिक भावना से ओत-प्रोत है, क्योंकि इस में सामूहिक भावना की ऋचाएँ बहुलता से पाई जाती हैं—

(१) वयं मित्रस्य सुमतौ स्याम —ऋ० ३।५९।३

(२) वयं स्याम पतयो रयीणाम् —ऋ० ४।५०।६

(३) वयं देवेषु सुकृतः स्याम —ऋ० ५।४।८

(४) वयं देवानां सुमतौ स्याम —ऋ० ७।४१।४

(५) माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः —ऋ० १।९०।६

(६) मधु द्यौरस्तु नः पिता —ऋ० १।९०।७

(७) मधुमान्नो वनस्पतिः —ऋ० १।९०।८

यजुर्वेद—

यजुर्वेद के २२वें अध्याय के बाइसवें मन्त्र में सामाजिक सामञ्जस्य की प्रार्थना की गई है—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥२२॥ —यजु० २२।२२

हे ब्रह्मन्! राष्ट्र में सर्वत्र ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण उत्पन्न हों। शूरवीर बाण-विद्या में कुशल, दुष्टों का अत्यन्त वध करनेवाले एवं महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हों, दूध देनेवाली गौ, भारवाही वृषभादि तथा शीघ्रगामी अश्व (सप्तिः) हों, दाम्पत्य धर्म को धारण करनेवाली महिलाएँ हो। उस यजमान के विजयी रथवालों से सम्पन्न, सभा के योग्य (सभ्य) युवा वीर पुत्र उत्पन्न हों। इच्छित अवसरों पर मेघ वर्षा करें। हमारे लिए फलवती औषधियाँ परिपक्व हों तथा हमारे लिए योगक्षेम बना रहे।

अथर्ववेद—

अथर्ववेद में खान-पान की समानता पर बल देते हुए कहा गया है—

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने....। —अथर्व० ३।३०।६

तुम्हारे जल-ग्रहण (प्याऊ) के स्थान समान हों और तुम्हारे सहभोज या भोजन करने का स्थान भी समान हो।

अथर्ववेद के इस मन्त्र में ऊँच-नीच और छुआछूत की भावना को स्थान नहीं दिया गया है। वास्तव में संगठन के लिए खान-पान की समानता आवश्यक है। आज हिन्दू समाज में सब से बड़ी बुराई ऊँच-नीच एवं छुआछूत की भावना है जिसका इसमें निषेध किया गया है, क्योंकि जहाँ अस्पृश्यता होगी वहाँ द्वेष अवश्य होगा जो कि सामाजिक जीवन में सामञ्जस्य लाने में सब से बड़ी बाधा खड़ी करता है। इसलिए अथर्ववेद में अविद्वेष भाव का उपदेश किया गया है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ —अथर्व० ३।३०।१

मैं तुम्हारे (अन्दर) समान हृदय (हृदयता) समान प्रीतियुक्त मन (सुमनस्कता) तथा अविद्वेष भाव को स्थापित करता हूँ। तुम एक दूसरे से ऐसे प्यार करो जैसे नवजात बछड़े से गाय प्यार करती है।

(ई) प्रगतिशील जीवन की भावना—प्रगतिशील जीवन उसको कहते हैं, जिसमें मानव अपनी वर्तमान परिस्थितियों, क्रियाकलापों एवम् उपलब्धियों पर सन्तोष का अनुभव करके अपने लिए और उत्तमोत्तम परिस्थितियों एवं क्रियाकलापों को अर्जित करे। यह सब श्रम साध्य है, अतः श्रम ही प्रगतिशील जीवन का मुख्य आधार है। जिसके लिए सुकर्मा, यशस्वी और उत्साहयुक्त होना आवश्यक है।

ऋग्वेद—

एक सुकर्मी व्यक्ति तो अपने आपको मनुष्यों में आगे बढ़ा हुआ (श्रेष्ठ) मानता ही है, लेकिन इसकी कामना तो यह है कि देवों में भी हम सुकर्मा हों, जिसका उल्लेख ऋ० ५।४।८ में किया गया है—

वयं देवेषु सुकृतः स्याम

सुकर्मी व्यक्ति को ही धन वैभव प्राप्त होता है, जिस को ऋग्वेद में चित्रित किया गया है—

यस्मै त्वं सुकृते जातवेद उ लोकमग्ने कृणवः स्योनम्।
अश्विनं स पुत्रिणं वीरवन्तं गोमन्तं रयिं नशते स्वस्ति॥

—ऋ० ५।४।११

हे जातवेद अग्ने! तुमने जिस सुकर्म करनेवाले के लिए लोक (स्थल) सुखयुक्त किया है, वही बहुत घोड़ों से, पुत्रों से, वीरों और गौओं से युक्त अविनाशी धन (स्वस्ति) को प्राप्त होता है।

यशस्वी—ऋग्वेद में स्वयं यशस्वी होना, यशस्वी पुत्र एवं यश से युक्त

धन-धान्य की कामना की गई है। हम अपने समानवाले मनुष्यों के मध्य में कीर्ति और अन्न के स्वामी हों।[१] एक अन्य स्थान पर ऋग्वेद में उल्लेख किया गया है कि हम मनुष्यों में गौओं के साथ यशस्वी हों।[२] ऋग्वेद में सोमदेव से प्रार्थना की गई है—हे सोम! हमें जनपदों में यशस्वी करो।[३] एक अन्य स्थान पर ऋग्वेद में अग्नि से प्रार्थना की गई है—हे अग्ने! हम प्रज्ञा से युक्त यशवाले हों।[४]

उत्साह—प्रगतिशील जीवन में उत्साह भी एक आवश्यक अंग है। उत्साहित व्यक्ति ही निराशा में आशा की किरण देखता है। ऋग्वेद में उत्साह के सम्बन्ध में एक पूरा सूक्त कहा गया है, जिसमें उत्साहित व्यक्ति कह उठता है—"**हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा। कुवित्सोमस्यापा-मिति।** ऋ० १०।११९।९ **अहमस्मि महामहः**। ऋ० १०।११९।१२। मैंने आज सोमपान किया है, मैं महान् से महान् हूँ। (जी में आता है कि) इस पृथिवी को यहाँ से उठाकर वहाँ रख दूँ। उत्साहित व्यक्ति मृत्यु को सावधान करता हुआ कहता है "हे मृत्यो इस दूसरे मार्ग से गमन करो, जो तेरा अपना है जो देवमार्ग से भिन्न है, मैं तुझे आँखों और कानोंवाली से कहता हूँ कि हमारी सन्तान और वीरों का नाश मत कर।"

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्॥

—ऋ० १०।१८।१

यजुर्वेद—मानव को अपनी उन्नति एवं प्रगतिशील जीवन के लिए स्वयं प्रयत्नशील होना चाहिए वह किसी व्यक्ति से कम नहीं है। इसका उल्लेख यजुर्वेद २३।१५ में किया गया है—

स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व।
महिमा तेऽन्येन न सन्नशे।

हे बलशालिन्, अपने शरीर को स्वयं सामर्थ्यवान् बनाओ, तुम स्वयं यजन करो और स्वयम् उसका सेवन करो। तुम्हारी महिमा किसी अन्य से कम नहीं है या तेरी महिमा किसी से नष्ट नहीं की जा सकती है।

अथर्ववेद—अथर्ववेद में प्रगतिशील जीवन के लिए अनेक स्थानों पर प्राणी को उत्साहित किया है। अथर्ववेद में उन्नत होना और आगे बढ़ना प्रत्येक जीव का लक्ष्य बताया गया है।[५] अथर्ववेद के अनुसार यदि प्रगति करने में एक बार मृत्यु भी बाधा उपस्थित करे तो उसे भी परे हटाकर उन्नति

---

१. वयं स्याम यशसो जनेषु। ऋ० ४।५१।११ इस पर सायणभाष्य—'वयं स्तुवन्तः जनेषु अस्मत्समानेषु मध्ये यशसः कीर्तेः अन्नस्य वा स्वामिनः स्याम।'
२. गोभिः ष्याम यशसो जनेषु। —ऋ० १०।६४।११
३. पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने। —ऋ० ९।६१।२८
४. अस्य क्रत्वा यशस्वतः। ऋ० ८।१०२।८ इस पर सायणभाष्य "अस्य-अग्नेः क्रत्वा प्रज्ञानेन युक्ता यशस्वतः=यशस्वन्तो भवेमेति शेषः।"
५. आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्। —अ० ५।३०।७

करे। जैसा कि संकेत करते हुए कहा है—हे पुरुष इस वर्तमान अवस्था से
नीचे मत गिर, मौत की बेड़ियाँ काटता हुआ आगे बढ़।[1]
प्रगति के लिए बल की आवश्यकता होती है, इसके लिए अथर्ववेद में
कहा है—हे पुरुष, तेरी उन्नति हो अधोगति न हो, तेरे जीवन के लिए बल को
करता हूँ।[2] अथर्ववेद में कहा है—हे मानव, तू बलशाली है, प्रगति के पथ पर
अग्रसर हो और अपने समानवाले से आगे बढ़कर अपने से श्रेष्ठ को प्राप्त
कर—

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥ —अथर्व० २।११।१

हे नर, तू दूषक शक्ति का दूषक है, तू तलवार की तलवार है, वज्र का वज्र है, तू अपने समानवालों से आगे बढ़ जा और तुझ से जो श्रेष्ठ हैं, उनको प्राप्त कर। उत्साह से उत्साहित व्यक्ति कह उठता है—मेरे दायें हाथ में कर्म है और बायें हाथ में विजय रखी हुई है—**कृतम्मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।** —अ० ७।५०।८

(३) वैवाहिक जीवन

१. ऋग्वेद—मानव-जीवन की पूर्णता वैवाहिक जीवन से होती है और वैवाहिक जीवन विवाह से आरम्भ होता है। जिसका वर्णन हमें ऋग्वेद के प्रसिद्ध सूर्यासूक्त में उपलब्ध होता है, जिसमें विवाह के समय सविता अपनी पुत्री सूर्या का हाथ वर को ग्रहण कराता है।[3] वर हाथ ग्रहण कर यह प्रतिज्ञा और कामना करता है—"मैं सौभाग्य (सुहाग) के लिए तेरा हाथ ग्रहण करता हूँ, तू मुझ पति के साथ वृद्धावस्था को प्राप्त कर। भग, अर्यमा, सविता पुरन्धि देवों द्वारा तू मुझे गार्हपत्यकर्म के लिए प्रदान की गई है।"[4]

विवाह सम्पन्न हो जाने पर सभी उपस्थित जन वर-वधू को आशीर्वाद देते हैं—तुम दोनों यहीं रहो, कभी वियुक्त न हो, पुत्रों एवं प्रपौत्रों के साथ क्रीडा करते हुए अपने घर में प्रसन्न रहते हुए पूर्ण आयु प्राप्त करो।[5]

कर्मकाण्डीय ग्रन्थ—ब्राह्मण ग्रन्थों में पत्नी को आधा अङ्ग माना गया है।[6] और जब तक पति, पत्नी का लाभ नहीं कर लेता तब तक वह पूर्ण नहीं होता[7] तथा उसको यज्ञ करने का अधिकार भी प्राप्त नहीं होता क्योंकि जो

---

१. उत् क्रामातः पुरुषमाव पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः। —अथर्व० ८।१।५
२. उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि। —अथर्व० ८।१।६
३. सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविता ददात्। —ऋ० १०।८५।९
४. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥ —ऋ० १०।८५।३६
५. इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥ —ऋ० १०।८५।४२
६. अथो अर्द्धो वा एष आत्मनः यत् पत्नी। —तै०ब्रा० २।९।४।७
७. —शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।१०।

अपत्नीक है वह 'अयज्ञीय' कहलाता है।[१] इससे पत्नी की महत्ता प्रकट होती है और मनुष्य पत्नी के प्राप्त होने पर ही पूर्णता का लाभ प्राप्त करता है।

अथर्ववेद—अथर्ववेद में वैवाहिक जीवन का विशद वर्णन किया गया है। सम्पूर्ण १४वें काण्ड को इसमें उपयोग करने के साथ-साथ अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर इस की चर्चा की गयी है। अथर्ववेद में जहाँ पत्नी की यह हार्दिक अभिलाषा व्यक्त की गई है कि तुम केवल मेरे हो अन्य स्त्रियों की चर्चा भी न करो।[२] वहां पति की इस अभिलाषा का भी उल्लेख किया गया है कि कोमलाङ्गी क्रोधरहित प्रियवादिनी अनुकूल आचरण करनेवाली मेरी ही हो।[३]

पति-पत्नी परस्पर कामना करते हैं कि हम दोनों की दृष्टि में प्रेम प्रकाशित होता रहे दोनों के चेहरे खिले हुए हों, (पति-पत्नी एक-दूसरे से कहते हैं) मुझ को हृदय में स्थान दो, जिससे हम दोनों का मन भी सदा साथ रहे।[४]

पति अपने सौहार्द सम्बन्ध को स्थापित करता हुआ कहता है—मैं प्राण हूँ, तू शक्ति है, साम मैं हूँ, ऋचा तू है, द्युलोक मैं हूँ और पृथिवी तू है।[५] हे पुत्रवति! मुझ पति के साथ सौ शरद् ऋतुओं को प्राप्त हो।[६]

कर्मकाण्डीय ग्रन्थ—ब्राह्मण ग्रन्थों में पत्नी को आधा अंग माना गया है[७]। और जब तक पति, पत्नी का लाभ नहीं कर लेता तब तक वह पूर्ण नहीं होता[८] तथा उसको यज्ञ करने का अधिकार भी प्राप्त नहीं होता, क्योंकि जो अपत्नीक है वह 'अयज्ञीय' कहलाता है[९]। इससे पत्नी की महत्ता प्रकट होती है और मनुष्य पत्नी के प्राप्त होने पर ही पूर्णता का लाभ प्राप्त करता है।

अथर्ववेद—अथर्ववेद में वैवाहिक जीवन का विशद वर्णन किया गया है। सम्पूर्ण १४वें काण्ड को इसमें उपयोग करने के साथ-साथ अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर इसकी चर्चा की गई है। अथर्ववेद में जहाँ पत्नी की यह हार्दिक अभिलाषा व्यक्त की गई है कि तुम केवल मेरे हो अन्य स्त्रियों की चर्चा भी न करो[१०]। वहाँ पति की इस अभिलाषा का भी उल्लेख किया गया है कि कोमलांगी क्रोधरहित प्रियवादिनी अनुकूल आचरण करनेवाली मेरी ही हो[११]।

पति-पत्नी परस्पर कामना करते हैं कि हम दोनों की दृष्टि में प्रेम

---

१. अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः। —तै०ब्रा० २।२२।६
२. ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन। —अथर्व० ७।३८।४
३. मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता। —अथर्व० ३।२५।४
४. अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम्।
   अन्तःकृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति॥ —अथर्व० ७।३६।१
५. अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्। —अथर्व० १४।२।७१
६. मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम्। —अथर्व० १४।१।५२
७. अथो अर्द्धो वा एव आत्मनः यत् पत्नी। —तै०ब्रा० २।९।४।७
८. शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।१०।
९. अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः। —तै०ब्रा० २।२२।६
१०. ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन। —अथर्व० ७।३८।४
११. मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता। —अथर्व० ३।२५।४

प्रकाशित होता रहे। दोनों के चेहरे खिले हुए हों, (पति-पत्नी एक दूसरे से कहते हैं।) मुझ को हृदय में स्थान दो, जिस से हम दोनों का मन भी सदा साथ रहे[१]।

पति अपने सौहार्द सम्बन्ध को स्थापित करता हुआ कहता है—मैं प्राण हूँ, तू शक्ति है, साम मैं हूँ, ऋचा तू है, द्युलोक मैं हूँ और पृथिवी तू है[२]। हे पुत्रवति! मुझ पति के साथ सौ शरद् ऋतुओं को प्राप्त हो[३]।

मेरे साथ तुझे सन्तान और धन से कोई व्यथा न हो[४]। पति-पत्नी के लिए इन्द्र से कामना की गई है—हे इन्द्र! चक्रवाक पक्षी के जोड़े के समान इन दोनों को दाम्पत्य जीवन में प्रेरित कर, ये उत्तम घरवाले होकर सन्तान के साथ सम्पूर्ण आयु का उपभोग करें[५]।

(१) ऋग्वेद में पिता-माता और सन्तान का पारस्परिक व्यवहार—ऋग्वेद में पिता-माता और सन्तान का पारस्परिक व्यवहार अत्यन्त आह्लादकारी, मनमोहक एवं माधुर्यमय प्रतीत होता है, सन्तान माता-पिता के पास अपने बाल्यकाल से ही समीप रहती है। इसलिए ऋग्वेद माता-पिता द्वारा पुत्र को गोद लेने का कन्धे पर रखने का एवं वस्त्रों द्वारा आच्छादित करके ग्रहण करने का उल्लेख पाया जाता है। ऋग्वेद ९।१०१।१४ में वस्त्र से आच्छादित सोम की उपमा माता-पिता के भुजाओं में आच्छादित पुत्र से दी गई है[६]।

पिता-पुत्र के मध्य कोई भय या आतंक का व्यवधान नहीं है। पुत्र जब चाहे (बेरोकटोक) अपने प्रिय पिता के पास जा सकता है और अपनी माँग रख सकता है, पिता भी उसको पूर्ण करने की चेष्टा करता है। ऋग्वेद १।१।९ में कहा है—हे अग्नि! तुम हमारे लिए ऐसे सुगम बनो जैसे पिता पुत्र के लिए सुगम होता है[७]।

ऋग्वेद में माता-पिता के द्वारा बच्चे को गोद में बिठाकर भोजन खिलाने का अनेक प्रकार से वर्णन पाया जाता है, इन्द्र को सम्बोधित करके कहा गया है—हे इन्द्र! पृथिवी-द्यावा तुम्हारे लिए सोम ऐसे ही धारण करते हैं जैसे माता-पिता बच्चे को सुरक्षित धारण करते हैं[८]।

पुत्र बाल्यकाल में माता-पिता से लालित-पालित होता है। इसलिए पुत्र भी वृद्ध माता-पिता की उत्तम भोजन द्वारा सेवा व्यक्त करता है। इसी भावना

---

१. अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम्।
अन्तःकृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति॥ —अथर्व० ७।३६।१
२. अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्। —अथर्व० १४।२।७१
३. मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम्। —अथर्व० १४।१।५२
४. मा व्यथिष्ठा मया सह प्रजया च धनेन च। —अथर्व० १४।१।४८
५. इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम्॥ —अथर्व० १४।२।६४
६. आजामिरत्के अव्यत भुजे न पुत्र ओण्योः। —ऋ० ९।१०१।१४
७. स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। —ऋ० १।१।९
८. यं सोममिन्द्र पृथिवी द्यावा गर्भं न माता बिभृतस्त्वाया। —ऋ० ३।४६।५

का प्रकाशन ऋग्वेद १।१३०।१ में हुआ है। जिसमें इन्द्र की स्तुति करते हुए कहा गया है—सोम के साथ श्रेष्ठ अन्नवाले हम बली होने के लिए तुम्हें पुकारते हैं। जैसे पुत्र पिता को पुकारता है[१]।

यजुर्वेद—यजुर्वेद में भी माता-पिता और पुत्र का उल्लेख हुआ है—जो मेरा पुत्र आनन्दयुक्त होकर माता का दूध पीता हुआ अपनी माता को तंग करता है। हे अग्निदेव! इससे मैं पितृ ऋण से मुक्त होता हूँ[२]।

अथर्ववेद—अथर्ववेद में पुत्र के लिए अनुव्रत और समान मनवाला होने का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है—पुत्र पिता का अनुव्रती और माता के साथ समान मनवाला हो[३]। पुत्र पिता का अनुव्रती हो, लेकिन भाई-बहन आपस में समान व्रती होने का वर्णन भी अथर्ववेद में है—भाई-भाई के साथ और बहिन-बहिन के साथ द्वेष न करें, अपितु एक विचार और समान व्रतवाले होकर कल्याणकारी वाणी का प्रयोग करें[४]।

अथर्ववेद में जहाँ कल्याणकारी एवं मधुरवाणी को प्रयोग करने का आदेश रूप में उल्लेख किया गया है। वहाँ ऐसे भी अनेक स्थान हैं जहाँ मधुर जीवन और मधुरता से युक्त वाणी की कामना की गई है—मेरी जिह्वा के अग्रभाग में मधुरता हो मेरी जिह्वा के मूल में मिठास हो[५]। मैं शहद से भी अधिक मीठा होऊँ, महुआ से भी अधिक मीठा होऊँ[६]। मेरा जाना मधुर हो, मेरा आना मधुर हो, वाणी से मीठा बोलता हूँ जिससे मैं मधुरता की मूर्ति बन जाऊँ[७]।

अथर्ववेद में भी ऋग्वेद की भाँति सन्तान और पिता-माता का माधुर्यमय व्यवहार का उल्लेख हुआ है, पिता अपने पुत्र को अत्यन्त प्रेम करता है, क्योंकि पुत्र ही आगे चलकर उसके व्रत और वंश का उन्नयन करता है। अथर्ववेद १२।३।१२ में पृथिवी से प्रार्थना की गई है—हे पृथिवि! जिस प्रकार पिता पुत्र को प्यार करता है उसी प्रकार हम सबों को प्यार करें और इस भूमि पर कल्याणकारी वायु बहें[८]। पिता अपने लिए एवम् अपने पुत्र के लिए कल्याण की कामना करता हुआ कहता है, इस निश्चल विराट् पृथिवी के लिए नमस्कार हो, यह पुत्रों और मेरे लिए सुखदायी हो[९]।

---

१. हवामहे त्वा वयं प्रयस्वन्तः सुते सचा।
पुत्रासो न पितरं वाजसातये मंहिष्ठं वाजसातये॥ —ऋ० १।१३०।१

२. यदा पिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन्। एतत्तदग्ने अनृणो भवामि···। —यजु० १९।११

३. अनुव्रतः पितु पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः। —अथर्व० ३।३०।२

४. मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ —अथर्व० ३।३०।३

५. जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्। —अथर्व० १।३४।२

६. मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः। —अथर्व० १।३४।४

७. मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमत् भूयासं मधुसन्दृशः॥ —अथर्व० १।३४।३

८. पितेव पुत्रानभि सं स्वजस्व नः शिवा नो वाता इह वान्तु भूमौ। —अथर्व० १२।३।१२

९. ध्रुवेयं विराणनमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु। —अथर्व० १२।३।११

माता भी अपने पुत्र के लिए हर प्रकार की पूर्ति करने का प्रयत्न करती है। अथर्ववेद ५।२६।५ में मरुतों के विषय में कहा गया है, जैसा माता पुत्र को पूर्ण करती है वैसे ही इस यज्ञ में नियुक्त मरुत् छन्दों को पूर्ण करें[१]। माता एवं पुत्र दोनों परस्पर कल्याण करनेवाले हों, यह अथर्ववेद ३।२३।५ में कहा गया है। हे नारि! तुम पुत्र को प्राप्त करो जो (पुत्र) तुम्हारे लिए सुखदायी हो और तुम भी उसके लिए कल्याणकारी या सुख देनेवाली हो[२]। पुत्र सदा ही अपने माता-पिता के लिए स्वस्ति की कामना करता है—**''स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु''** अथर्व० १।३१।४

(३) सामाजिक कुरीतियाँ—सभी सभ्य समाज में आचार की प्रशंसा और अनाचार की निन्दा की गई है। यह बात आर्यों की संस्कृति और सभ्यता की उच्चता के सूचक ऋग्वेद में भी पाई जाती है। क्योंकि इसमें जुआ, चोरी, व्यभिचार आदि की निन्दा की गई है। कालान्तर में यही प्रवृत्तियाँ रीति-रिवाजों का रूप धारण कर लेती हैं। कुप्रवृत्तियों से उत्पन्न होनेवाली कुरीतियाँ और सुप्रवृत्तियों से होनेवाली सुरीतियाँ कहलाती हैं। अथवा अनैतिक आचार से चलनेवाली कुरीतियाँ और नैतिक आचार से पनपनेवाली सुरीतियाँ कहलाती हैं। हम जुआ, चोरी, व्यभिचार और ऋण लेकर न देने को कुरीतियाँ में ग्रहण कर सकते हैं। इनके विषय में उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है।

(क) जूआ—

(१) ऋग्वेद में जुआरी के परिवार और उसकी दुर्दशा का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। हारे हुए जुआरी के परिवार के माता-पिता, भाई उसके विषय में कहते हैं—हम इस को नहीं जानते (तुम) इसको बाँध कर ले जाओ[३]।

ऋग्वेद के इस सूक्त में जुआरियों और उनके परिवारों की नाना प्रकार की दुर्दशाओं का उल्लेख करने के बाद अन्त में कहा गया है कि—जुआ मत खेलो खेती करो—

''अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व'' —ऋ० १०।३४।१३

मैत्रायणी संहिता—मैत्रायणी संहिता में जूआ विपत्ति का स्थान गिना गया है[४]।

अथर्ववेद—अथर्ववेद में भी जुआरियों के मध्य होनेवाले व्यापारों और संघर्षों का उल्लेख हुआ है। एक स्थान पर जुआरी अपने प्रतिद्वन्द्वी को नष्ट करने की प्रार्थना अप्सराओं से करता है—(वे अप्सराएँ) मेरे हाथों को घृत से युक्त करें और मेरे जुआरी शत्रु का नाश करें[५]। अथर्ववेद में जुआरी कामना करता है—जिस प्रकार विद्युत् वृक्ष को नष्ट करती है उसी प्रकार मैं आज

१. छन्दांसि यज्ञे मरुतः स्वाहा मातेव पुत्रं पिपृतेह युक्ताः। —अथर्व० ५।२६।५
२. विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव। —अथर्व० ३।२३।५
३. पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्। —ऋ० १०।३४।४
४. मैत्रायणी संहिता ३।६।३
५. ता मे हस्तौ संसृजन्तु घृतेन सपत्नम् मे कितवं रन्धयन्तु। —अथर्व० ७।१०९।३

पासों सहित जुआरियों को नष्ट करूँ[१]। अथर्ववेद में एक अन्य स्थान पर कहा है—जो हमारे विपरीत जुआ खेलता है उसको ऐसे ही नष्ट करो जैसे विद्युत् वृक्ष को नष्ट करती है[२]। इस प्रकार जुआरियों में संघर्ष परिलक्षित होता है।

जुआ खेलना पाप—जुआ खेलना शिष्ट समाज में पाप या अपराध माना जाता है। इसका उल्लेख अथर्ववेद में दिया गया है—जो व्यक्ति जुआ खेलता है वह अपने हाथों से पाप करता है—

यद् हस्ताभ्यां चकृम किल्विषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः।

—अथर्व० ६।११८।१

चोरी

(१) ऋग्वेद—ऋग्वेद में चौर्य कार्य के प्रति घृणा व्यक्त की गई है और चोरी करनेवाले व्यक्ति को दण्डित करने का उल्लेख हुआ है—"वस्त्रहरण करनेवाले चोर को देखकर लोग चीत्कार करते हैं।[३]" ऋग्वेद में चोर को बाँधने[४] और दण्डित करने का उल्लेख है[५]।

(२) यजुर्वेद—यजुर्वेद में चोरों के रहने के स्थान के विषय में कहा गया है—जन समूह में रहनेवाले 'मलिम्लु' स्तेन नामक गुप्त चोर और निर्जन प्रदेश में गमन करनेवाले 'तस्कर' हैं। ये सब लोभवश मनुष्यों की हिंसा करनेवाले हैं उन सब को हे अग्ने! तुम्हारी दाढ़ों में लगाता हूँ[६]। चोरों के चोरी करने के विषय में तैत्तिरीय संहिता की टीका में सायणाचार्य ने लिखा है—'स्तेन' नामक चोर गुप्त रूप से चोरी करनेवाले, 'तस्कर' प्रकट रूप से चोरी करनेवाले और मलिम्लु जो अत्यन्त प्रकट रूप से ग्रामों में डाका डालनेवाले होते हैं[७]। चोरों को दण्डित करने के लिए अग्नि के मुख, दाढ़, जबड़ा और ठोड़ी की कल्पना की गई है। सर्वप्रथम स्तेन और तस्कर को अग्नि के मुख में डालने का उल्लेख किया गया है[८]। उसके आगे कहा गया है ऐश्वर्य सम्पन्न अग्नि तुम दाढ़ों में मलिम्लुओं और जबड़े से तस्कर को और ठोड़ी से 'स्तेन' नामक चोरों को पीड़ित करो, जो प्रजा का धन हरण करते हैं[९]। यजुर्वेद में

---

१. यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति।
एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति॥ —अथर्व० ७।५०।१

२. वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान् प्रतिदीव्यति। —अथर्व० ७।१०९।४

३. उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु। —ऋ० ४।३८।५

४. "स्तेनं बद्धमिवादिते" —ऋ० ८।६७।१४

५. नेत्त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति सूरो अर्चिषा सुजाते अश्वसूनृते॥ —ऋ० ५।७९।९

६. ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने।
ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः॥ —यजु० ११।७९

७. "स्तेना गुप्तचौराः, तस्कराः प्रकटचौराः, अतिप्रकटा निर्भयो ग्रामेषु वत्दिकरां मलिम्लुवः।" —तै० सं० ४।१।१०।१

८. ये स्तेना ये च तस्करास्ताँस्ते अग्नेऽपि दधाम्यास्ये। —यजु० ११।७७

९. दंष्ट्राभ्यां मलिम्लूञ्जम्भ्यैस्तस्कराँ उत।
हनुभ्यां स्तेनान् भगवस्ताँस्त्वं खाद सुखादितान्॥ —यजु० ११।७८

चोरों के प्रति घृणा व्यक्त करते हुए कहा गया है—हे निऋतिदेवि! (पाप देवता अलक्ष्मी) जो पुरुष यज्ञादि को नहीं करता उसके तथा स्तेन और तस्कर का अनुगम कर, हम से भिन्न किसी और की इच्छा कर, मेरा तुझे (दूर से) नमस्कार हो[1]।

अथर्ववेद—अथर्ववेद में चोरों के विषय में कहा गया है कि वे रात्रि में वस्त्र, गौ, बकरा और अश्व की चोरी करते हैं। इसलिए रात्रि में उन्हें दूर करने की प्रार्थना की गई है—हे रात्रि! वस्त्रों के चोर को दूर करो, गौ तथा बकरे के चोर को दूर करो, जो घोड़े को गर्दन से बाँधकर ले जाते हैं उस चोर को दूर करो[2]। चोरों को दूर करने के लिए उस समय तैयार खड़े रहते हैं। जैसा अथर्ववेद ४।३।५ में कहा गया है, जो आज चोर लुटेरा आयेगा तो वह कुट-पिटकर जायेगा[3]। चोरों का पीछा करने का उल्लेख भी अथर्ववेद ४।३६।७ में किया गया है। पिशाचों के साथ, चोर-लुटेरों के साथ और डाकुओं के साथ मैं कभी भी समझौता नहीं करता, मैं जिस ग्राम में पहुँचता हूँ पिशाच वहीं से भाग खड़े होते हैं[4]।

व्यभिचार

ऋग्वेद में व्यभिचार को अनाचार में गिना गया है और व्यभिचारी व्यक्ति की निन्दा की गई है। भ्रातृहीन और पति से द्वेष करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्रियों के समान इधर-उधर घूमनेवाले असत्य तथा अनृत आचरण करनेवाले पापी (व्यभिचारी) जनों से इस गहन पद (नरक स्थान) को उत्पन्न किया है[5]।

यजुर्वेद—यजुर्वेद में 'जार' शब्द का अर्थ व्यभिचारी पुरुष के रूप में प्रयुक्त हुआ है जैसा कि यजुर्वेद में कहा गया है—अनुचित सम्बन्ध के लिए 'जार' को और घर के लिए उपपति को जानो[6]। यजुर्वेद के २३।३० में कहा है—शूद्रा (सेविका) यदि स्वामी से 'जार' कर्म कराती है तो वह पोष (वंश वृद्धि) को नहीं चाहती[7]। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।४।१ में भी 'जार' व्यभिचारी पुरुष के रूप में ग्रहण किया गया है और बृहदारण्यकोपनिषद् ६।४।११ में भी जार को व्यभिचारी पुरुष मानते हुए दण्डित करने का उल्लेख हुआ है। धर्मशास्त्रों में भी व्यभिचारी स्त्री-पुरुषों की निन्दा एवं दण्ड का विधान

---

१. असुन्वन्तमयजमानमिच्छ स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्य।
अन्यमस्मदिच्छ सां त इत्या नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु॥ —यजु० १२।६२
२. अथर्ववेद १९।५०।५
३. यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति। —अथर्व० ४।३।५
४. न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे॥ —अथर्व० ४।३६।७
५. ऋग्वेद ४।५।५
६. सन्धये जारं गेहायोपपतिम्। —यजु० ३०।९
७. शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति। —यजु० २३।३०

किया गया है[१]।

ऋण

ऋणी व्यक्ति की समाज में निन्दा होती है, ऋणदाता उसके घर पर दिये हुए ऋण को प्राप्त करने आता है[२] और ऋण का धन न मिलने पर वह ऋणी को अपमानजनक शब्द भी कहता है।

ऋग्वेद में ऋण के विषय में कहा गया है कि जुआरी ऋणी होकर रात्रि में अन्य के घर चोरी करने जाता है। ऋग्वेद में एक अन्य स्थान पर कहा गया है—हे वरुण राजन्! मेरे द्वारा किए ऋणों को दूर करो, मैं दूसरे की कमाई का भोग न करूँ, ऋण के कारण ऋणी के लिए मानो अनेक उषाओं का उदय ही न हुआ हो। वरुण देव! हम उन उषाओं में भी जीवित रहें ऐसी व्यवस्था करें[३]।

अथर्ववेद में ऋण के विषय में कहा गया है—हम इस लोक में वर्त्तमान रहते हुए इस ऋण को चुका दिया करें। हम अपने जीते जी, जीते हुए पुरुषों के ऋण को सर्वथा साफ कर दिया करें। जो धान्य आदि ऋण को लेकर खाऊँ, हे अग्नि! उसको लौटाकर के ही सब प्रकार से अनृणी होऊँ[४]। क्योंकि जो ऋण नहीं चुकाता उसके पास ऋणदाता (आकर) उसको रस्सी से बाँधकर यम के दरबार (न्यायालय) में ले आता है[५]।

---

१. मनु० ८।३७१-७२, आप० ध० सू० १।९।२५१-५२
२. ऋणावा बिभ्यद् धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति। —ऋ० १०।३४।१०
३. पर ऋणा सावीरध मत्कृतानि माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्।
अव्युष्टा इन्नु भूयसीरुषास आ नो जीवान् वरुण तासु शाधि॥ —ऋ० २।२८।९
४. इहैव सन्तः प्रतिदद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो नि हराम एनत्।
अपमित्य धान्यं यज्जघासाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि॥ —अथर्व० ६।११७।२
५. ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत्॥ —अथर्व० ६।११८।२

अध्याय-२

बौद्ध आचार-तत्त्वों की—
वैदिक आचार-तत्त्वों के साथ तुलना

अनेक पाश्चात्य मनीषियों का विचार है कि ब्राह्मणों के द्वारा यज्ञ में पशु-बलि के विधान की प्रतिक्रिया स्वरूप ही 'बौद्ध धर्म' का उद्‌भव हुआ है। इसलिए वैदिक साहित्य के काल-निर्णय में बुद्ध-जन्म को एक निश्चित रेखा के रूप में स्वीकार किया गया है[१]। अतः यह परमावश्यक जान पड़ा कि बौद्ध आचार के मुख्य तत्त्वों के साथ वैदिक साहित्य में वर्णित आचार तत्त्वों से तुलना की जाए और उनकी समानता को स्पष्ट किया जाए।

(अ) दो मुख्य आचार तत्त्वों का उपदेश—

बौद्ध धर्म में दीक्षित होनेवाले मनुष्य को दो मुख्य आचार तत्त्वों का उपदेश दिया जाता है—(क) चार आर्यसत्य तथा (ख) आर्य अष्टांग मार्ग।

(क) चार आर्य सत्य—चार आर्य सत्य के विषय में धम्मपद 'बुद्धग्गो' नामक वर्ग में कहा है—"जो बुद्ध धर्मसंघ की शरण ग्रहण करता है, जो चारों आर्य सत्यों को भली प्रकार प्रज्ञा से देखता है, दुःख, दुःख की उत्पत्ति, दुःख का विनाश, दुःख का उपशमन करनेवाला आर्य अष्टांग मार्ग—उसका इसकी शरण ग्रहण करना कल्याणकर है।" यही शरण उत्तम है, इस शरण को ग्रहण करके (मनुष्य) सब दुःखों से मुक्त होता है[२]। अर्थात् संसार में दुःख है, दुःख का मूल कारण तृष्णा है, तृष्णा के नाश से ही दुःख का उपशमन हो सकता है, दुःख के नाश के लिए अष्टांग मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

(ख) अष्टांग मार्ग[३]—

(१) सम्मादिट्ठि (सम्यक् दृष्टि) ठीक दृष्टि व ज्ञान।
(२) सम्मा संकल्प (सम्यक् संकल्प) शुद्ध संकल्प।
(३) सम्मा वाचा (सम्यक् वाणी) शुद्ध वाणी।
(४) सम्मा कम्मन्त (सम्यक् कर्म) शुभ कर्म।
(५) सम्मा आजीविका (सम्यक् आजीविका) शुद्ध जीविका वृत्ति।
(६) सम्मा व्यायाम (सम्यक् व्यायाम) शुद्ध उद्योग व परिश्रम।
(७) सम्मासति (सम्यक् स्मृति) शुद्ध विचार।
(८) सम्मा समाधि (सम्यक् समाधि) शुद्ध ध्यान व मन की शान्ति)।

बुद्ध भगवान् ने इन सत्यों को आर्य सत्य और इस मार्ग को आर्य

---

१. वैदिक धर्म एवं दर्शन पृ० ३६।

२. ध०प० १४,१२,१३,१४, इन श्लोकों का अनुवाद भदन्त आनन्द कौसल्यायन के अनुसार किया गया है।

३. धम्म चक्क प्पवत्तन—सुत्त, संयुक्त निकाय, सुत्त पिटक। (सम्यक् सम्बुद्ध पृ० ४१-४२ पर उद्धृत)

अष्टांग-मार्ग का नाम दिया।

बुद्ध ने 'आर्य' शब्द का निःसंकोच होकर प्रयोग किया है। विद्वान् (पण्डित) के लिए भी आर्यों द्वारा बताए हुए धर्म में रमण का उपदेश देते हुए 'धम्मद पण्डित बग्गो' ६।४ में कहा है कि धर्म (रस) का पान करनेवाला प्रसन्नचित्त हो सुखपूर्वक सोता है। पण्डित सदा आर्यों के बताए धर्म में रमण करता है। धम्मपद में एक अन्य स्थान पर ऋषियों द्वारा प्रवर्तित मार्ग के अनुसरण का भी उल्लेख हुआ है—'मन, वाणी और शरीर से कोई पाप न करे और सदा ऋषियों द्वारा बताए हुए मार्ग का अनुसरण करे।' 'आराधयेन्मार्गमृषिप्रवेदितम्' आर्यों द्वारा कथित धर्म तथा ऋषियों द्वारा बताए मार्ग के अनुसरण के उपदेश के कथन से यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि बौद्ध आचार तत्त्वों का स्रोत भी वैदिक साहित्य में ही निहित है।

चार आर्य सत्यों में से तीन का मूल योगदर्शन में परिलक्षित होता है, जैसा कि चार आर्य सत्यों में पहला 'दुःख' अर्थात् संसार में दुःख है। इसका उल्लेख योगदर्शन २।१५ में हुआ है—'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति-विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।' परिणाम, ताप, संस्कारों द्वारा और सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों के (फल) प्रवृत्तियों के विरोध से विवेकी के लिए सब दुःख ही है।

दूसरे आर्य सत्य में कहा है कि—'दुःख की उत्पत्ति का मूल कारण तृष्णा है, और तीसरे में कहा है कि दुःख का विनाश अर्थात् तृष्णा के विनाश से दुःख का विनाश होता है।' इस विषय में बुद्धवग्गो ९ में कहा गया है—

अपि दिव्वेसु कामेसु, रतिं सो नाधिगच्छति।
तराणक्खय रतो होति, संमासं बुद्ध सावको॥ ९॥

सभी काम-भोग अल्प-स्वाद वाले हैं, दुःखद हैं, यह जानकर पण्डित दिव्य काम भोगों में भी रति नहीं करता और बुद्ध का शिष्य तृष्णा के नाश में लगा रहता है। इन्हीं भावों से परिपूर्ण एक श्लोक योगदर्शन २।४२, सूत्र[1] पर व्यास भाष्य में उद्धृत किया गया है—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

संसार में जो भी काम सुख (विषयजन्य सुख) है और जो दिव्य सुख है यह सब तृष्णा क्षय (वासनाक्षय रूप) सुख के सोलहवीं कला के समान भी नहीं है। इन तीन आर्य सत्यों की समानता योगदर्शन में पाई जाती है तथा चतुर्थ आर्य सत्य के विषय में कहा गया है कि दुःख का उपशमन करनेवाला आर्य अष्टांग मार्ग है। उसका अनुसरण करना चाहिए। इस आर्य अष्टांग का आधार वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है जिसको तुलना के साथ नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) सम्मा दिट्ठि (सम्यग् दृष्टि) ठीक दृष्टि व ज्ञान—

१. सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः। योग० २।४२

आर्य अष्टांग मार्ग का प्रथम उपदेश सम्यग् दृष्टि है। बाह्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए नेत्रेन्द्रिय प्रमुख है, नेत्र शीघ्रातिशीघ्र वस्तु को देखकर उसका ज्ञान करा देता है, इसलिए नेत्रों से ठीक-ठीक देखना तथा उसका ज्ञान प्राप्त करना मुख्य कार्य है। लेकिन केवल देखने मात्र से ही पूर्ण भावना का उद्रेक नहीं होता अपितु उसके विषय में 'श्रवण' भी आवश्यक है, अतः कल्याणकारी देखना और सुनना चाहिए। ऋग्वेद में भद्र-भावना से युक्त देखने और सुनने की प्रार्थना देवों से की गई है—

'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः'।

—ऋ० १।८९।८

मानव देखकर और सुनकर ही भद्र या अभद्र भावना बना सकता है, जब भद्र देखा और सुना जाता है तब भद्र भावना बनती है। इसलिए मन्त्र में 'भद्रं' शब्द और अष्टांग मार्ग में (सम्मा) शब्द पड़ा हुआ है।

सम्यग् दर्शन का अर्थ यथार्थ ज्ञान भी होता है जिसके विषय में योगदर्शन २।१५ सूत्र के व्यासभाष्य में कहा गया है—**'एवमनादिदुःखस्रोतसा व्युह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणसम्यग्दर्शनं शरणं प्रतिपद्यते।'** इस अनादि दुःख के स्रोत से अपने को और प्राणिमात्र को घिरा हुआ देखकर योगी सारे दुःखों के क्षय के मूल (कारण) सम्यग् दर्शन (यथार्थ ज्ञान) की शरण में जाता है। मानव जीवन में अनादि दुःख मृत्यु का है उसको पार करने के लिए परम पुरुष का यथार्थ ज्ञान परमावश्यक है जिसके विषय में स्पष्ट उल्लेख यजुर्वेद में किया गया है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ —३१।१८

(२) सम्मा संकल्प (शिवसंकल्प)—

मन से व्यक्ति जैसा सुनता और देखता है वैसा ही उस विषय में संकल्प-विकल्प करता है, क्योंकि मन संकल्प-विकल्पवाला माना गया है।

यजुर्वेद २।२४ में हम मन से शिव संकल्पवाले हों, इसका उल्लेख किया गया है। **'सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन'** यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय में मन के विषय में विशेष रूप से उल्लेख करते हुए ६ मन्त्रों के अन्त में कहा गया है—

'तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु'। —यजुः० ३४।१-६

'वह मेरा मन शिवसंकल्पवाला हो'।

(३) सम्मा वाचा—शुद्ध विचार या शुद्ध वाणी का व्यवहार—

देखने, सुनने और विचार करने के बाद विचार व्यक्त करने का कार्य वाणी का है, वाणी से व्यक्ति के विचारों का प्रकाशन होता है। इसलिए वाणी मधुर हो इसका विशेष रूप से अथर्ववेद में उल्लेख हुआ है—**'अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत'** अथर्व० ३।३०।५ एक दूसरे से मनोहर वचनों का प्रयोग करते हुए मिलो। अथर्ववेद ५।७।४ में सभी कार्यों में प्रिय वाणी के व्यवहार के विषय में कहा गया है—**'वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं, देवानां**

देवहूतिषु'।

(४) सम्मा कममन्त (सम्यग् कर्म) शुभ कर्म—

शुभ कर्म करने की प्रेरणा का उल्लेख भी ऋग्वेद में हुआ है। हमारे मध्य में उत्तम क्रिया, कुशल ज्ञानी, कल्याणकारी देव पुरुष आयें[१], यजुर्वेद में अग्नि देव से सुचरित की प्रेरणा देने की प्रार्थना की है—

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्व मा सुचरिते भज।—यजुः० ४।२८

हे अग्निदेव! मुझे दुश्चरित से रोको और सुचरित के लिए प्रेरित करो। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के दूसरे मन्त्र में कहा है—इस लोक के कर्म करते हुए शतवर्ष जीने की इच्छा करें[२]। ऋग्वेद में मनुष्यों में ही नहीं अपितु देवों में भी शुभ कर्म करनेवाले होने की कामना की गई है—

वयं देवेषु सुकृतः स्याम। —ऋ० ५।४।८

(५) सम्मा जीविका—शुद्ध आजीविका

शुद्ध आजीविका का वेदों में अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद ९।११२।३ में एक परिवार भिन्न-भिन्न कार्यों से अपनी आजीविका के साधन अपना रहा है जिसमें उल्लेख हुआ है कि मैं मन्त्रद्रष्टा हूँ, पिता वैद्य हैं और माता चक्की पीसनेवाली है[३]। धन प्राप्ति के लिए अग्नि देव से सुपथ से ले चलने की प्रार्थना की गई है[४]। इन्द्र से शुद्ध ऐश्वर्य की प्रार्थना की गई है **'शुद्धो रयिं निधारय'** ऋ० ८।९५।८। इस प्रकार शुद्ध आजीविका का उल्लेख हमें वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है।

(६) सम्मा व्यायाम—शुद्ध व्यायाम अथवा परिश्रम

ऋग्वेद में श्रम के विषय में कहा गया है—इस संसार में एक ऐसे भी पराक्रमी मनुष्य होते हैं जो प्रत्येक समय रथ के जुए में जुते रहते हैं और श्रम की खोज में भूमि के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चक्कर काट आते हैं। जब यम अपने शुभ आसन पर बैठता है तब लोग इन परिश्रमियों के श्रम दाय (भाग) अवश्य देते हैं, अर्थात् पुरस्कृत करते हैं[५]।

(७) सम्मा सति—शुद्ध स्मृति

शुद्ध विचार या स्मृति का नैतिक जीवन में बहुत महत्त्व है। वेदों में पवित्रता का उपदेश अनेक स्थानों पर हुआ है। ऋग्वेद ९।६७।२२ में कहा गया है—"जो पवित्र करनेवाले हैं वे हमें पवित्र करें"[६]। इसी सूक्त की २५वीं ऋचा में कहा है कि मुझे सभी ओर से पवित्र करो[७]। विचारों की

---

१. **आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु।** —ऋ० १।८९।१
२. **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।**
३. **कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।** —ऋ० ९।११२।३
४. **अग्ने नय सुपथा राये।** —यजु० ५।३६, ७।४३, ४०।१६
५. **भूम्या अन्तं पर्येके चरन्ति रथस्य धूर्षु युक्तासो अस्थुः।**
श्रमस्य दायं विभजन्त्येभ्यो यदा यमो भवति हर्म्ये हितः॥ —ऋ० १०।११४।१०
६. **यः पोता स पुनातु नः।** —ऋ० ९।६७।२२
७. **मा पुनीहि विश्वतः।** —ऋ० ९।६७।२५

पवित्रता श्रेष्ठ जनों की संगति से होती है जिसका भी उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है—

पुनन्तु मां देवजनाः पुनन्तु वसवो धिया।
विश्वेदेवाः पुनीत मा जातवेदः पुनीहि मा॥ —ऋ० ९।६७।२७

(८) सम्मा समाधि—सम्यक् समाधि

शुद्ध विचारवान् पुरुष ही समाधिगत आनन्द ले सकता है और समाधिस्थ पुरुष ही शुद्ध विचारवान् होता है, इसलिए इन दोनों बातों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। विशेषकर पवित्रता का सम्बन्ध परमात्मा से होता है, क्योंकि वही सदैव एकरस रहता है, जिसका उल्लेख सामवेद में किया गया है—

येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा।
तेन सहस्रधारेण पावमानीः पुनन्तु नः॥ —सा०उ०प्र० ५।२।८।२

समाधिस्थ योगी जन अपने आत्मा में परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। इसका उल्लेख वेदों में पाया जाता है—

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोका अधि श्रिताः।
य ईशे महतो महांस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम्॥
—यजुर्वेद २०।३२

जो परमात्मा समस्त प्राणियों का अधिपति है, जिसमें लोक आश्रित हैं, जो महान् पदार्थों का महान् स्वामी है, अतः उस तुझ को मैं ग्रहण करता हूँ। 'अहं त्वा मयि गृह्णामि'। मैं तुझ को अपने में ग्रहण करता हूँ, अर्थात् अपने अन्दर अनुभव करता हूँ। इसी विषय को ऋक् १।२२।२१ तथा यजुर्वेद ३४।४४ में कहा गया है—

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्॥

जागरूक स्तुतिकर्त्ता विद्वान् जन व्यापक परमात्मा (विष्णु) के उस (परम अभीष्ट) स्वरूप को स्वात्मा में प्रकाशित करते हैं[१]। व्यापक परमात्मा की अनुभूति के विषय में ऋक् १।२२।२०, यजुर्वेद ६।५ और अथर्ववेद ७।२६।७ में उल्लेख किया गया है—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥

ध्यानी-ज्ञानी स्तोता व्यापक परमात्मा (विष्णु) के उस परम पद को आकाश में प्रकाशित सूर्य की तरह अपने अन्दर सदा देखते हैं। योगी की समाधिस्थ अनुभूति का उल्लेख तैत्तिरीयोपनिषद् में हुआ है जिसमें वह कह उठता है—

त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि।
—तै०उ० १।१।१

अथर्ववेद को ब्रह्मवेद भी कहते हैं उसमें ब्रह्म साक्षात्कार का उल्लेख

---

१. समिन्धते पद का अर्थ महीधर एवं उव्वट ने इस प्रकार किया है—
समिन्धते दीपयति उपासते। —महीधरः
समिन्धते सन्दीपयति उपासने निर्मलीकुर्वन्ति। —उव्वट

हुआ है—

तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः। —अथर्व० १०।२।३२

इस शरीर में पूजनीय ब्रह्म का, आत्मा के द्वारा साक्षात्कार होता है। तद्वै ब्रह्मविदः विदुः। उसको ब्रह्मवेत्ता जानते हैं। इस प्रकार सम्मा समाधि का आधार भी वेदों में निहित है।

प्रो० कीथ का विचार है—'ऋग्वेद के ब्राह्मणों के साथ सम्बद्ध है, ऐतरेय और कौषीतिकी या शांख्यायन उपनिषद्। तैत्तिरीय ब्राह्मण के साथ तैत्तिरीयोपनिषद् और शतपथ ब्राह्मण के साथ बृहदारण्यकोपनिषद्, सामवेद की एक उपनिषद् छान्दोग्य है। जो एक ब्राह्मण का अधिकांश है तथा दूसरी जैमिनि उपनिषद् ब्राह्मण का एक अध्याय है और अपने में केनोपनिषत् को सम्मिलित किये हुए हैं। कहा जा सकता है कि ये उपनिषदें बौद्ध धर्म के उद्भव के पहले की हैं, क्योंकि बौद्ध धर्म को उपनिषत् सिद्धान्तों से ही माना जा सकता है[१]। उपनिषद् एवं बौद्ध धर्म के सिद्धान्त भारतीय विचाराधारा से ही शनैः शनैः उद्भूत हुए थे[२]। प्रो० कीथ के इन विचारों से भी यही स्पष्ट होता है कि वह भारतीय विचारधारा वेद की ही थी जिसमें उपनिषद् और बौद्ध धर्म की विचारधारा प्रादुर्भूत हुई है'।

(आ) सभी सुखी हों

मैत्री करुणा मुदिता और उपेक्षा इन चार मनोवृत्तियों को ब्रह्म-विहार कहते हैं। इस विहार के अन्त में एक श्लोक लिखा गया है—

सब्बे सत्ता सुखी होन्तु, सब्बे होन्तु च खेमित्तो।
सब्बे भद्राणि पस्सन्तु, मा कच्चि दुखभाग मा॥

सब प्राणी सुखी हों, सब कुशलक्षेम से रहें, सब भद्रभाव से देखें, किसी को दुःख प्राप्त न हो। इसका आधार सर्वत्र प्रसिद्ध श्लोक—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

का पाली अनुवाद मात्र है, क्योंकि इसका आधार भी वेदों में पाया जाता है। यथा यजुर्वेद में कामना की गई है—

यथा नः सर्व इज्जनोऽनमीवः संगमे सुमना असत्। —यजु० ३३।८६

जिससे हमारे संगम में सब ही जन रोगरहित प्रसन्न मन वाले रहें।

शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे। —यजु० ३६।८

हमारे मनुष्य एवं पशु आदि का कल्याण हो।

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।
—अथर्व० १।३१।४

हमारे माता-पिता सुखी हों, गौओं और जगत् के सभी पुरुषों के लिए सुख-शान्ति हो।

---

१. वैदिक धर्म एवं दर्शन—पृ० २४।
२. वही—पृ० ३२।

(इ) कर्मफल

शुभ-अशुभ कर्मों के विषय में बौद्ध धर्म का सिद्धान्त यह है कि जो जैसा करता है उसको वैसा फल अवश्य प्राप्त होता है। पाप कर्म करनेवाला मनुष्य पाप की मार से बच नहीं सकता चाहे वह कहीं चला जाए। इसका उल्लेख 'धम्मपद पाप बग्गो' में किया गया है—

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे न पब्बतानं विवरं पविस्य।
न विज्जती सो जगति प्पदेसो यत्थट्ठितो मुञ्चेप्य पापकम्मा॥

—पाप बग्गो ९। १२

न अन्तरिक्ष में, न समुद्र की तह में, न पर्वतों की गुफा में एवं सारे संसार में कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ रहकर मनुष्य पाप के परिणाम से बच सके।

इसी प्रकार का उल्लेख हमें अथर्ववेद में वरुण के सम्बन्ध में उपलब्ध होता है। मनुष्यों की पलकों के निमेषोन्मेष का लेखा भी उसकी (वरुण की) गिनती में है—'संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्' अथर्व० ४। १६। ५। वरुण देव से छिपाकर कोई व्यक्ति कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि जो कुछ द्युलोक और पृथिवी के बीच एवं परे है उसको राजा वरुण जानते हैं[1]।

वरुण शुभाशुभ भावनाओं के द्रष्टा हैं—

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः॥

—अथर्व० ४। १६। २

जो खड़ा है, जो चलता है, जो दूसरे को ठगता है, जो छिपकर गति करता है, और दो पुरुष बैठकर आपस में मन्त्रणा करते हैं। राजा वरुण उनमें तीसरा होकर जानता है, इसीलिए जो कोई पाप कर्म के परिणाम से बचने के लिए 'द्युलोक को पार कर के और कहीं दूर चला जाए तो भी वह वरुण राजा से बच नहीं सकता'[2]।

(ई) पाँच निषेध आज्ञाएँ—

पाँच बातों का निषेध धम्मपाद मलबग्गो में किया गया है—

(१) जो हिंसा करता है। (२) जो झूठ बोलता है।

(३) जो चोरी करता है। (४) जो व्यभिचार करता है।

(५) जो मद्यपान करता है, वह आदमी इसी लोक में अपनी जड़ खोदता है[3]।

इन पाँच निषेध आज्ञाओं का भी आधार वेदों में पाया जाता है। ऋग्वेद १०। ५। ६ में सात मर्यादाओं का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

'सप्त मर्य्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्'।

क्रान्तदर्शी जनों ने सात मर्य्यादाओं का निर्माण किया है। उनमें से एक

---

१. **सर्वं तद् राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात्।** —अथर्व० ४। १६। ५
२. **उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।** —अथर्व० ४। १६। ४
३. —ध०प० मलबग्गो १८। १२। १३।

को भी प्राप्त होनेवाला मानव पापी होता है। वे सात मर्यादाएँ आचार्य सायण के अनुसार—सुरापान, जूआ खेलना, स्त्रीव्यसन, मृगया (शिकार खेलना) कठोर दण्ड, कठोर वचन और दूसरों पर मिथ्या दोषारोपण करना है[1]।

आचार्य यास्क ने अपने निरुक्त ६।२७ में इसी मन्त्र के भाष्य में इन मर्यादाओं का उल्लेख इस प्रकार से किया है—(१) चोरी, (२) व्यभिचार, (३) ब्रह्महत्या, (४) भ्रूण हत्या, (५) सुरापान, (६) दुष्ट कर्म का बार-बार सेवन करना, (७) पाप कर्म में झूठ बोलना[2]। इस मन्त्र के अतिरिक्त भी वेदों में अनेक मन्त्र इस विषय में पाये जाते हैं जिनमें निषेध आज्ञाओं अथवा दुष्कृत्यों की निन्दा की गई है।

(१) असत्य, (२) व्यभिचार

असत्यवादी और व्यभिचारियों ने गर्हित स्थानों को उत्पन्न किया है। इस प्रकार की निन्दा ऋग्वेद ४।५।५ में की गई है—

अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्॥

भ्रातृहीन तथा पति से द्वेष करनेवाली दुराचारिणी स्त्रियों के समान इधर-उधर घूमनेवाले असत्य और अनृत करनेवाले पापी (व्यभिचारी) जनों ने इस गहन पद (नरक) को उत्पन्न किया है।

(३) हिंसा

हिंसक व्यक्ति अपने जीवन की जड़ें खोद लेता है। इसका उल्लेख ऋग्वेद ८।१८।१३ में हुआ है—

यो न कश्चिद् रिरिक्षति रक्षस्त्वेन मर्त्यः।
स्वैः ष एवै रिरिषीष्टयुर्जनः॥

जो कोई भी मनुष्य अपने राक्षसी स्वभाव से हमारी हिंसा करना चाहता है वह अपने कर्मों से ही स्वयं मारा जाता है।

(४) चोरी के विषय में कहा गया है—

यो मलिम्लुरुपायति····संपिष्टो अपायति।—अथर्व० १९।४९।१०

जो मलिम्लु नामक चोर आएगा कुट-पिट कर जाएगा।

(५) सुरापान—

सुरा पीनेवालों की दुर्गति का वर्णन करते हुए कहा है—

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्। ऊधर्न नग्ना जरन्ते॥
—ऋक् ८।२।१२

---

१. **पानमक्षाः स्त्रियो मृगया दण्डः पारुष्यमन्यदूषणमिति सप्त मर्य्यादाः।**
—द्र०सा०भा० ऋ० १०।५।७, पूना संस्करण।

२. **स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्या भ्रूणहत्या सुरापानम्।**
दुष्कृतस्य कर्मणः पुनःपुनः सेवा पातकेऽनृतोद्यमिति॥ —यास्क नि० ६।२७
सायणभाष्य में उद्धृत निरुक्त प्रमाण में गुरुतल्पारोहणं है और भ्रूणहत्या नहीं है।
—द्र० पूना संस्करण।

जैसे आन्तरिक पिये सुरा में मदमस्त होकर लड़ते हैं (गो) स्तन की तरह नंगे बकते हैं। शतपथ ब्राह्मण में सोम और सुरा की तुलना करते हुए कहा है—'**सत्यं यशः श्रीर्ज्योतिः सोमोऽनृतं पाप्मा तमः सुरा**' श० ब्रा० ५।१।२।१०। इस प्रकार वैदिक साहित्य में भी ये पाँचों निषेध आज्ञाओं के रूप में उल्लिखित हैं।

बौद्ध धर्म के आचार का आधार वैदिक साहित्य में उल्लिखित आचार ही है। इसका साक्ष्य स्वयं बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में भी मिलता है। जैसा कि 'सुत्त निपात ब्राह्मण धम्मिक सुत्त' में कहा है—'आश्चर्यजनक गौतम, आश्चर्यजनक बात है'। जैसे किसी फेंकी हुई वस्तु को कोई ठीक स्थान पर रख दे, जो गुप्त वस्तु हो उसको प्रकाशित कर दे, जो मार्गभ्रष्ट हो गया हो उसे ठीक मार्ग दिखा दे जिससे सब आँखवाले उसे देख सकें, इस प्रकार गौतम ने सिद्धा को स्पष्ट कर दिया है। इससे इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में उत्पन्न हुई रूढ़ियों एवम् आडम्बरों को हटाकर शुद्ध वैदिक आचार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन गौतम बुद्ध ने किया है।

(३) गौतम बुद्ध का दीक्षान्त भाषण—

गौतम बुद्ध ने दीक्षा देते हुए अपने शिष्यों से कहा था—

(१) किसी को न मारो पर जीवन के लिए आदर रखो।

(२) चोरी न करो न लूटो, किन्तु प्रत्येक को अपने परिश्रम से फल का स्वामी बनने में सहायता दो।

(३) अपवित्रता से दूर रहकर, पवित्र जीवन व्यतीत करो।

(४) असत्य न बोलो किन्तु सत्यवादी बनो, निर्भयता और प्रेम पूर्ण हृदय से विवेक पूर्वक सत्य बोलो।

(५) दूसरों के दोष न देखते फिरो और न अपने साथियों के विषय में झूठी बातें घड़ते रहो।

(६) शपथ न खाओ किन्तु प्रभावशाली ढंग से उत्तम बोलो।

(७) व्यर्थ बातचीत में समय न नष्ट करो, किन्तु उपयोगी बात बोलो, अन्यथा चुप रहो।

(८) लोभ और ईर्ष्या न करो किन्तु दूसरों के उत्तम भाग्य पर प्रसन्न होओ।

(९) अपने हृदय दुष्ट भावों से और घृणा से सर्वथा दूर रखो, शत्रुओं से भी घृणा न करो किन्तु सब प्राणियों पर दया करो।

(१०) अपने मन को अज्ञान से मुक्त करो और आवश्यक विषयों के सत्य जानने में उत्सुक रहो ताकि तुम सन्देह या अशुद्धि का शिकार न बनो[१]।

इन दस आज्ञाओं में भी यम-नियम का ही प्रतिपादन किया गया है। जिन यम-नियमों का व्यवस्थित रूप से योगदर्शन में उल्लेख हुआ, जिनके विषय में प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने लिखा है—"सदियाँ गुजर गईं जब

---

१. पालकेरस—गोस्पल आफ बुद्ध, पृ० १०६ (कर्तव्यशास्त्र पृ० १६९ पर उद्धृत)

आध्यात्मवाद के इन पाँच तत्त्वों की घोषणा महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में की थी। यम–नियम के नाम से जिन दस साधनों का वर्णन योगदर्शन में किया गया था उनमें से ''अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा: यमा:।'' ये पाँच वे ही आध्यात्मिक तत्त्व थे, जिनका वर्णन हमने अभी किया है। महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों को दीक्षा देते हुए जो दस आदेश दिये थे वे यही यम–नियम थे। यहूदियों में कथानक प्रचलित है कि जिहोवा ने मूसा को मौण्ट सेनाई पर बुलाकर पत्थर की दो पट्टियाँ दीं जिन पर दस आज्ञाएँ लिखी हुई थीं। वे दस आज्ञाएँ यही दस यम–नियम थे। हजरत मसीह ने पर्वत पर खड़े होकर उपदेश दिया था जिसे 'सामन औन् दी माउण्ट' कहा जाता है, इसमें भी यम–नियमों की व्याख्या के अतिरिक्त कुछ नहीं[१]।

जिन यम–नियमों की महत्ता का उल्लेख किया गया और जिनका आचरण बुद्ध, मूसा एवं मसीह ने किया कराया है, उनका स्रोत भी वेदों में पाया जाता है।

डॉ० शिवदत्त ज्ञानी का विचार है कि 'मानव जीवन को नियमित करने के लिए प्राचीन भारत में नैतिकता पूर्ण नियमों का विकास किया गया था तथा उन्हें दैवी स्वरूप भी प्रदान किया गया था। ऋग्वेद में वरुण के ऋत[२] का स्थान–स्थान पर उल्लेख आता है जिसका पालन प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक था। वरुण के व्रतों का भी यत्र–तत्र उल्लेख है। वरुण सम्बन्धी मन्त्र पूर्णतया नैतिकतापूर्ण हैं[३]।' यों तो जहाँ कहीं भी देवताओं की स्तुतियाँ वा प्रार्थना की गई हैं वहाँ वातावरण नैतिकतापूर्ण ही है। इसी वातावरण में यम–नियमों के सिद्धान्तों का विकास हुआ[४]।

---

१. प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार—आर्य संस्कृति के मूल तत्त्व—पृ० २४३।
२. ऋ० ७।५६।१२।
३. ऋ० १।२५।१,२,६,२१, १।२४,१०–१५।
४. डॉ० शिवदत्त ज्ञानी—वेदकालीन समाज पृ० १०३।

अध्याय : ३

सत्य और श्रद्धा

(क) सत्य—

'सत्य' मानव जीवन का एक श्रेष्ठ गुण कदाचित् सर्वश्रेष्ठ गुण माना जाता है। जीवन में इसकी बड़ी महत्ता मानी गई है। हमारे प्राचीन साहित्य में तथा अन्य देशों के भी श्रेष्ठ साहित्य में इसके आचरण पर बड़ा बल दिया गया है।

१. ऋग्वेद में सत्य शब्द का प्रयोग—

ऋग्वेद में 'सत्य' शब्द का प्रयोग कई रूपों में हुआ है। मूलतः यह शब्द विशेषण प्रतीत होता है, 'सत्' (सत्ता) से निष्पन्न होने के कारण इसका मूल अर्थ 'सत्तावाला' अथवा 'वास्तविक' प्रतीत होता है। ऋग्वेद में 'सत्य' शब्द का इस अर्थ में प्रचुर प्रयोग पाया जाता है[१]। जैसे—

'यः सुन्वते पचते दध्रु आ चिद्वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः'।

हे दुर्धर्ष, जो तू सोमाभिषव करनेवाले, पुरोडाशादि पकानेवाले को बल प्रदान करता है; वह तू 'वास्तविक' (सत्तावाला) है। —ऋ० २।१२।१५

ऋग्वेद में कई देवताओं की सत्ता की शंका का प्रश्न उठने पर उनको 'वास्तविक' (सत्तावाला) कहा गया है। उपर्युक्त मन्त्र (ऋ० २।१२।१५) में इन्द्र को 'वास्तविक' (सत्तावाला) कहा गया है। इसी प्रकार ऋ० ५।२५।२ में अग्नि को 'वास्तविक' (सत्तावाला) कहा गया है—'स हि सत्यो यं पूर्वे चिद्देवासश्चिद्यमीधिरे' जिसको पूर्व के देवों ने प्रकाशित किया वह निश्चय ही 'वास्तविक' (सत्तावाला) है।

विशेषण के रूप में 'सत्य' शब्द के 'वास्तविक' (सत्तावाला) अर्थ से 'वास्तविक'[२] और 'सच्चा'[३] अर्थों का विकास प्रतीत होता है।

'सत्य' शब्द के 'सच्चा' अर्थ से भाव साहचर्य के कारण 'वफादार'[४],

---

१. —ऋ० ३।१४।१, ४।१६।१, ४।४०।२, ५।२३।२, ६।२२।१, ८।३।४, ८।१६।८, ८।९०।२ आदि।

२. **'प्र तं विवक्मि वक्म्यो य एषां मरुतां महिमा सत्यो अस्ति'।**
जो इन मरुतों की वर्णन करने योग्य वास्तविक महत्ता है उसको मैं घोषित करता हूँ।
—ऋ० १।१६७।७।
'त्वं देहि सहस्त्रिणं रयिं नो द्रोघेण वचसा सत्यमग्ने।'
हे अग्नि! तू हमें सहस्र संख्यावाले वास्तविक धन को द्रोहरहित वाणी से प्रदान कर।
—ऋ० ३।१४।६।

३. 'तयोर्यत्सत्यम्'—उन दोनों में जो सच्चा है। —ऋ० ७।१०४।१२

४. 'त्वं सत्य इन्द्र'—हे इन्द्र! तुम सच्चे (वफ़ादार) हो। —ऋ० १।६३।३
त्वं सत्पतिर्मघवानस्तरुत्रस्त्वं सत्यो वसवानः सहोदाः।
तुम वीरों के स्वामी मघवन्, हमारे रक्षक सच्चे (वफ़ादार) बहुत धनी और विजयदाता हो।
—ऋ० १।१७४।१

'सफल'[१], 'पूर्ण'[२] और 'पूर्ण प्रभाववाला'[३] आदि अर्थों का विकास पाया जाता है। वस्तुतः ये अर्थ 'सच्चा' अर्थ के ही विस्तारमात्र हैं।

ऋग्वेद में 'सत्यकृ' का प्रयोग भी 'सत्य करना', पूर्ण करना आदि अर्थों में पाया जाता है[४]।

संज्ञा के रूप में 'सत्य' शब्द का प्रयोग नपुंसक लिंग में 'वास्तविकता' (सच्चाई)[५] आदि अर्थों में पाया जाता है।

क्रिया विशेषण के रूप में 'सत्य' शब्द का प्रयोग 'वस्तुतः, सचमुच'[६] अर्थ में मिलता है।

कोई कथन अथवा वचन जैसा हो उसको उसी रूप में कहना, उसको अनुभव करना सत्य कहलाता है। इस प्रकार का व्यवहार करनेवाले व्यक्ति को भी 'सच्चा' (सत्य) कहा जाता है 'सत्य' बोलना अथवा 'सत्य' का व्यवहार एक श्रेष्ठ नैतिक मूल्य माना गया है। जीवन में सत्य की महत्ता के विषय में ऋग्वेद में विविध प्रकार के उल्लेख मिलते हैं, इसका विवेचन करने से पूर्व यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में 'सच्चा' और 'वास्तविकता' सच्चाई अर्थ में कई अन्य शब्द भी पाये जाते हैं।

(१) ऋत—

यद्यपि ऋग्वेद में 'ऋत' शब्द का प्रयोग अधिकतर नियम, शाश्वत नियम[७], अर्थ में पाया जाता है तथापि इससे विकसित 'सत्य' (सच्चाई) अर्थ

१. **सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः**—यजमान की कामनाएँ सच्ची (सफल) हों।
—ऋ० १०।११६।८

२. **इदं द्यावापृथिवी सत्यमस्तु पितर्मातर्यदिहोपब्रुवे वाम्**—हे पिता माता द्यावापृथिवी! जो प्रार्थना आप दोनों से करूँ वह मेरी पूर्ण होवे। —ऋ० १।१८५।११

३. **ब्रह्मणस्पतेरभवद्यथावशं सत्यो मन्युर्महि कर्मा करिष्यतः**—बड़े कर्मों को करने की इच्छा करते हुए ब्रह्मणस्पति का क्रोध उसकी इच्छानुसार सच्चा (पूर्ण प्रभाववाला हुआ)।
—ऋ० २।२४।१४

४. —ऋ० ९।११३।४।

५. **विश्वं सत्यं मघवाना युवोरिदापश्चन प्रमिनन्ति व्रतं वाम्**—हे मघवन् इन्द्र और ब्रह्मणस्पति तुम दोनों से ही हमारी सच्चाई निकलती है, जल भी तुम्हारे नियम का उल्लंघन नहीं करते। —ऋ० २।२४।१२
विश्वमा प्रा अन्तरिक्षं महित्वा सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान्—हे इन्द्र! तुमने अपनी महत्ता से सारे अन्तरिक्ष को भर दिया वस्तुतः सचाई यह है कि तुम्हारे समान कोई नहीं है। —ऋ० १।५२।१३

६. **यदि सत्यमस्ति**—यदि वह सचमुच है। —ऋ० ८।१००।३
सत्यमेनमनुविश्वे मदन्ति—'वस्तुतः उसके प्रति सब आनन्दित होते हैं'।
—ऋ० ४।१७।५
सत्यं त्वेषा अवमन्तो धन्वञ्चिदा रुद्रियासः। मिहं कृण्वन्त्यवाताम्।
दीप्तिमान् और बलवान् मरुद्गण सचमुच मरुभूमि में भी वायुरहित वृष्टि करते हैं।
—ऋ० १।३८।७

७. **ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत**—प्रदीप्त तप से शाश्वत नियम और सत्य उत्पन्न हुए। —ऋ० १०।१९०।१

भी मिलता है[1]। जैसे—'**ऋतेन राजन् अनृतं विविञ्चन् मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि**'—हे राजन्! आप सत्य से असत्य का विवेक करते हुए मेरे राष्ट्र के अधिपति होओ। —ऋ० १०।१२४।५

(२) अनृत—

ऋत के विपरीत 'अनृत' शब्द का प्रयोग 'असत्य' अर्थ में मिलता है। जैसा कि उपर्युक्त मन्त्र में आया है। अन्य बहुत से उदाहरणों में 'अनृत' शब्द 'असत्य' अर्थ में मिलता है[2]। 'अनृतद्विष्' ऋ० ७।६६।१३ आदि शब्दों में भी 'अनृत' शब्द असत्य अर्थ में ही है।

लेकिन संस्कृत में भी 'अनृत' शब्द असत्य अर्थ में पाया जाता है—जैसा कि '**नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्परं पातकम्**[3]'—से स्पष्ट है।

ऋग्वेद में 'अनृत' शब्द का विशेषण के रूप में 'मिथ्या' अर्थ भी उपलब्ध होता है—जैसा 'अनृतदेवः' ऋ० ७।१०४।८ में अनृत शब्द 'असत्य, मिथ्या' अर्थ में है।

प्रो० ग्रासमान ने भी ऋत और सत्य के अनेक अर्थ अपने प्रसिद्ध कोश 'वार्टर बुक' में किये हैं[4] जिनका नैतिक दृष्टि से जितना उपयोग किया जा सकता था उनको उपर्युक्त उद्धरणों में ही स्थान दे दिया गया है।

२. ऋत या सत्य की महिमा—

ऋग्वेद में ऋत या सत्य की महत्ता का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ऋत (शाश्वत नियम) की अज्ञान नाशक शक्ति सनातन से विद्यमान है, ऋत की प्रज्ञा या भावना पापों को नष्ट करती है, ऋत की स्तुति पवित्र बोध देती हुई मनुष्य के बहरे कानों को खोल देती है[5]।

सत्य कथन के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह सत्य कथन मेरी चहुँ ओर से रक्षा करे[6]। इस मन्त्र में सत्य को एक रक्षक के रूप में अभिहित किया गया है।

सत्य मानव जीवन या नैतिक जीवन का ही आधार नहीं है, अपितु सत्य के सहारे पृथिवी टिकी हुई है इसका भी उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है—

---

१. ऋ० १०।१०५।५, १५२।३, १०।१०।४, ८७।११।

२. ऋ० १।१२३।२२, १०५।५, १३९।२, १५२।१, ३,२।२४।६,७,३५।६, ८।६२।१२, १०।१०।४, १२४।५

३. मनु० ८।८२ की कुल्लूक भट्ट की टीका में उद्धृत।

४. प्रो० ग्रासमान—वार्टर बुक—पृ० २८२-८३, सत्य—पृ० १४५१।

५. ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमानः आयोः॥ —ऋ० ४।२३।८
पूर्वीर्बह्व्यः, शुरुधः आपः, धीतिः प्रज्ञा तद्विषया स्तुतिर्वा, श्लोकः स्तुतिरूपा, आयोः मनुष्यस्य। —सा०भा०
शुरुधः—अज्ञान को शीघ्र रोकनेवाली, पूर्वी—सनातन से चली आई।
शुचमानः—पवित्र करती हुई, बुधानः—उत्तम बोध प्रदान करती हुई। —जयदेव

६. सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः। —ऋ० १०।३७।२

'सत्येनोत्तभिता भूमिः'। —ऋ० १०।८५।१

इन उपर्युक्त मन्त्रों से सत्य की महिमा का स्पष्ट उल्लेख 'ऋग्वेद' में किया गया है।

३. सत्य की परिभाषा—

भारतीय मनीषियों ने सत्य के विषय में अनेक प्रकार की परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं जिनका उल्लेख निम्नलिखित है—

आचार्य शाकटायन के विचार में सत्य वह है जो वर्त्तमान पदार्थ का तात्त्विक बोध कराये[१]।

आचार्य यास्क ने अपने निरुक्त शास्त्र में सत्य का विवेचन करते हुए लिखा है—"सत्यं कस्मात् सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा।" (नि० ३।१३) जो सज्जनों में विस्तार को प्राप्त होता है और जो सज्जनों (के सरल निष्कपट एवं निर्मल हृदयों) से प्रस्फुटित होता है।

विदुर नीति के प्रणेता महात्मा विदुर के शब्दों में—

'न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्'। —वि० नी० ३।५८

वह सत्य नहीं जो छल से युक्त है। इससे यह स्पष्ट है कि वे उसको सत्य नहीं मानते, जिसमें दूसरों को छलने-ठगने की मनोवृत्ति अन्तर्निहित हो। इसलिए सत्य वही है जो निर्मल हृदय की निश्छल देन हो।

योगदर्शन में यम-नियमों का भाष्य करते हुए 'सत्य' शब्द पर व्यास का कथन है—'मन और वाणी का एक होना ही सत्य है—जैसा इन्द्रियों से साक्षात्कार किया, जैसा अनुमानादि से समझा और यदि सब प्राणियों के लिए हितकर हुआ, तो छल-कपट आदि रहित होकर उसको वैसा ही प्रकाशित कर देना ही सत्य कहलाता है'[२]।

मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने सत्य के विषय में लिखा है—जैसा देखा-सुना हो उसको वैसा ही कहना सत्य कहलाता है[३]। कुल्लूक भट्ट की सत्य की परिभाषा ही आजकल अधिकतर प्रचलित है, जो संक्षिप्त होते हुए भी अपने आप में परिपूर्ण है।

ऋग्वेद में यदि परिभाषा की दृष्टि से देखा जाय तो उसकी अपनी विशेषता यह होगी कि वहाँ केवल कथनमात्र ही नहीं, बल्कि कार्य में परिणत करने का संकेत किया गया है—जैसा कि ऋग्वेद ४।३३।६ में उल्लेख हुआ है—

'सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुरनु स्वधामृभवे जग्मुरेताम्'।

मनुष्य सत्य बोले तदनुसार आचरण करे, ऐसा करनेवाले ऋभु लोग

---

१. 'सत्यमिति भवति' नि० १।४।१३; इस पर दुर्गाचार्य की टीका है—**'अथ कोऽर्थः सत्यमर्थमाययति प्रत्यायति गमयति सत्यम्'**। इसी पर ब्रह्ममुनि की टीका है—**'सन्तं वर्तमानं पदार्थं यद्वा सद् वर्तमानं वस्तुतत्त्वमाययति प्रापयति तत्सत्यम्'**।

२. योगदर्शन, व्यासभाष्य पृ० १३०।

३. **'सत्यं ब्रूयात्'** मनु० ४।१३८ पर कुल्लूकभट्ट ने लिखा है—**'यथा दृष्टं श्रुतं तत्त्वं ब्रूयात्'**।

सोमामृतरूप अन्त को प्राप्त होते हैं[१]।

४. ऋत का शाश्वत नियम के रूप में प्रयोग—

ऋग्वेद में 'ऋत' शब्द का अर्थ 'शाश्वत नियम'। यह शाश्वत नियम हम को निश्चित गति (ऋ गतौ) की दशा में उपलब्ध होता है—जलधाराओं का बहना एक नियम के रूप में दिखाई देता है, सूर्य के प्रकाश का होना भी एक नियम है[२]। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ष २४ दिसम्बर को वर्ष का सब से छोटा दिन और सब से बड़ी रात्रि तथा २४ जून को सब से बड़ा दिन और सब से छोटी रात्रि का होना भी 'शाश्वत नियम' ही है, इसी प्रकार पूर्णिमा को पूर्ण चन्द्र और अमावस्या को चन्द्र का दिखाई न देना तथा पूर्णिमा को ही चन्द्र ग्रहण और अमावस्या को ही सूर्य ग्रहण का होना भी नियम का सूचक है। यह द्यावापृथिवी भी उस ऋत नियम से ही स्तम्भित हैं।

अथर्ववेद २।१।५ में ऋत सूत्र का उल्लेख हुआ है, जो इस विश्व को माला के रूप में ग्रथित किये हुए हैं—

'परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्'।

मैं सभी लोकों में घूम आया हूँ, मैं तो सब जगह ऋत के तन्तु (आधारभूत सूत्र) फैले हुए देखता हूँ, 'ऋतस्य तन्तुः विततः' ऋग्वेद ९।७३।९ में, अथर्ववेद में आये हुए 'ऋत तन्तु' की पुष्टि होती है।

५. ऋत और सत्य की उत्पत्ति—

जब हम ऋत और सत्य के कार्यों को आश्चर्यान्वित होकर देखते हैं, तब यह अवश्य ही सोचने लगते हैं कि इन नियमों का उत्पादक अवश्यमेव ही कोई महान् शक्ति होगी। जिसका प्रमाण हमें ऋग्वेद में ही मिल जाता है, जिसमें कहा गया है—

'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'।—ऋ० १०।१९०।१

(जगन्नियन्ता के) प्रदीप्त तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए हैं।

स्मरणीय बात यह है कि ऋत और सत्य दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं, जिसका उल्लेख ऋ० १०।१९०।१ में हुआ है। ऋत का अर्थ है—गतिशील नियम और सत्य का अर्थ है—सत्तात्मक। जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। उदाहरण के रूप में यह कहा जा सकता है कि घड़ी का होना सत्य और उसका ठीक समय का बताना ऋत नियम कहलाएगा। परन्तु स्वयं ऋग्वेद में ही ऋत और सत्य का विशेष भेद प्रतीत नहीं होता। क्योंकि अनेक स्थलों पर ऋत का प्रयोग सत्य के लिए हुआ है।

उल्लेखनीय बात यह है कि सभी देव या प्राकृतिक शक्तियाँ ऋत पालक के रूप में ऋग्वेद में चित्रित की गई हैं। उदाहरण के लिए उषस् को लिया जा

---

१. अन्वयः—नरः **सत्यमूचुः एवाहि सत्यमनुचक्रुः, ऋभव एतां स्वधां जग्मुः। स्वधा इति अन्ननामसु॥** —निघण्टु २।७

२. **ऋतमर्षन्ति सिन्धवः सत्यं ततान सूर्यः।** —ऋ० १।१०५।१२
इस मन्त्र का अनुवाद ग्रिफिथ के अनुसार है।

सकता है जिसके विषय में ऋग्वेद में कहा गया है कि उषस् प्रतिदिन निश्चित बिन्दु पर उतरती है पर कभी भी ऋत एवं देवताओं के विधान को पददलित नहीं करती। वह ऋत के पथ पर सीधी जाती है पथ से परिचित होने के कारण कभी भी पथभ्रष्ट नहीं होती[१]।

देव ऋत या सत्य के पालक होने के कारण ही उनका अनुसरण या अनुचरण का विधान भी ऋग्वेद में पाया जाता है। जैसे—

'स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव'। —ऋ० ५।५१।१५

हम स्वस्ति या कल्याण के पथ पर सूर्य और चन्द्र के समान अनुसरण करें। इसमें निश्चित गति या ऋत नियम की ओर संकेत स्पष्ट प्रतीत होता है।

६. ऋत और सत्य का नैतिक नियमों में प्रयोग—

जब ये सृष्टि के 'ऋत'–शाश्वत नियम और 'सत्य' पवित्र नियम व्यक्ति के जीवन में आ जाते हैं तब ये नैतिक नियम कहलाते हैं। उस अवस्था में ऋत का प्रयोग सत्य के और अनृत का प्रयोग झूठ के अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है जैसा कि ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर प्रयोग हुआ है। यह प्रयोग विशेषकर मित्र और वरुण नामक सूक्तों में पाया जाता है, क्योंकि वरुण और मित्र विशेषकर चरित्र सम्बन्धी देव हैं, इसलिए इनके विषय में प्रार्थना करते हुए कहा गया है—

अवातिरतमनृतानि विश्व ऋतेन मित्रावरुणा सचेथे। —ऋ० १।१५२।१

हे मित्रावरुण! तुम सम्पूर्ण असत्यों का विनाश करो और सत्य से युक्त होओ।

राजा वरुण, मित्र से अलग भी मनुष्यों के सत्य और अनृत (असत्य) का निरीक्षण करते हुए चित्रित किये गये हैं—

'यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्'।
—ऋ० ७।४९।३

जिन लोगों के बीच में राजा वरुण सत्य और असत्य को देखता हुआ जाता है।

ऋग्वेद के इस उल्लेख से यह प्रकट होता है कि लोग इस प्रकार की भावना बनाएँ कि हमारे मध्य में वरुणदेव विचरण करते हैं तथा वे सदा मनुष्यों के व्यवहार में आनेवाले सत्य और असत्याचरण को चिह्नित करते हैं, यदि कोई मनुष्य असत्याचरण करता हुआ पकड़ा जाएगा तो वह वरुणदेव के पाशों से बाँध लिया जाएगा। जैसा कि अथर्ववेद में वरुणदेव के पाशों के सम्बन्ध में उल्लेख हुआ है कि—ये पाश सात और तीन कड़ियों के हैं ये झूठों को बाँधते हैं और सत्यवादी को छूते तक नहीं[२]।

---

१. **'ऋतस्य योषा न मिनाति धामाहरहर्निष्कृतमाचरन्ती'।** —ऋ० १।१२३।९
अमिनती दैव्यानि व्रतानि—ऋ० १।१२४।२ **ते देवानां न मिनन्ति व्रतानि**—ऋ० ७।७६।५ **ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति॥** ऋ० ५।८०।४

२. **ये ते पाशा वरुण सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।**
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु॥ —अथर्व० ४।१६।६

ऋग्वेद में एक स्थान पर वरुण के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए कहा गया है कि वरुण असत्याचरण का घोर द्वेषी है इसलिए जो असत्याचरण करता है उसको अवश्य ही दण्डित करते हैं, क्योंकि ये सत्यशील सत्याचरण को बढ़ानेवाले हैं। एक ही मन्त्र में इन सब विशेषताओं को संयुक्त कर दिया है—

'ऋतावान् ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः'।

—ऋ० ७।६६।१३

ये ऋतवाले ऋत से प्रसिद्ध ऋत को बढ़ानेवाले तथा अनृत के घोर द्वेषी हैं।

उपर्युक्त कथन में 'सत्यानृते' ऋ० ७।४९।३ कहा गया है इसमें सत्य के विपरीत झूठ के लिए 'अनृत' शब्द का प्रयोग किया गया। इसी प्रकार 'सिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तम्' (अथर्व० ४।१६।६) में झूठ कहनेवाले को बाँधते हैं, इस मन्त्र में भी अनृत शब्द का अर्थ झूठ कहना ही है तथा 'घोरासो अनृतद्विषः' से भी यही प्रकट होता है।

ऋग्वेद में 'ऋत' शब्द भी सत्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जैसा कि पहले कहा भी गया है, लेकिन कुछ अन्य स्थलों पर भी उल्लेख हुआ है जिसमें 'ऋत' का प्रयोग 'सत्य' कथन के रूप में हुआ है। जैसे—प्रसिद्ध 'यम-यमी' सूक्त में जहाँ पर यमी ने यह प्रस्ताव किया है कि यम पति के रूप में उसके शरीर का स्पर्श करे[1]। उस समय यम ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

'न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम'।

—ऋ० १०।१०।४

जो हमने पहले कभी नहीं किया उसे अब कैसे करें, सत्य बोलते हुए अब असत्य कैसे बोलें?

ऋग्वेद के अक्ष सूक्त में जुआरी कहता है—'हे अक्षो! जो तुम्हारे उस महान् गण का सेनानी या जो प्रमुख राजा होगा। उसके सामने मैं अपने हाथ की दसों अंगुलियाँ फैलाकर दिखलाता हूँ। मैंने किसी प्रकार का धन छिपाकर नहीं रखा है, यह मैं सत्य ही कहता हूँ[2]।' 'ऋतं वदामि' ऋग्वेद के इस मन्त्र में भी 'ऋत' शब्द सत्य के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

ऋग्वेद के दान सूक्त में 'सत्य' शब्द भी इस प्रकार 'सत्य कथन' में व्यवहृत किया गया है—

'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य'।

—ऋ० १०।११७।६

मूर्ख मनुष्य को व्यर्थ ही अन्न की प्राप्ति होती है, मैं सत्य कहता हूँ कि वह अन्न उसकी मृत्यु का ही कारण बनता है।

उपर्युक्त मन्त्रों से यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि जहाँ ऋग्वेद में

---

१. **जन्युः पतिस्तन्वमा विविश्याः।** —ऋ० १०।१०।३

२. **यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव।**
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि॥ —ऋ० १०।३४।१२

'ऋत' और 'सत्य' शाश्वत नियम एवं पवित्र नियम के रूप में पाये जाते हैं वहाँ ऐसे अनेक स्थान भी हैं जहाँ इन दोनों शब्दों का प्रयोग शुद्ध नैतिक नियमों में हुआ है।

७. असत्य के बोधक कुछ शब्द—

ऋग्वेद के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि सत्य के प्रति जनमानस में विशेष निष्ठा पाई जाती है, क्योंकि जो व्यक्ति सत्य का पालन नहीं करता था, उसकी कठोर शब्दों में निन्दा की गई है, जिसका उल्लेख निम्नलिखित शब्दों से परिलक्षित होता है—

(अ) मिथुया, (आ) असत्, (इ) मोघम्, (ई) अलकम्,
(उ) सत्यध्वृतम्, (ऊ) वाचास्तेनम्, (ए) असत्यः।

(अ) मिथुया—

ऋग्वेद में 'मिथुया' क्रियाविशेषण शब्द का प्रयोग 'मिथ्या' रूप में, असत्य रूप में केवल एक स्थल (ऋ० ७।१०४।१३) पर मिलता है। संस्कृत का 'मिथ्या' शब्द 'मिथुया' शब्द से ही विकसित हुआ है जिसका बाद के संस्कृत साहित्य में बहुतायत से प्रयोग मिलता है।

नैतिक दृष्टि से मिथ्याचार करनेवाले व्यक्ति की कड़े शब्दों में निन्दा प्रदर्शित करते हुए कहा गया है—'सोम पाप कर्म को कभी प्रश्रय नहीं देता, मिथ्या व्यवहार करनेवाले शक्तिशाली क्षत्रिय को बढ़ावा नहीं देता, वह राक्षसों को मारता है तथा असत्यवादियों को भी दण्डित करता है, राक्षस और असत्यवादी ये दोनों इन्द्र के बन्धन में रहते हैं'[१]।

(आ) असत्—

'असत्' शब्द भी 'असत्य' अर्थ में ही प्रयोग हुआ जिसका उल्लेख पहले मन्त्र (ऋ० ७।१०४।१३) में भी किया गया है। एक अन्य स्थल पर भी 'असत्' असत्यवादी को नष्ट करने का वर्णन करते हुए कहा गया है—ज्ञानी व्यक्ति के लिए सच्चे और झूठे को जानना सरल होता है, क्योंकि दोनों के वचन परस्पर विरोधी होते हैं। इन दोनों में से जो सच्चा और ईमानदार है सोम उसकी रक्षा करता है और झूठे को नष्ट करता है[२]।

(इ) मोघम्—

ऋग्वेद में 'मोघम्' क्रियाविशेषण शब्द का अर्थ 'व्यर्थ' है। मिथ्यारूप में प्रयोग केवल पाँच बार हुआ है[३]। ऋग्वेद के एक स्थान पर कहा गया है—यदि मैं पीड़ा देनेवाला हूँ और यदि मैं किसी मनुष्य की आयु को सन्तप्त करूँ तो आज ही मर जाऊँ, लेकिन जो मुझे व्यर्थ ही (झूठ-मूठ) यातुधान कहकर

---

१. **न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते॥** —ऋ० ७।१०४।१३

२. **सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥** —ऋ० ७।१०४।१२

३. वही ७।१०४।१४, १५, १०।५५।६, ११७।६, १६५।४।

चिढ़ाता है वह दसों वीरों (पुत्रों) से वियुक्त हो जाये[१]।

एक सदाचारी व्यक्ति के द्वारा निकले हुए शब्द, शाप रूप में भी परिणत हो सकते हैं, जैसा कि उपर्युक्त मन्त्र में यास्काचार्य का विचार है कि इस मन्त्र में 'शापभावना' का उल्लेख हुआ है[२]।

(ई) अलकम्—

ऋग्वेद में 'अलकम्' शब्द का प्रयोग केवल दो बार मिलता है[३] जिसका अर्थ मिथ्या अथवा व्यर्थ है। संस्कृत का 'अलीकम्' शब्द 'अलकम्' से ही विकसित हुआ है जिसका बाद में साहित्य में बहुतायत से प्रयोग मिलता है। लेकिन ऋग्वेद में 'अलीकम्' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।

वेदवाणी जैसी कल्याणकारी वाणी को छोड़कर जो कुछ मानव सुनता है, वह सब व्यर्थ ही सुनता है, उससे मानव का कल्याण होनेवाला नहीं है। इसका स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद १०।७१।६ में करते हुए कहा गया है—जो साथी को जाननेवाले मित्रतुल्य वेद स्वाध्याय को त्याग देता है, उसका वेदवाणी में भी कोई भाग नहीं है, क्योंकि वेद को छोड़कर वह जो कुछ भी सुनता है व्यर्थ ही सुनता है[४]।

ऋग्वेद के इस मन्त्र की साक्षी से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह हमारी सभ्यता एवं संस्कृति का मूलाधार है, जिसके श्रवण से तथा उसके बताए हुए मार्ग से चलने पर व्यक्ति अनायास ही सदाचारी हो सकता है।

(उ) सत्यध्वृतम्—

ऋग्वेद में 'सत्यध्वृतम्' शब्द सत्यदूषक के अर्थ में केवल एक ही स्थल पर प्रयोग हुआ है। इसमें दानशीलता की प्रशंसा और सत्यदूषक की निन्दा करते हुए कहा गया है कि हे स्तोता! मेरा वह उत्साह और वेग सदा बना रहे कि जिससे मैं सोम का सेवन करनेवाले यजमान के लिए दान दिया करूँ, मैं (इन्द्र) आशानुरूप न देनेवाले सत्य के दूषक एवं पापाचरण करनेवाले शक्तिशाली को भी नष्ट करता रहा हूँ[४]।

(ऊ) वाचास्तेन—

ऋग्वेद में 'वाचास्तेन' शब्द का प्रयोग 'असत्यवादी' अर्थ में मिलता है जिसका प्रयोग केवल एक बार ऋ० १०।८७।१५ में हुआ है।

अग्निदेव से असत्यवादी को वाणी से आहत करने की प्रार्थना करते हुए कहा गया है—देव लोग आज ही पापाचारी पुरुष को दूर से ही नष्ट कर दें,

---

१. **अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पुरुषस्य।**
अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह॥ —ऋ० ७।१०४।१५

२. **अथापि शपथाभिशापौ।** —निरुक्त ७।१।१५; ऋ० १०।७१।६,१०८।७

३. **यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।**
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥ —ऋ० १०।७१।६

४. **असत्सु मे जरितः साभिवेगो यत्सुन्वते यजमानाय शिक्षम्।**
अनाशीर्दामहमस्मि प्रहन्ता सत्यध्वृतं वृजिनायन्तमाभुम्॥ —ऋ० १०।२७।१

वे अति कठोर निन्दा युक्त वचन कहते हुए उसके प्रति आक्रोश करें, यातुधान सब के हितार्थ बन्धन को प्राप्त हो[१]।

(ए) असत्याः—

ऋग्वेद में 'असत्याः' असत्य का बहुवचनान्त शब्द असत्याचरण के अर्थ में केवल एक ही स्थल पर प्रयोग हुआ है। जिसमें दुराचारियों को गम्भीर नरक स्थान को उत्पन्न करनेवाला कहा गया है। भ्रातृहीन तथा पति से द्वेष करनेवाली दुराचारिणी स्त्रियों के समान इधर-उधर घूमनेवाले असत्य और अनृत करनेवाले पापी जनों ने नरक स्थान को उत्पन्न किया है[२]।

इन असत्यवाची शब्दों से इतना तो सहज ही निष्कर्ष निकलता है कि ऋग्वेद में सदाचार की भावना अत्यन्त उन्नत रूप में थी, प्रत्येक जनमानस के पटल पर सदाचार की शिक्षाएँ अंकित थीं, जिनके आधार पर वह अपना जीवन-यापन सुखमय व्यतीत करता था। नैतिक जीवन से यदि कोई व्यक्ति थोड़ा भी पतित होता था तो उसकी समाज में निन्दा होती थी और वह सामाजिक जनों के आदर का पात्र नहीं रहता था।

ऋग्वेद के एक अन्य स्थल पर एक मनोवैज्ञानिक तथ्य का उद्घाटन किया गया है, जिसमें इस बात का संकेत किया गया है कि दुराचारी व्यक्ति का स्वभाव इतना पतित हो जाता है कि वह फिर सदाचार के मार्ग का पथिक नहीं बन सकता, क्योंकि उसके अंग-अंग में दुराचार की वृत्तियाँ पनप जाती हैं। इसीलिए तो ऋग्वेद में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि—'सत्य के मार्ग को दुराचारी पार नहीं कर सकते'। **'ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः'** ऋ० ९।७।३६। किन्तु जो सदाचारी हैं जिनका जीवन आचार शास्त्र के नियमों पर ढला हुआ है, ऐसे व्यक्ति के लिए ऋग्वेद में कहा गया है कि जैसे सामान्य नौकाएँ मनुष्य को नदी पार करा देती हैं, वैसे ही सत्य की नौकाएँ सुकृत करने वाले या सुकर्मा को भवसागर से पार कर देती हैं—

सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्। —ऋ० ९।७३।१

८. देवगण सत्य के रक्षक होते हैं और असत्यवादी को दण्डित करते हैं—

मानव अपने जीवन में असत्य को तभी अपनाता है जब वह यह समझता है कि मैं इस व्यवहार से आने वाले राजदण्ड से बच जाऊँगा और मेरी साख समाज में सत्यवादियों के रूप में जमी रहेगी, मैं इस असत्य कथन से पूर्ण प्रयत्न करूँगा कि किसी भी मानव को इसका ज्ञान या भान ही नहीं होगा कि यह असत्य कथन रूप पाप उस व्यक्ति के द्वारा हुआ है, लेकिन

---

१. **पराद्य देवा वृजिनं शृणन्तु प्रत्यगेनं शपथा यन्तु तृष्टाः।**
वाचास्तेनं शरव ऋच्छन्तु मर्मन्विश्वस्यैतु प्रसितिं यातुधानः॥ —ऋ० १०।८७।१५

२. **अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः।**
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्॥ —ऋ० ४।५।५
पदं नरकस्थानम्। —सायण भा० चौखम्बा संस्कृत सीरीज १९६६

ऋग्वेद की भावना इस प्रकार के आचरण के विपरीत है, क्योंकि उसमें—(अ) वरुण, (आ) इन्द्र, (इ) सोम, (ई) अग्नि आदि के विषय में कहा गया है कि वे असत्यवादी को अवश्य ही दण्डित करते हैं।

(अ) वरुण—

ऋग्वेद में वरुण को नैतिक देव के रूप में चित्रित किया गया है तथा उनके विषय में कहा गया है कि चाहे कोई व्यक्ति कितना भी छिपकर पापाचार एवं मिथ्याचार करे वह अवश्य ही उनसे पकड़ लिया जायेगा, क्योंकि छिपकर की हुई दो व्यक्तियों की मन्त्रणा को राजा वरुण तृतीय होकर जानता है[१]। ऋग्वेद में एक स्थान पर वरुण के विषय में कहा गया है कि वे मनुष्यों के मध्य सत्य और अनृत को देखते हुए विचरण करते हैं[२]। जो असत्यवादी होता है उसको वरुण के पाश बाँध लेते हैं और सत्यवादी को छूते तक नहीं[३]।

(आ) इन्द्र—

ऋग्वेद में इन्द्र राष्ट्रीय देव के रूप में उभरे हैं। इन्द्र भी राक्षसों और असत्यवादी को दण्डित करते हैं तथा इन दोनों को कारागार में भी डालते हैं[४]। ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्द्र ने स्वयं ही अपनी अभिलाषा व्यक्त करते हुए कहा है कि मैं आशानुरूप दान न करनेवाले सत्य के विनाशक और पापाचरण करनेवाले शक्तिशाली को भी नष्ट करता हूँ[५]। इससे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इन्द्र भी असत्यवादी को नहीं छोड़ता अपितु उनको कठोरतम दण्ड से दण्डित करता है, क्योंकि इन्द्र स्वयं सत्य पथगामी और निष्पाप है, इसीलिए ऋग्वेद में उनकी मित्रता की कामना करते हुए कहा गया है—हे इन्द्र! हम तेरी मित्रता को प्राप्त करें, तू हमें सत्य के पथ से ले चल और सब दुरित रूप पापों से पार कर[६]।

(इ) सोम—

सोम देव के विषय में भी ऋग्वेद में कहा गया है कि ज्ञानी व्यक्ति के लिए सच्चे और झूठे को जानना सरल होता है, क्योंकि दोनों के वचन परस्पर विरोधी होते हैं। इन दोनों में से जो सच्चा और ईमानदार है सोम उसकी रक्षा

---

१. **संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्।** —अथर्व० ४।१६।५
यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।—अथर्व० ४।१६।२

२. ऋ० ७।४९।३।

३. अथर्व० ४।१६।६।

४. ऋ० ७।१०४।१३।

५. **अनाशीर्दामहमस्मि प्रहन्ता सत्यध्वृतं वृजिनायन्तमाभुम्।** —ऋ० १०।२७।१
सत्यध्वृतं सत्यस्य हिंसकं अनृतवादिनं चेत्यर्थः।
वृजनायतं पापकर्तुमिच्छन्तमाभुं व्याप्नुवतम्। —सा० भा०

६. **वयमिन्द्र त्वायवः सखित्वमारभामहे।**
ऋतस्य नः पथा नयाति विश्वानि दुरिता॥ —ऋ० १०।१३३।६

करता है और झूठे को नष्ट करता है[१]। इसी प्रकार सोम पाप को कभी प्रश्रय नहीं देता। मिथ्या व्यवहार करनेवाले क्षत्रिय को भी बढ़ावा नहीं देता[२]। इन दोनों मन्त्रों से यह प्रकट होता है कि सोमदेव भी असत्यवादियों को दण्डित करते हैं।

(ई) अग्नि—

अग्नि के सम्बन्ध में ऋग्वेद में उल्लेख हुआ है कि अग्नि जातवेद अपने तेज से उस यातुधान को नष्ट करता है जो असत्य से सत्य को नष्ट करता है[३]। इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में अन्य देवों से भी यह कामना की गई है कि अन्य देवगण भी असत्यवादी के मर्मस्थल पर अपने तीखे बाण छोड़कर उसको आहत करें[४]।

इन उपर्युक्त उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि असत्य के विरुद्ध सभी देव हैं। उसका कारण यह है कि देव स्वभाव से ही सत्यवादी होते हैं, उनको झूठा मानव बिल्कुल ही पसन्द नहीं होता। इसीलिए कर्मकाण्ड के विशालतम ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण में देवों के सत्यवादी होने की परिभाषा सी करते हुए कहा गया है—'सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः[५]' जिसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि देव अपने जीवन में कभी असत्य कथन कर ही नहीं सकते, किन्तु मनुष्य लोभ एवं भय के कारण असत्य का भी सहारा ले सकता है, अतएव कहा गया—'अनृतं मनुष्याः'।

९. सत्य रक्षक रूप में—

ऋग्वेद में एक स्थान पर सत्य को रक्षक के रूप में स्वीकार करते हुए कहा गया है कि वह सत्यकथन मेरी चहुँ ओर से रक्षा करे[६]।

इस उक्ति से यह प्रकट होता है कि मानव सत्य से रक्षित रह चुका है तभी वह विश्वासपूर्वक इस प्रकार की प्रार्थना कर सकता है।

१०. कथन की सार्थकता कथित को करने में—

ऋग्वेद में जहाँ सत्यकथन पर बल दिया गया है वहाँ कथित को करने का भी उल्लेख किया गया है जैसा कि ऋग्वेद ४। ३३। ६ में कहा गया है कि ऋभुनामक नरों ने सत्य बोला और तदनुसार कार्य किया ऐसा करके उन्होंने सोमामृत रूप अन्न को प्राप्त किया। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कथित कार्य को कर लेने से ही सोम नामक अमृत प्राप्त किया जा सकता है अथवा अन्न की उपलब्धि हो सकती है[७]।

---

१. ऋ० ७। १०४। १२। २. ऋ० ७। १०४। १३।

३. **ऋतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति। तमर्चिषा स्फूर्जयञ्जातवेदः।** —ऋ० १०। ८७। ११

४. **वाचास्तेन शरव ऋच्छन्तु मर्मन्।** —ऋ० १०। ८७। १५

५. श०ब्रा० १। १। १। ४

६. **सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः।** —ऋ० १०। ३७। २

७. **सत्यमूचुर्नर एवाहि चक्रुरनु स्वधामृभवो जग्मुरेताम्।** अन्वयः—नरः सत्यम् ऊचुः, एवा हि सत्यमनु चक्रुः ऋभव एतां स्वधां जग्मुः। स्वधा इति अन्ननामसु। नि० २। ७, स्वधा-सोमाख्यममृतम्। —सा०भा०

११. सत्य से असत्य का अन्वेषण करनेवाला राष्ट्रपति हो—

ऋग्वेद में राष्ट्रपति के विषय में प्रार्थना करते हुए कहा गया है—हे राजन्! आप सत्य से असत्य का अन्वेषण करते हुए मेरे राष्ट्र के अधिपति हो।

१२. सत्य की दीक्षा—

सदा ही मानवीय जीवन की सार्थकता सत्यपालन में रही है, सत्यपालन से ही मानव के अन्दर दैवी भावों का उदय होता है तथा वह देवों का सामीप्य प्राप्त करता है, क्योंकि देव स्वाभाविक रूप से सत्यवादी होते हैं, उनके व्रतों में न्यूनाधिकता नहीं पाई जाती। परन्तु मानव का जीवन वैसा नहीं होता उसमें अटूट व्रत पालन की भावना का अभाव होता है। वह तो व्रत नियमों को जीवन में लाने का प्रयत्न करता है। इसके मानवीय विधान क्षण-क्षण में बदलने वाले होते हैं। यही मनुष्य में प्रविष्ट 'अनृत या असत्य' भाव है।

मनुष्य जितना सत्य नियम पालक होगा, सत्य के व्रत को जीवन में ढालने का यत्न करेगा, उसीका जीवन दीक्षित होगा तथा दीक्षा से सत्य उत्पन्न होता है, जैसा कि कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् में कहा गया है—

यः सत्यं वदति स दीक्षितः, सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठिता भवति।

—कौ० ४।३

१३. सत्यवान् तेजस्वी होता है—

सत्य और असत्य की विवेचना करते हुए कर्मकाण्ड के महान् ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण में अग्नि की तुलना सत्य से की है, जिस प्रकार कर्मकाण्ड में अग्नि एक प्रधान अंग है, अग्नि के न होने पर यागादि का होना सम्भव नहीं। इसी प्रकार नैतिक जीवन में सत्य एक प्रधान गुण है, इसके बिना नैतिक जीवन का कोई मूल्य नहीं है। इसलिए शतपथ ब्राह्मणकार ने कहा है कि जिस प्रकार जलती हुई अग्नि में घृत की आहुति डालने से अग्नि अधिक प्रदीप्त होता है, उसी प्रकार जो उत्तरोत्तर सत्य का पालन करता है वह अधिकाधिक तेज का सञ्चय करता है। नित्यप्रति कल्याण की ओर बढ़ता है। उसी प्रकार अनृत या असत्य की उपमा उस अग्नि से दी है जिसके ऊपर जल का सिञ्चन किया जाय, जिस प्रकार उस अग्नि का तेज मन्द पड़ जाता है उसी प्रकार अनृत से भरे हुए जीवन का तेज नित्यप्रति घटने लगता है और मनुष्य प्रतिदिन अधिकाधिक पाप में लिप्त हो जाता है इसलिए सत्य का व्यवहार करना चाहिए[1]।

१४. सत्य का प्रशंसक सत्य ही कहे—

ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है—

'ऋतं शंसन्त ऋतमित्त आहुः'। —ऋ० ३।४।७

---

१. **स यः सत्यं वदति यथाग्निं समिद्धन्तं घृतेनाभिषिञ्चेदेवं हैनं स उद्दीपयति तस्य भूयो भूय एव तेजो भवति, श्वःश्वः श्रेयान् भवत्यथ योऽनृतं वदति यथाग्निं समिद्धन्तमुदकेन अभिषिञ्चेदेवं हैनं स जासयति तस्य कनीय एव तेजो भवति श्वःश्वः पापीयान् भवति तस्मादु सत्यमेव वदेत्।** —शतपथ ब्राह्मण २।२।२।१९

ऋत की प्रशंसा करनेवाला व्यक्ति ऋत ही कहे, इस प्रकार ऋत या सत्य के कथन पर ऋग्वेद में बड़ा बल दिया गया है।

(ख) श्रद्धा—

श्रद्धा[१] शब्द 'श्रत्' और 'धा' इन दो शब्दों के मेल से बना है। 'श्रत्' शब्द का अर्थ 'सत्य' है[२] और 'धा' का अर्थ धारण, पोषण करना होता है, मन, वचन और कर्म से सत्य के धारण-पोषण करने को 'श्रद्धा' कहते हैं। बार-बार अनुभव और परीक्षा के द्वारा जब सत्य का वास्तविक रूप दृढ़ विश्वास का विषय बन जाता है, तभी वह 'श्रद्धा' पद से व्यवहृत होता है, अन्यथा नहीं। तर्क विरुद्ध रूढ़ियों और विश्वासों को मानना 'श्रद्धा' नहीं है। अन्धविश्वासों का ग्रहण श्रद्धा के अन्तर्गत नहीं होता।

श्रद्धा की महत्ता इससे भी प्रतीत होती है कि इसको सभी सम्प्रदायों के लोगों ने स्वीकार किया है, चाहे वह आस्तिक सम्प्रदाय को माननेवाला हो अथवा भगवान् की सत्ता को स्वीकार न करनेवाला नास्तिक शिरोमणि हो। दोनों ने श्रद्धा को स्वीकार किया है।

मानव जीवन के लिए 'श्रद्धा' का महत्त्व बहुत अधिक है। 'श्रद्धा' रहित जीवन में न तो आगे बढ़ने का चाव है, न निष्ठापूर्वक कार्य करने की क्षमता और न उसमें सफलता पाने की आशा ही होती है। यह जीवन तो उस सूखी नदी की भाँति है कि जिसमें न सरसता है न प्रवाह, न शीतलता है केवल सूखा रेत ही उड़ा रही है। अतएव जिज्ञासा को धारण करके सत्य का अनुसन्धान करना और प्रत्येक अवस्था में सत्य के अनुसार आचरण करना मनुष्यमात्र का परम कर्त्तव्य है। आत्मोन्नति और आत्मविकास के सभी अनुष्ठान श्रद्धापूर्वक करते रहना चाहिए।

१. श्रद्धा शब्द का प्रयोग—

ऋग्वेद में 'श्रद्धा' शब्द से दो प्रकार का भाव उपलब्ध होता है, प्रथम देवता रूप में एक पूरा सूक्त पाया जाता है। दूसरा जो जन सामान्य का 'विश्वास' का भाव है उसका भी अनेक स्थानों पर वर्णन पाया जाता है।

(१) श्रद्धा का देवता रूप—

श्रद्धा के देवता रूप की महत्ता का वर्णन ऋक् १०।१५१।१ में प्रस्तुत किया गया है—

श्रद्धयाग्निः समिध्यते, श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि, वचसा वेदयामसि॥

अग्नि श्रद्धा से प्रदीप्त की जाती है, यज्ञ की आहुति श्रद्धा से (यज्ञकुण्ड

---

१. विश्वास, निष्ठा, विश्वसनीय, निष्ठा के योग्य-अर्थ में द्रष्टव्य-मोनियर विलियम्स संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी-पृ० १०९५।
आस्था, निष्ठा, भरोसा, (२) दैवी सन्देशों में विश्वास, धार्मिक निष्ठा अर्थों में द्रष्टव्य-वामन शिवराम आप्टे संस्कृत हिन्दी कोश-पृ० १०३४।

२. निघण्टु ३, १०।

में) होमी जाती है। मैं वाणी से श्रद्धा के ऐश्वर्य की उन्नतावस्था का आवेदन करता हूँ।

हे श्रद्धे! मेरा यह कथन जन-जन में प्रिय हो। ऋक् १०।१५१।२ में उल्लेख किया गया है—

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि॥

हे श्रद्धे! (मे इदम् उदितम्) मेरा यह कथन दान देते हुए का प्रिय करे और दान देने की इच्छा करनेवाले पुरुष को भी मेरा वचन प्रिय लगे। मेरा यह कथन भोज करने करानेवालों को रुचे और यज्ञ करनेवालों में यह कथन प्रिय हो।

जीवन संघर्ष में श्रद्धा का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए ऋक् १०।१५१।३ में लिखा है—

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि॥

जिस प्रकार धनादि और विजयादि चाहनेवाले जन शत्रुओं को भयभीत करनेवाले बलवान् पुरुषों पर श्रद्धा कर लेते हैं उसी प्रकार भोजन करने करानेवाले (सर्वपालक) जनों में और यजन या दानशील जनों में हमारा वचन श्रद्धायोग्य करो[1]।

श्रद्धा देवी की सभी उपासना करते हैं इसका उल्लेख ऋक् १०।१५१।४ में किया गया है—

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥

यज्ञ करनेवाले एवं प्राणों द्वारा शक्ति स्वरक्षित रखने वाले (योगीजन) तथा दिव्य गुण कर्म करनेवाले देवजन सभी श्रद्धा देवी की उपासना करते हैं। सभी जन हृदयगत संकल्परूप भाव से श्रद्धा की परिचर्या करते हैं जिसके कारण ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं।

श्रद्धामय जीवन की झाँकी का मनोरमरूप ऋक् १०।१५१।५ में प्रस्तुत किया गया है—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥

हम प्रातःकाल श्रद्धा को पुकारते हैं, मध्याह्न में भी श्रद्धा का आह्वान करते हैं। हम सूर्य छिपने के बाद रात्रि को भी बुलाते हैं। हे श्रद्धा देवी! तू हमारा जीवन श्रद्धायुक्त कर[2]।

---

१. यह अर्थ जयदेव के अनुसार है, किन्तु सायण ने इसका अर्थ किया है—
'देवाः इन्द्रादयः असुरेषु उद्‌गूर्णबलेषु यथा श्रद्धां चक्रिरे। अवश्यमिमे हन्तव्या इत्यादरातिशयं कृतवन्तः'॥

२. **निम्रुचि-अस्तमयवेलायां सायंसमयेऽपि।** —सा०भा०

ऋग्वेद के परवर्ती वैदिक साहित्य में श्रद्धा के कुछ और सम्बन्ध उपलब्ध होते हैं, जो भावात्मक न रहकर सम्बन्धवाचक हो गये हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में श्रद्धा को प्रजापति की दुहिता बताया गया है[१]। शतपथ ब्राह्मण में इसको सूर्य की दुहिता कहा गया है[२] और ऐतरेय ब्राह्मण में श्रद्धा को सत्य यजमान की पत्नी कहा गया है[३]।

(२) श्रद्धा शब्द से विश्वास अर्थ—

ऋग्वेद में श्रद्धा का दूसरा भाव जिसका अर्थ विश्वास अथवा निष्ठा है वह भी प्राप्त होता है। यह एक विस्मयजनक बात है कि साहित्य में जहाँ विश्वास, निष्ठा, आस्था, विश्वस्त, विश्रब्ध, विश्रम्भ आदि शब्दों का उल्लेख श्रद्धा शब्द के समानार्थों में हुआ है[४] वहाँ ऋग्वेद में केवल श्रद्धा शब्द ही उपलब्ध होता है। इस शब्द में ही उपर्युक्त शब्दों का अर्थ समाहित है जो कि आगे स्पष्ट किया जाएगा।

(अ) दृढ़विश्वास—

श्रद्धा शब्द का प्रयोग दृढ़विश्वास के अर्थ में ऋक् १।१०८।६ में हुआ है—

यदब्रवं प्रथमं वां वृणानो यं सोमो असुरैर्नो विहव्यः।
तां सत्यां श्रद्धामभ्या हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य॥

हे इन्द्र और अग्नि! तुम दोनों को चुनते हुए पहले कहा था कि यह सोम हमारे ऋत्विजों (असुरैः) के द्वारा (विशेष) आहुति के योग्य है, उस सत्य दृढ़विश्वास को अभिलक्ष्य करके आओ और अभिषुत सोम का पान करो[५]।

(आ) आस्था—

ऋग्वेद १०।३९।५ में 'श्रद्दधत्' का अर्थ 'आस्था करे' प्रतीत होता है—

'ता वां नु नव्याववसे करामहे यं नासत्या श्रदरिर्यथा दधत्'।

हे नासत्यो! आप दोनों की रक्षा के लिए स्तुति करते हैं जिससे यह स्वामी आस्था करे। इसी प्रकार ऋग्वेद १।१०४।६ में कहा है—हे इन्द्र! तेरे महान् सामर्थ्य और ऐश्वर्य के लिए हमारी आस्था है[६]।

(इ) निष्ठा—

ऋग्वेद ८।१।३१ में 'श्रद्धा' शब्द का अर्थ निष्ठा ज्ञात होता है—

आयदश्वान् वनन्वतः श्रद्धयाहं रथे रुहम्।

यदि मैं अश्वों को विभक्त करता हुआ शत्रुओं से धन हरण करने के लिए निष्ठा के साथ रथ पर चढ़ूँ[७]।

---

१. —तैत्तिरीय ब्राह्मण २।३।१०।१।
२. **श्रद्धा सूर्यस्य दुहिता।** —शत०ब्रा० १२।७।३।११
३. **श्रद्धा पत्नी सत्यं यजमानः।** —ऐत० ब्रा० ८।१०
४. शब्द कल्पद्रुम कोश-पृ० ४३६-४३७।
५. **असुरैः-हविषां प्रक्षेपकैर्ऋत्विग्भिः।** —सा०भा०
६. **न श्रद्धितं ते महत इन्द्रियाय।** —ऋ० १।१०४।६। इन्द्रियाय, बलाय।
७. **यदि अहमश्वान्भजनवतः शत्रुभ्यो धनाहरणश्रद्धया रथे आरुहम्।** —वेंकट०भा०

(ई) विश्वास—

'श्रद्धा' शब्द का प्रयोग 'विश्वास' अर्थ में अधिक हुआ है। जैसा कि ऋक्० में अनेक स्थानों पर पाया जाता है। ऋक् १।१०३।५ में कहा गया है कि इन्द्र के इस प्रवृद्ध और विस्तीर्ण वीर्य को देखो, उनकी शक्ति पर विश्वास करो[१]। ऋक् १०।१४७।१ में उल्लेख हुआ है, हे इन्द्र! मैं तेरे मुख्य तेज के लिए विश्वासी हूँ जिससे तू गतिशील वृत्र (मेघ) को मारता है और इस लोक में जल प्रदान करता है[२]। ऋक् १।१०४।७ का मुद्गल भाष्य के अनुसार अर्थ इस प्रकार है—हे इन्द्र! तुझ को मन से जानता हूँ तेरे उस बल के लिए हम सब ने विश्वास किया, सुखवर्षक इन्द्र महान् ऐश्वर्य के लिए प्रेरित करे[३]। ऋक् ७।३२।१४ में कहा है—हे इन्द्र! तू जिसे शरण देता है उसे कौन मनुष्य दबा सकता है, अर्थात् कोई नहीं दबा सकता। हे धनी इन्द्र! तेरे लिए जो विश्वास (श्रद्धा) युक्त होकर हविवाला हो वह स्वर्ग और इस लोक में अन्न और बल का उपभोग करता है[४]। इन्द्र पर लोगों को क्यों 'विश्वास' है इसका उल्लेख ऋक् १।५५।५ में प्रस्तुत किया गया है—वह ही (इन्द्र) योद्धा शक्ति और पराक्रम से प्रजा के कल्याण के लिए बड़े युद्धों को करता है तथा शत्रुनाशक शस्त्रों का प्रयोग करता है तभी तेजस्वी इन्द्र पर लोगों को विश्वास है[५]।

एक अन्य ऋचा में इन्द्र के सम्बन्ध में कहा गया है—

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥

—ऋक् २।१२।५

मनुष्य जिस भयंकर देव को पूछते हैं कि वह कहाँ है? जिसके विषय में कहते हैं कि वह नहीं है जो शासक की भाँति शत्रुओं का सारा धन विनष्ट करते हैं, हे मनुष्यो! (जनासः) विश्वास करो वह ही इन्द्र है।

उल्लेखनीय बात यह है कि 'श्रद्धा' शब्द के ये अर्थ 'विश्वास' अर्थ के विकास मात्र ही हैं, जो कि परवर्ती साहित्य में ये शब्द अधिकता से प्रयुक्त हुए हैं।

३. श्रद्धा भाव की उत्पत्ति—

श्रद्धा भाव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जब हम विचार करते हैं तब यही बात समझ में आती है कि उसकी उत्पत्ति का मूल कारण है दूसरे का महत्त्व स्वीकार करना, बिना महत्त्व स्वीकार किये श्रद्धा जैसा पवित्र भाव उत्पन्न नहीं होता। जब हम ऋग्वेद के देव समाज पर दृष्टिपात करते हैं तब यह बात

---

१. **तदस्येदं पश्यता भूरि पुष्टं श्रदिन्द्रस्य धत्तन वीर्याय।**
२. **ऋते दधामि प्रथमाय मन्यवेऽहन्यद् वृत्रं नर्यं विवेरपः।**
३. **अध मन्ये श्रत्ते अस्मा अधायि वृषा चोदस्व महते धनाय।** द्रष्टव्य—मुद्गल भाष्य
४. **कस्तमिन्द्र त्वा वसुमा मर्त्यो दधर्षति।**
श्रद्धा इत्ते मघवन् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति॥ —ऋ० ७।३२।१४
५. **स इन्महानि समिधानि मज्मना कृणोति युध्म ओजसा जनेभ्यः।**
अधा चन श्रद्दधति त्विषीमत इन्द्राय वज्रं निघनिघ्नते वधम्॥ —ऋ १।५५।५

और भी युक्तियुक्त प्रतीत होने लगती है, क्योंकि देवों का महत्त्व ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर प्रदर्शित किया गया है। कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा।

ऋग्वेद में वर्णित सभी देव महत्त्वशाली हैं। सभी पर सब की श्रद्धा हो सकती है, किन्तु ऋग्वेद में श्रद्धा शब्द के प्रयोग के विषय में देवियों का प्रतिनिधित्व वागम्भृणी ने किया है तो देवों में ब्रह्मणस्पति और विशेषकर इन्द्र सभी देवों के प्रतिनिधि रूप में उल्लिखित किये गये हैं।

स्मरणीय बात यह है कि वागम्भृणी देवी ने अपना महत्त्व स्वयमेव प्रस्तुत करते हुए कहा है—

देवता और मनुष्य जिसकी शरण में जाते हैं उसको मैं ही उपदेश देती हूँ। मैं जिसे चाहूँ उसे बलशाली, स्तोता, ऋषि और बुद्धिमान् कर सकती हूँ[१]। जो प्राण धारण करता है, देखता, सुनता और अन्न का सेवन करता है, वह मेरी सहायता से ही यह सब कार्य करता है, जो मुझे नहीं मानते वे क्षीण हो जाते हैं। विज्ञ सुनो, जो मैं कहती हूँ वह श्रद्धेय है[२]।

ब्रह्मणस्पति पर श्रद्धा का कारण उन का बड़प्पन प्रतीत होता है, क्योंकि उन्हें देवों का पिता कहा गया है। इसलिए इनकी सेवा श्रद्धायुक्त मन से की जाय। जैसा कि ऋक् २।२६।३ में कहा है—जो सच्चे श्रद्धायुक्त (विश्वस्त) मन से देवों के पिता ब्रह्मणस्पति की सेवा करता है वह अपने मनुष्य एवम् आत्मीय जन पुत्र तथा अन्य लोगों के साथ अन्न-धन प्राप्त करता है[३]।

इन्द्र पर श्रद्धा करने का कारण उनके वीरोचित कार्य हैं। ऋग्वेद में इन्द्र ही अधिक दुष्ट-दलन, सज्जन, रक्षक (सत्पति) और धन-धान्य से प्रजा का पालन करने के रूप में उल्लिखित हैं, इसलिए इन्द्र पर श्रद्धा का होना स्वाभाविक है[४]।

यह भी स्मरणीय रहे कि 'श्रद्धा' शब्द का प्रयोग इन्द्र के लिए ही विशेष रूप से हुआ है। इन्द्र का परिचय देते हुए यही कहा है कि मनुष्य जिस भयंकर देव के सम्बन्ध में जिज्ञासा करते हैं वे कहाँ हैं? जिसके विषय में कहते हैं वे नहीं हैं, जो शासक की तरह शत्रुओं का सारा धन नष्ट करता है मनुष्यो, श्रद्धा (विश्वास) करो वही इन्द्र है। इन्द्र पर ही श्रद्धा क्यों उमड़ती है उसका कारण बताते हुए एक अन्य ऋचा में कहा है—वह ही (इन्द्र) योद्धा शक्ति और पराक्रम से प्रजा के कल्याण के लिए बड़े युद्धों को करता है तथा शत्रुनाशक अस्त्रों का प्रयोग करता है तभी तेजस्वी इन्द्र पर लोगों को श्रद्धा है[५]।

श्रद्धा एक सामाजिक भाव है जो कि सदाचार से पोषित होता है और सभी धर्मावलम्बियों में पाया जाता है जिसका मूल स्रोत हमें ऋग्वेद में उपलब्ध होता है।

---

१. ऋग्वेद १०।१२५।५

२. **मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।**
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥ ऋ० १०।१२५।४

३. ऋ० २।२६।३। ४. ऋ० २।१२।५। ५. ऋ० १।५५।५।

अध्याय : ४
अहिंसा का भाव

इससे पूर्व अध्याय में सत्य और श्रद्धा का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में 'आचार शास्त्र या यमों' के द्वितीय मुख्य विषय 'अहिंसा' का ऋग्वेद के आधार पर ऊहापोह के साथ प्रतिपादन किया जाएगा।

१. अहिंसा का स्वरूप—

मन, वचन तथा कर्म से किसी को हानि न पहुँचाना अहिंसा कहलाती है, क्योंकि दूसरे की हानि या हिंसा करने से स्वयम् अपनी ही हानि या हिंसा होती है। इसलिए दूसरे की हानि या हिंसा नहीं करनी चाहिए। जैसा कि ऋग्वेद ८।१८।१३ में कहा गया है—

यो नः कश्चिद्रिरिक्षति रक्षस्त्वेन मर्त्यः। स्वैष एवैरिरिषीष्टयुर्जनः॥

जो कोई व्यक्ति हिंसा भाव (राक्षस भाव) से हमारी हिंसा करना चाहता है, वह अपने ही कर्मों से स्वयं हिंसित हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि अपनी हिंसा न चाहनेवाले को दूसरे की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

२. ऋग्वेद की मूल भावना अहिंसामय सुख और शान्ति की है—

ऋग्वेद के अध्ययन से यह भली भाँति विदित होता है कि ऋग्वेद की मूल भावना अहिंसामय जीवन को सुख और शान्ति से व्यतीत करने की है। इसीलिए ऋग्वेद के अनेक स्थानों पर सुख को देनेवाले गौ, अश्व, धन-धान्य से युक्त वीर पुत्रों की कामना की गई है। ऋग्वेद में सुख को व्यक्त करने वाले शब्दों का अनेक स्थानों पर पर्यायवाची शब्दों के रूप में बहुलता के साथ प्रयोग पाया जाता है। इन सुखवाची शब्दों का संग्रह सर्वप्रथम आचार्य यास्क ने अपने (वैदिक कोश) निघण्टु में किया है[1]। जिनसे यह भी ज्ञात होता है कि यास्क की दृष्टि में सुख, शान्ति[2] एवं कल्याण आदि शब्द सुख के वाची हैं[3] जिससे सुख के व्यापक अर्थ का ज्ञान होता है।

३. सुख-शान्ति की भावना से ऋग्वेद ओत-प्रोत है—

अहिंसा से सुख-शान्ति प्राप्त होती है और एक सुखी जीवन अहिंसामय

---

१. **शिम्बाता, शतरा, शान्तपन्ता, शर्म, स्यूमकम्, शेवृधम्, मयः, सुग्म्यम्, सुदिनम्, शुषम्, शुनम्, शुग्मम्, भेषजम्, जलाषम्, स्योनम्, सुम्नम्, शेवम्, शिवम्, शम्, कम् इति विंशति सुखनामानि।** —नि० ३।६
ऋग्वेद में स्यूमकम् शब्द को छोड़कर शेष १९+१-सुख=२० शब्दों का प्रयोग हुआ है।

२. शम्+क्तिन् प्रत्ययान्त शान्ति शब्द ऋग्वेद में नहीं मिलता परन्तु यजु० ३६।१७, अथर्व० १९।९।१४ में यह शब्द इसी अर्थ में पाया जाता है।

३. **'सुखं कस्मात् सुहितं खेभ्यः'।** —निरुक्त ३।३
सुखमिति कल्याणनाम कल्याणं पुण्यं सुहितं भवति सुहितं गमयति वा॥ वही ९।१

होता है, ऋग्वेद भी सुख-शान्ति की भावना से ओत-प्रोत है, क्योंकि सुख-शान्ति के वाचक अनेक शब्द इसमें पाये जाते हैं जिससे अहिंसा की भावना परिलक्षित होती है।

ऋग्वेद में उपलब्ध होनेवाले सुख के वाचक शब्द। (अ) सुखम्, (आ) स्योनम्, (इ) मयः, मयोभुः, मयोभूः, (ई) सुग्म्यम्, (उ) शग्म्यम्, (ऊ) सुम्नम्, (ऋ) सुदिनत्वम्, सुदिनम्, (ॠ) मर्डितृ, (ऌ) शर्मन्, (ए) शुनम्, (ऐ) शिवम्।

(अ) सुखम्—

'सुख' शब्द से उत्पन्न होनेवाले भाव का सम्बन्ध प्रधानतया शरीर से प्रतीत होता है, क्योंकि सुख के विषय में कहा गया है कि जो इन्द्रियों के लिए सुहितकर हो वही सुख कहलाता है। आचार्य यास्क ने भी 'सुख' शब्द का निर्वचन करते हुए कहा है "जो इन्द्रियों के लिए सुखकर हो और वह कल्याणकर पुण्य एवं सुहितकर हो[१]।"

ऋग्वेद में भी 'सुख' शब्द के विषय में यही भावना पाई जाती है, जैसा कि उषस् को सम्बोधित करते हुए कहा गया है—'हे उषा! तू जिस रथ पर अधिष्ठित है, वह रथ बड़ा सुन्दर है और सुखदायी है। हे द्युलोक की दुहिता उषादेवी उसी सुन्दर एवं सुखद रथ से इस समय आकर सुज्ञानी यजमान की रक्षा कर[२]।'

आचार्य सायण ने यहाँ सुख को विशेषण मानकर अर्थ किया है कि जो रथ सुन्दर आकाश (अवकाश) से युक्त हो, अर्थात् विस्तृत हो, जिसमें बैठने-उठने, चलने-फिरने की पर्याप्त सुविधा हो, अथवा सुख को क्रियाविशेषण मानकर अर्थ होगा कि 'सुख जैसे हो वैसे' अर्थात् रथ में बैठने से जो विश्राम मिलता है उसे सुख कहते हैं[३]।

ऋग्वेद ३।३५।४ में इन्द्र को सोमपानार्थ बुलाते हुए कहा गया है—स्थिर एवं सुखद रथ पर आरूढ़ हुए हे इन्द्र! तुम सोमपान करने को आओ[४]। यहाँ पर भी रथ का विशेषण 'सुखम्' शब्द है।

उल्लेखनीय बात यह है कि 'सुख' शब्द का ऋग्वेद में जहाँ पर भी प्रयोग किया गया है वहाँ वह रथ शब्द[५] के साथ ही किया गया है जिससे ज्ञात होता है कि रथ ऐसा होना चाहिए जो मनुष्य को सभी प्रकार से सुख देने वाला हो जिससे यात्रा सुखमय हो सके।

---

१. निरुक्त ३।३ तथा ९।१।

२. **सुपेशसं सुखं रथं यमध्यस्था उषस्त्वम्।**
तेना सुश्रवसं जनं प्रावाद्य दुहितर्दिवः॥ —ऋ० १।४९।२

३. **'सुखं शोभनेन खेन आकाशेन युक्तं विस्तृतमित्यर्थः। यद्वा सुखहेतुभूतम्,** अथवा **सुखमिति क्रियाविशेषणम्, सुखं यथा भवति तथेत्यर्थः।'** —सा०भा०

४. **स्थिरं रथं सुखमिन्द्राधितिष्ठन् प्रजानन् विद्वान् उपयाहि सोमम्।** —ऋ० ३।३५।४

५. 'सुख' रथ के विशेषण के रूप में दे० ऋ० १।१३।४, १६।२, २०।३, १२०।११, ५।५।३, ३०।१, ६०।२, ६३।५, ८।५८।३, ९।११२।४, १०।७५।९।

ऋग्वेद सुख की भावना से ओत-प्रोत है, क्योंकि सुख के वाची अनेक शब्द इसमें पाये जाते हैं।

(आ) स्योनम्—

स्योनम् शब्द सुख के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में सुख तथा सुख के साधनों का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है, जैसे जातवेद अग्नि को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि वह जिस सुकृत कर्म करनेवाले के लिए सारे लोक को सुखदायी बना देता है। वह सुकर्मा मानव गौ, अश्व, पुत्र-पौत्रादि सहित बहुविध ऐश्वर्यों को प्राप्त होता है, जो ऐश्वर्य चिरस्थायी होकर उसका कल्याण (स्वस्ति) करता है[१]।

यद्यपि ऋग्वेद में देवों से सुख प्राप्ति की कामना अधिक की गई है तथापि मानवीय जीवन को सुखी बनाने के लिए मानव जाति को सृजन करनेवाली वधू से भी सुख की कामना ऋग्वेद में की गई है। जैसा कि गृहस्थ जीवन में प्रवेश करती हुई नववधू से सुख की अभिलाषा करते हुए कहा गया है कि वह 'स्योना' सब को सुख देनेवाली वधू हम दोपाये मनुष्यों के साथ-साथ चौपाये गौ आदि पशुओं को भी सुखदायिनी हो[२]।

अथर्ववेद में और ही स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है—हे वधू! तू श्वसुरादि के लिए सुखदायी पति के लिए सुख देनेवाली परिवार के अन्य सम्बन्धियों के लिए सुखदायी हो और इस सब प्रजा के लिए सुखप्रद हो तथा इनकी पुष्टि के लिए तत्पर हो[३]। इस मन्त्र में 'स्योना' शब्द अनेक बार प्रयोग होने से सुख की विशेष कामना व्यक्त होती है। ऋग्वेद में भी 'स्योनम्' (सुख) शब्द का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है[४]।

(इ) मयः, मयोभुः, मयोभूः—

मयः शब्द का अर्थ सामान्यतया 'सुख' है इसका ऋग्वेद में २० बार प्रयोग हुआ है। अधिकतर 'मयः' शब्द के द्वारा भी देवों से सुख की कामना की गई है—'**उत नो विष्णुरुत वातो अस्त्रिधो द्रविणोदा उत सोमो मयस्करत्।**' व्यापक विष्णु, अहिंसक होता हुआ वायु और धनप्रदाता सोम हमें सुखी करें[५]।

जहाँ 'मयः' शब्द से देवों से सुखी करने की प्रार्थना अधिक की गई वहाँ स्त्री-पुरुषों के परस्पर आलिंगन सुख को भी 'मयः' शब्द से ऋग्वेद में

---

१. **यस्मै सुकृते जातवेद उ लोकमग्ने कृणवः स्योनम्।**
अश्विनं स पुत्रिणं वीरवन्तं गोमन्तं रयिं नशते स्वस्ति॥ —ऋ० ५।४।११

२. **स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।** —ऋ० १०।८५।४४

३. **स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।**
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव॥ —अथर्व० १४।२।२७

४. —ऋ० १।३१।१५, ७३।१, ६।१६।४२, ७।४२।४, १०।११०।४,८, ७०।८, ७३।७ आदि।

५. —ऋ० ५।४६।४। अस्त्रिधः अहिंसकः सन्। —सा०भा०

अभिहित किया गया है[१]।

मयोभुः, मयोभूः—

ह्रस्व और दीर्घ उकारान्त ये दोनों शब्द ऋग्वेद में सुख को उत्पन्न करनेवाले[२] अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

ऋग्वेद १।१३।९ में तीन देवियों के विषय में कहा गया है—सुख को उत्पन्न करनेवाली अहिंसनीया इडा, सरस्वती और मही नाम की तीन देवियाँ इन कुशाओं पर विराजें।[३]

ऋग्वेद में इडा, सरस्वती और मही ही सुख के उत्पादक नहीं कही गई अपितु सरस्वती[४], वायु[५], सोम[६] तथा उनकी रक्षण शक्तियाँ वहनशील जलधाराएँ[७], मरुत्[८], पूषा[९], अश्विनौ[१०] तथा उनकी रक्षण शक्तियाँ नदियाँ[११], अश्व[१२], वृष्टियाँ[१३], आप[१४], वह्नि[१५], हव्य[१६], पर्जन्य[१७], ग्रावा[१८], आदित्य[१९], औषधियाँ[२०], मित्रावरुण[२१], असुर[२२], अग्नि[२३], इन्द्रादि[२४] सभी सुख के उत्पादक हैं, ये सभी देव मयोभुः या मयोभूः शब्दों से युक्त विशेषणों से उल्लेख सभी मण्डलों में किये गये हैं।

(ई) सुग्म्यम्—

'सुग्म्यम्' शब्द भी सुख के अर्थ में अनेक बार प्रयोग हुआ है[२५], ऋग्वेद १।४८।१३ में धन के सम्बन्ध में उषस् से प्रार्थना की गई है—

'सा नो रयिं विश्ववारं सुपेशसमुषा ददातु सुग्म्यम्'।

वह उषा हम को वरणीय, सुरूप और सुखद धन प्रदान करे।

---

१. **मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे।** —ऋ० १०।४०।१०
२. ऋ० १।१३।९।
३. **इडा सरस्वती मही तिस्रो देवी मयोभुवः।**
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥ मयोभुवः सुखोत्पादिकाः। —सा०भा०
४. ऋ० १।१६४।४९।
५. ऋ० १।८९।४, १०।१६९।१।
६. ऋ० ९।७८।४, १०।१०९।१, १।९१।१।
७. ऋ० १।१२५।४।
८. ऋ० १।१६६।३, ५।५८।१, ८।२०।२३।
९. ऋ० १।१३८।१,२।
१०. ऋ० १।९२।१७, ११७।१९, ५।४२।१८, ४३।८,१७, ७३।९, ७६।५, ७७।५, ८।८।९,१९, ८६।१, १०।३९।५।
११. ऋ० ५।४३।१
१२. ऋ० ७।४०।६।
१३. ऋ० ७।१०१।५।
१४. ऋ० १०।१०९।१।
१५. ऋ० ९।६५।२८।
१६. ऋ० १०।३९।१०।
१७. ऋ० ६।५२।६।
१८. ऋ० १।८९।४।
१९. ऋ० २।२७।५।
२०. ऋ० २।२३।१४।
२१. ऋ० ५।४२।२।
२२. ऋ० ५।४२।१।
२३. ऋ० ३।१६।६।
२४. ऋ० १।८४।१६।
२५. ऋ० १।१७३।४, ८।२२।१५।

(उ) शग्म्यम्—

'शग्म्यम्' शब्द का अर्थ भी सामान्यतया सुख है इसका ऋग्वेद में ११ बार प्रयोग हुआ है।

वास्तोष्पति आर्यों का गृह-निर्माण का देवता है इसलिए उससे योगक्षेम एवं सुख की कामना की गई है—

वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

—ऋ० ७।५४।३

हे वास्तोष्पते! हम तुम्हारा सुखकर रमणीय और धनवान् स्थान प्राप्त करें। तुम हमारे शोभन योगक्षेम में हमारी रक्षा करो तथा हमारा कल्याण के साथ पालन करो।

(ऊ) सुम्नम्—

'सुम्नम्' शब्द सुख अर्थ में लगभग एक सौ बार ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है, जिससे सुख पाने की अभिलाषा की तीव्रता स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है। इस शब्द का प्रयोग अधिकतर उस सुख के लिए किया गया है जो बड़ों से छोटों को प्राप्त होता है, जिससे इसका सम्बन्ध प्रेमपूर्वक वात्सल्य भावना के साथ प्रतीत होता है। जैसा कि निम्न उदाहरणों से स्पष्ट है।

ऋग्वेद १।११४।९ में मरुतों के पिता से सुख की प्रार्थना की है—हे मरुतों के पिता! तू हमें सुख प्रदान कर[1]। रुद्र से कामना की है—हे दुष्टों को क्षीण करनेवाले रुद्र! हमें तेरा सुख प्राप्त हो[2]। इन्द्र के साथ भी माता-पिता का सम्बन्ध स्थापित करते हुए सुख की अभिलाषा की है—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥ —ऋ० ८।९८।११

हे सब को बसानेवाले शतक्रतो (इन्द्र)! तुम हमारे पिता हो और तुम ही हमारी माता हो इसलिए हम तुम से सुख की कामना करते हैं, क्योंकि हे वृत्रहन् (इन्द्र)! तुम्हारे परम सुख का कोई हनन नहीं कर सकता[3]।

ऋग्वेद में यह कामना की गई है—'हे इन्द्र! मेधावी जन तेरे उत्कृष्ट सुख को पायें[4], लेकिन दुष्टाचारी लोग तेरे उत्कृष्ट सुख को न प्राप्त हों[5], क्योंकि दुष्टाचारी सुखी होने का अर्थ होगा हिंसादि दुष्ट-भावनाओं का उदय। इसलिए अहिंसा की भावना के लिए दुष्ट सुखी न हों, यही कामना युक्तियुक्त प्रतीत होती है। अग्नि से भी अन्य प्रार्थनाओं के साथ बुद्धिमानों को भी सुखी होने की प्रार्थना की है। हे अग्ने! तू हमें स्तेन विहीन पथों से धन-

---

१. **रास्वा पितर्मरुतां सुम्नमस्मे।** —ऋ० १।११४।९, २।३३।१।
२. **क्षयद्वीर सुम्नमस्मे ते अस्तु।** —ऋ० १।११४।१०।
३. **न तत्ते सुम्नमष्टवे।** —ऋ० ४।३०।१९
४. **ब्रह्मण्यन्त इन्द्र ते नवीय इषमूर्जं सुक्षितिं सुम्नमश्युः।** —ऋ० २।१९।८
५. **मा दुरेवा उत्तरं सुम्नमुन्नशन्।** —ऋ० २।२३।८

धान्य को प्राप्त कराके हमारा कल्याण कर और पाप से बचा। तू बुद्धिमानों और मुझ स्तोता को सुख प्रदान करता है, हम वीर पुत्रोंवाले शत वर्षों तक हर्ष (सुख) का अनुभव करें[१]।'

सोम से अक्षय सुख की याचना की है—**याचन्ते सुम्नं पवमानमक्षितम्**—ऋ० ९।७८।३। देवों के सुख की भिक्षा का उल्लेख भी ऋग्वेद में किया गया है[२]। जिससे सुख प्राप्त करने की उत्कट कामना परिलक्षित होती है।

(ऋ) सुदिनत्वम्, सुदिनम्—

ऋग्वेद में 'सुदिनत्व' शब्द भी सुखार्थ में अनेक बार प्राप्त होता है, जिसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि सभी वस्तुएँ यदि सुख प्रदान करने वाली हों तो हमारा वह दिन सुखदायी होगा, अर्थात् वह 'सुदिनत्व' कहलाएगा। इन्द्र से सुदिनत्व के लिए प्रार्थना की गई है—

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥

—ऋ० २।२१।६

हे इन्द्र! हमें श्रेष्ठ धन, अन्न, बल प्रदान करो, कर्म करने की सामर्थ्य हो। धनैश्वर्यों की अभिवृद्धि, शरीरों की नीरोगता, वाणी का माधुर्य और सब दिनों का सुख (सुदिनत्व) प्रदान करो।

इस 'सुदिनत्व' के प्रकरण में उल्लेखनीय बात यह है कि जहाँ भी ऋग्वेद में 'सुदिनत्व' शब्द आया है उस मन्त्र में 'अह्नाम्' शब्द अवश्य ही पड़ा हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि देवों से जीवन के सभी दिनों को 'सुदिनत्व' करने या सुखमय बनाने की कामना की गई है, किसी विशेष दिन को सुखमय बनाने का आग्रह नहीं किया गया है।

सुदिनम्—

ऋग्वेद में 'सुदिनत्व' के अतिरिक्त 'सुदिन' शब्द भी सुखवाची १२ बार प्रयुक्त हुआ है।

अग्निदेवों के साथ जिस घर में आते हैं उस घर के दिन 'सुदिन' में बदल जाते हैं—

यस्य देवैरासदो बर्हिरग्नेऽहान्यस्मै सुदिना भवन्ति।—ऋ० ७।११।२

जिसके घर देवों के साथ अग्नि प्रतिष्ठित होते हैं उस यजमान के लिए सब दिन 'सुदिन' (सुखमय) हो जाते हैं। इन्द्र को सम्बोधित करके कहा गया है, हे इन्द्र! जो विद्वान् लोग तेरी मित्रता को नहीं भुलाते उनके लिए शुभ दिन प्रकट कर[३], हे इन्द्र! (हमारे) दिन सुदिन में बदल जायें[४]। इसी प्रकार

---

१. **नू नो अग्नेऽवृकेभिः स्वस्ति वेषि रायः पथिभिः पर्ष्यंहः।**
ता सूरिभ्यो गृणते रासि सुम्नं मदेम शतहिमाः सुवीराः॥ —ऋ० ६।४।८

२. **इदं नूनमेषां सुम्नं भिक्षेत मर्त्यः।** —ऋ० ८।१८।१

३. **न ते भोजस्य सख्यं मृषन्ताधा सूरिभ्यः सुदिना व्युच्छान्।** —ऋ० ७।१८।२१

४. **अहा यदिन्द्र सुदिना व्युच्छान्।** —ऋ० ७।३०।३

उषस् और ऋभुओं से प्रार्थना की गई है[१]।

(ऋ) मर्डितृ—

ऋग्वेद में 'मृड' धातु से निष्पन्न सुबन्त और तिङन्त शब्द भी सुख अर्थ के वाचक हैं जिनका लगभग शत बार उल्लेख हुआ है और 'तृच्' प्रत्ययान्त 'मर्डितृ' शब्द विशेष रूप से पाया जाता है।

ऋग्वेद में इन्द्र को सर्वश्रेष्ठ सुखदाता बताया गया है—

न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः। —ऋ० १।८४।१९

हे मघवन् इन्द्र! (वास्तव में) तुझ से भिन्न कोई दूसरा सुख देनेवाला नहीं है इसलिए मैं तेरी स्तुति करता हूँ। ऋग्वेद में अन्य स्थानों पर भी इसी भावना को व्यक्त किया गया है—

'न हि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता'।

—ऋ० ८।६६।१३

ऋग्वेद में सोम से पिता के समान सुखी करने की प्रार्थना की गई है। हे सोम! पिता के समान हमें सुखी करो[२]। हे सोम! यद्यपि हम तेरे व्रतों को तोड़ते हैं तो भी हे श्रेष्ठ देव! उत्तम सखा होकर हमें सुखी करो[३]। हे सोम राजन्! कल्याण के लिए हमें सुखी करो, व्रतवाले हम तुम्हारे ही हैं हमें जानो[४]।

ऋग्वेद में सुख की प्रार्थना, आतुरता के साथ करते हुए कहा है—

को मृडाति कतमो नो मयस्करत् कतम ऊती अभ्या ववर्तति।

—ऋ० १०।६४।१

कौन ऐसा देव है जो हम पर अनुग्रह करता है, कौन हमें सुखी करता है और कौन सा देव हमारी रक्षा के लिए विराजमान है। इन देवों से भिन्न अन्य कोई सुखी करनेवाला नहीं है—**'न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो'** ऋ० १०।६४।२ इन भावपूर्ण विचारों के बाद इसी सूक्त में विश्वे देवों से सुख की कामना की गई है।

(लृ) शर्मन्—

ऋग्वेद में शर्मन् शब्द सुख के अर्थ में प्रयुक्त हुआ तथा इसका अर्थ कहीं-कहीं आश्रय या घर भी है। सम्पूर्ण ऋग्वेद में यह शब्द लगभग एक सौ बत्तीस बार पाया जाता है।

ऋग्वेद १।२२।१५ में 'शर्मन्' शब्द शरण या आश्रय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथः॥

---

१. **रेवदुच्छन्तु सुदिना उषासः।** —ऋ० १।१२४।९
दधिध्वे रण्वाः सुदिनेष्वह्नाम्। —ऋ० ४।३७।१
२. **अधा ते पितेव सूनवे वि वो मदे मृळा नो……।** —ऋ० १०।२५।३
३. **यत्ते वयं प्रमिनाम व्रतानि स नो मृळ सुषखा देव वस्यः।** —ऋ० ८।४८।९
४. **सोम राजन् मृळया नः स्वस्ति तव स्मसि व्रत्यास्तस्य विद्धि।** —ऋ० ८।४८।८

हे सुखदा पृथिवि! निष्कंटक निवास देनेवाली हो और हमें विस्तृत शरण या आश्रय दो[१]।

ऋग्वेद में अमर देवों से सुख की प्रार्थना की गई है। वे अमरणधर्मा (अमृताः) देव हमारे पाप रूप शत्रुओं को बाधित करते हुए, हम मरणधर्माओं को सुख प्रदान करें[२]। अग्नि सोम, प्रजा जन के लिए महान् सुख प्रदान करें[३]। मरुत् हमें भद्रतायुक्त सुख प्रदान करें[४]। अखण्डनीया या अदीना देवमाता अदिति अपने आदित्य पुत्रों के साथ हमें सुख प्रदान करें[५]।

(ए) शुनम्—

ऋग्वेद में 'शुनम्' शब्द भी सुख के अर्थ में लगभग ३० बार प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द का प्रयोग विशेषकर इन्द्र के मन्त्रों में उपलब्ध होता है[६], लेकिन एक मन्त्र में वरुण मित्र और अर्यमा के लिए भी आया है—

शुनमस्मभ्यमूतये वरुणो मित्रो अर्यमा। —ऋ० १०।१२६।७

वरुण मित्र और अर्यमा रक्षा के लिए हमें सुख प्रदान करें।

(ऐ) शिवम्—

ऋग्वेद में 'शिवम्' शब्द सुख अर्थ में लगभग ५६ बार प्रयुक्त हुआ है, जिसको निघण्टु में पढ़ा गया है[७] और यास्काचार्य ने 'सुशेव' की व्याख्या करते हुए कहा है कि शेव के समान शिव भी सुखवाची है, क्योंकि शिव का ही गुण होकर शेव बना है[८]।

ऋग्वेद में इन्द्र को कल्याणकारी (सुखदायी) सखा कहा गया है। 'हे इन्द्र! तेरे सख्य भाव कल्याणकारी हों[९]', हे इन्द्र! तुम रक्षा के कारण कल्याणदाता और मित्र हो, तुम हमारे सदा से स्तुत्य बन्धु रहे हो, हमें सुखी करो[१०]। यद्यपि ऋग्वेद में इन्द्र के मित्रभाव कल्याणकारी की प्रार्थना की गई है तथापि स्वयं भी कल्याणकारी सखा होने की कामना की गई है—

सखायस्ते शिवतमा असाम। —ऋ० १।५३।११

हे इन्द्र! हम तेरे कल्याणकारी सखा होवें। क्योंकि वह भी हमारा

---

१. **सप्रथः=विस्तारयुक्तं शर्म=शरणं नः अस्मभ्यं, यच्छ हे पृथिवि देहि।** —सा०भा०
यास्क—यच्छ नः शर्म शरणं सर्वतः पृथु। —नि० ९।३२

२. **ते अस्मभ्यं शर्म यंसन्नमृता मर्त्येभ्यः। बाधमाना अपद्विषः।** —ऋ० १।९०।३

३. **विशे जनाय महि शर्म यच्छतम्।** —ऋ० १।९३।८

४. **यच्छन्तु नो मरुतः शर्म भद्रम्।** —ऋ० ३।५४।२०

५. **आदित्यैर्नो अदितिः शर्म यंसत्।** —ऋ० १।१०७।२, ४।५४।६

६. ऋ० ३।३१।२२, ३२।१७, ३४।११, ३५।११, ३६।११, ३८।१०, ३९।९, ४३।८, ४८।५, ४९।५, ५०।५, १०।८९।१८।
आभूषन्तस्ते सुमतौ न वायां वयमिन्द्र त्वा शुनं हुवेम। —ऋ० १०।१६०।५

७. —ऋ० १०।४०।१०निघण्टु ३।६।

८. **शेव इति सुखनाम विभाषितगुणः शिवमित्यप्यस्य भवति।** —निरुक्त १०।२।१७

९. **अस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि।** —ऋ० ७।२२।९

१०. **यो गृणतामिदासिथाऽऽपिरूती शिवः सखा। स त्वं न इन्द्र मृळय।** —ऋ० ६।४५।१७

कल्याणकारी सखा है[१]।

ऋग्वेद में दुःखदायी या अकल्याणकारी वस्तुओं को छोड़ने और कल्याणकारी वस्तुओं के ग्रहण करने का भी उल्लेख है—

अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान् वयमुत्तरेमाभिवाजान्।

—ऋ० १०।५३।८

ऋग्वेद में इन्द्र, अग्नि, सविता आदि देवों से कल्याण की कामना की गई है। जैसे अग्नि से प्रार्थना है—

हे अग्नि! प्रमादरहित कल्याणकारी शान्तप्रद अपने संरक्षणों से सतत हमारी रक्षा कीजिए[२]। हे अग्निदेव! मंगलमय सख्य भावों और सख्य कर्मों सहित हमें प्राप्त हो[३]।

४. सुख की बलवती भावना—

सुख की भावना इतनी बलवती है कि सामान्यतया जड़ प्रतीत होनेवाले (अ) मेघ, (आ) जल, (इ) नदियाँ, (ई) अन्नादि पदार्थों से एवं जीवन देनेवाली गाय से सुख की कामना की गई है।

(अ) मेघ—

मेघ के बरसने से सभी जीवों को सुख प्राप्त होता है इसलिए बाढ़ से रहित कल्याणकारी जल की प्रार्थना मेघ से की है। श्यामवर्ण मेघ कल्याणकारिणी मानो मुस्कराती हुई विद्युतों के साथ आता है और गरज कर पानी बरसाता है[४]।

(आ) जल—

जल के सम्बन्ध में कहा है—पुत्र की समृद्धि की कामना करनेवाली माताएँ जैसे अपना दुग्धामृत रस उनको पान कराती हैं वैसे ही हे आप (जलो) जो तुम्हारा अत्यन्त कल्याणकारी रस है उसका हमें पान कराओ[५]।

(इ) नदियाँ—

ऋग्वेद में रोगनाशक कल्याणकारिणी हिंसारहित नदियों के विषय में कहा गया है—ये सरिताएँ दूर-दूर तक बहनेवाली तथा निम्न प्रदेश में बहनेवाली या अल्प जलवाली हैं वे अपने सुमधुर जल से सभी को तृप्त करती हुई हमारे लिए कल्याणकारिणी हों और सदा अहिंसाप्रद एवं रोगनाशक हों[६]।

---

१. **स न इन्द्रः शिवः सखा।** —ऋ० ८।९३।३
२. **अप्रयुच्छन्न प्रयुच्छद्भिरग्ने शिवेभिर्नः पायुभिः पाहि शग्मैः।** —ऋ० १।१४३।८
३. **आ नो गहि सख्येभिः शिवेभिर्महान्महीभिरूतिभिः सरण्यन्।** —ऋ० ३।१।१९
४. **शिवाभिर्न स्मयमानाभिरागात्पतन्ति मिहः स्तनयन्त्यभ्रा।** —ऋ० १।७९।२
५. **यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः।** —ऋ० १०।९।२
६. **याः प्रवतो निवत उद्वत उदन्वतीरनुदकाश्च याः।**
ता अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः शिवा देवीरशिपदा भवन्तु।
सर्वा नद्यो अशिमिदा भवन्तु। —ऋ० ७।५०।४
सायण ने 'शिपद' नामक रोग विशेष माना है और अशिमिदा शिमिर्वधकर्मा, वध अर्थवाली धातु मानकर अशिमिदा का अर्थ 'अहिंसाप्रद' किया है।

(ई) अन्न—

अन्न के विषय में कहा गया है कि इस जीवन (यज्ञ) में कल्याणकारी अन्न मेरे इस शरीर के वार्धक्य रूप कष्ट को ग्रस लेवे, अर्थात् उस अन्न से हमें ऐसा बल प्राप्त हो कि बुढ़ापे का कष्ट अनुभव न हो[१]। अन्न के लिए ऋग्वेद में एक अन्य स्थान पर भी कहा है—हे पितु (अन्न) तू मंगलमय हो, अतः कल्याणयुक्त रक्षण साधनों से हमें प्राप्त हो। हमें सुख दो, हमारे लिए तुम्हारा रस अप्रिय न हो, तू हमारे लिए मित्र और अद्वितीय सुख देनेवाला बन[२]।

(उ) गाय—

मेघ बरसने से अन्न एवं हरी-हरी घास उत्पन्न हो जाती है, गौएँ उसको चरती हैं और कल्याणकारी दुग्ध एवं वत्स आदि उत्पन्न करती हैं। प्रजापति से ऐसी प्रार्थना की गई है—प्रजापति उन अपनी गौओं को हमारी गोशाला में स्थिर करें जो हमारे लिए कल्याणकारिणी हों उसकी प्रजा (बछड़े) के साथ हम शान्तिपूर्वक रहें[३]।

५. परिवार में सुख-शान्ति की कामना—

परिवार में सुख-शान्ति रहे इसलिए (अ) वधू, (आ) जाया आदि से सुख की प्रार्थना की गई है—

(अ) वधू—

उल्लेखनीय बात यह है कि ऋग्वेद में जहाँ स्वयं शिवतमा (अत्यन्त कल्याण करनेवाले) होने की कामना की गई है वहाँ वधू के लिए प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारिणी होने की कामना व्यक्त की गई है। जैसा कि दशम मण्डल के प्रसिद्ध सूर्या सूक्त (विवाह सूक्त) में वधू को उद्बोधित करते हुए कहा है—स्नेहमयी दृष्टिवाली (क्रोधरहित) पति से विरोध न करनेवाली, सुन्दर मन वाली वर्चस्विनी तू सदा हमारे मनुष्यों के लिए ही नहीं अपितु पशुओं के लिए भी कल्याणकारिणी हो[४]।

(आ) जाया—

जिस कल्याण की कामना वधू से की गई है उसका साकार रूप हमें ऋग्वेद १०।३४।२ में परिलक्षित होता है, जिसमें द्यूत व्यसनी अपनी अनुव्रता पत्नी के सम्बन्ध में कहता है—मेरी स्त्री पहले न तो मुझे कष्ट देती थी और न मेरा अनादर करती थी प्रत्युत यह मेरे लिए ही नहीं अपितु मेरे मित्रों के लिए भी कल्याणकारिणी थी, एक जूए के कारण मैंने उस अनुरागिणी भार्या को छोड़ दिया है।

---

१. अत्रा शिवां तन्वो धासिमस्या जरां चिन्मे निर्ऋतिर्जग्रसीत। —ऋ० ५।४१।१७

२. उप नः पितवा चर शिवः शिवाभिरूतिभिः। —ऋ० १।१८७।३
मयोभुरद्विषेण्यः सखा सुशेवो अद्वयाः॥
'पितुः पालकमन्नम्' —सा० भा०।

३. शिवा सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया सं सदेम। —ऋ० १०।१६९।४

४. अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमना सुवर्चाः। —ऋ० १०।८५।४४

६. सुख-शान्ति के लिए ऋग्वेद में 'शम्' शब्द का प्रयोग—

'शम्' शान्ति—

'शम्' शब्द भी निघण्टु पठित सुखवाची है, जिसका अर्थ कल्याण, सुख और शान्ति भी होता है। ऋग्वेद में जिसका उल्लेख लगभग १५७ बार किया गया है।

ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सुख-शान्ति को प्राप्त करना ऋग्वेद के उपासक के जीवन का लक्ष्य बन गया है। यही कारण है कि 'शम्'[१] शब्द भी सम्पूर्ण ऋग्वेद में उपलब्ध होता है और इसके लिए विशेष रूप से ऋग्वेद का ७।३५ सूक्त प्रस्तुत किया गया है, जिसमें देवों के साथ-साथ भौतिक पदार्थों से भी सुख एवं शान्ति की कामना की गई है।

इसी ७।३५ सूक्त की ऋक् संख्या प्रथम में कहा है—इन्द्र और अग्नि हमारे लिए रक्षण के द्वारा शान्तिप्रद हों, ग्रहण और त्याग करनेवाले इन्द्र और वरुण हमारी शान्ति के लिए हों। इन्द्र और सोम हमारी शान्ति और कल्याण के लिए हों। इन्द्र और पूषा युद्ध और अन्न के निमित्त शान्तिप्रद हों[२]। ऋक् संख्या ४ में कहा है—प्रकाशमान अग्नि, मित्रवरुण और अश्विनौ हमारे लिए शान्तिप्रद हों। सुकर्मा जनों के सुकर्म हमें शान्ति दें, गमनशील वायु हमें सुख-शान्ति दे[३], इसी सूक्त की ऋक् संख्या ५ के अनुसार—सर्वप्रथम आह्वान होनेवाले द्यावापृथिवी शान्तिप्रद हों, दर्शन के लिए अन्तरिक्ष हमारे लिए शान्तिप्रद हो। ओषधियों और वृक्ष (वनिनः) तथा जयशील लोकों का स्वामी इन्द्र हमें शान्ति दे[४]।

ऋक् संख्या ८ के अनुसार विस्तीर्ण तेज से युक्त सूर्य हमारी शान्ति के लिए उदय हो, चारों दिशाएँ हमें शान्ति दें, निश्चल पर्वत हमें शान्ति दे, नदियाँ शान्ति दें, जल शान्ति दें[५]। ऋक् संख्या १० के अनुसार—रक्षण करता हुआ सविता हमें शान्ति दे, शोभायमान उषा हमारे लिए शान्तिप्रद हो, हमारी प्रजाओं के लिए मेघ शान्तिप्रद हों, कृषि के स्वामी हमारे लिए शान्तिप्रद हों[६]। इस

---

१. कल्याण, आनन्द, समृद्धि स्वास्थ्य का द्योतन करनेवाला अव्ययपद 'शम्' द्र०वा० आप्टे कोश-पृ० १००२।
शम्यति शम्नाति और शान्ति 'शम्' शब्द के रूप हैं और अव्ययपद के अर्थ सौभाग्य, भाग्य, प्रसन्नता, अच्छा आदि अर्थ हैं। द्र० मोनियर विलियम्स डि० पृ० १०५३।

२. **शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या।**
शमिन्द्रासोमा सुविताय शंयोः शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ॥

३. **शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना शम्।**
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभिवातु वातः॥

४. **शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु।**
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः॥

५. **शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु।**
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः॥

६. **शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः।**
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः॥

प्रकार सभी आवश्यक वस्तुओं एवं देवगणों और पितृगणों[१] से शान्ति की कामना की गई है और अन्त में कोई भी पदार्थ शेष न रहे इसलिए कहा है— 'शन्नो दिव्याः पार्थिवाः शन्नो अप्याः' ऋ० ७।३५।११ नभचर, थलचर और जलचर हमारी शान्ति के लिए हों।

'शंयोः'—

ऋग्वेद में 'शंयोः' शब्द का अर्थ यास्क की दृष्टि में 'शम्'—रोगशमन और 'योः' भय निवारण किया है। परन्तु सायण ने इसका अर्थ 'शम्' अहेतुक सुख और 'योः' विषयजनित सुख लिखा है[२]। फिर भी दोनों का अर्थ 'शान्तिदायक' ही प्रतीत होता है, जैसा कि अनेक स्थलों पर प्रयुक्त 'शंयोः' पद से स्पष्ट है।

ऋग्वेद १।१२९।२ में कहा गया है कि हे अग्निदेव, हमारे बच्चों के लिए शान्तिदायक तथा दुःखनाशक हो[३]। ऋग्वेद ३।१७।३ में उल्लेख किया गया है—हे जातवेद! उत्तम प्रजायुक्त विद्वान् यजमान के लिए सुख का कारण हो और सुख का मिश्रण करनेवाले हो[४]। जल से प्रार्थना की है—हे आपः! हमारे पुत्र–पौत्रों को सुख–शान्ति प्रदान करो और भय दूर करो[५]। बृहस्पति सदा हमें सुख प्रदान करो, मनु या मनुष्यों के रोगों का उपशम और भय को दूर करनेवाली क्षमता तुम में है, हम उसकी कामना करते हैं[६]।

७. हम शान्ति से युक्त और रोग से मुक्त हों—

ऋग्वेद में शान्ति की प्राप्ति और रोग मुक्ति की प्रार्थना रुद्र से की है। हम रुद्र को स्तुति समर्पित करते हैं जिससे दोपदे मनुष्यादि और चतुष्पदे गौ, अश्वादि सभी के लिए शान्ति अथवा कल्याण हो और सम्पूर्ण ग्राम रोगरहित (अनातुरम्) और पुष्टि सहित हो[७]। ऋग्वेद में एक अन्य स्थान पर कहा है—रुद्र हमारे अश्व, भेड़–भेड़ा, पुरुषों–स्त्रियों और गो जाति के लिए शान्ति प्रदान करता है[८]।

---

१. **शन्नो भवन्तु पितरो हवेषु।** —ऋ० ७।३५।१२

२. **शंयोः=शमनञ्च रोगाणां यावनञ्च भयानाम्।** —निरुक्त ४।३
शंयोः=शमनमहेतुकं सुखं योः=विषयभोगनिमित्तम् सुखम्॥
—सा०भा० शंयोः ऋ० ७।३५।१

३. **भव तोकाय तनयाय शंयोः।**

४. **विद्वानथा भव यजमानाय शंयोः।** —ऋ० ३।१७।३

५. **धात तोकाय तनयाय शंयोः।** —ऋ० ६।५०।७

६. **बृहस्पते सदमिन्नः सुगं कृधि शंयोर्यत्ते मनुर्हितं तदीमहे।** —ऋ० १।१०६।५
इस ऋक् का अनुवाद सायण भाष्य के अनुसार किया गया है।

७. **...प्रभरामहे मतीः यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुराम्।**
—ऋ० १।११४।१

८. **शं नः करत्यर्वते सुगं मेषाय मेष्ये। नृभ्यो नारिभ्यो गवे॥** —ऋ० १।४३।६
नारिभ्यः=स्त्रीभ्यः। —सा० भा०।
शन्नोऽ अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे। —यजुः० ३६।८

८. मानसिक और हार्दिक शान्ति प्राप्त हो—

ऋग्वेद में यद्यपि पारिवारिक शान्ति और अपने समीप रहनेवाले अश्व, गाय, भेड़ आदि के लिए शान्ति की कामना अधिक स्थानों पर की गई है तथापि ऋग्वेद में कुछ स्थानों पर हार्दिक और मानसिक शान्ति का भी उल्लेख हुआ है, जैसे अग्नि की स्तुति में कहा है—'मनीषा इयमस्तु शं हृदे' ऋ० ५।११।५। यह मनीषा (स्तुति)। हे अग्ने! हृदय के लिए शान्तिदायक हो। इसी प्रकार इन्द्र से प्रश्न रूप में उल्लेख हुआ है—हे इन्द्र! कौन सा तेरा यज्ञ है, जो मन को शान्ति प्रदान करनेवाला है[१]। इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वेद में मानसिक एवं हार्दिक शान्ति का उल्लेख भी हुआ है जो कि अहिंसामय जीवन के लिए आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार सुख-शान्ति की कामना का विशद वर्णन ऋग्वेद में हुआ है, जिसका कि पहले उल्लेख किया जा चुका है। स्मरणीय बात यह है कि शान्ति का भाव द्योतन करने के लिए ऋग्वेद में 'शम्' शब्द का प्रयोग हुआ है जबकि यजुर्वेद में 'शम्' के अतिरिक्त 'शान्ति' शब्द का प्रयोग भी पाया जाता है[२] और अथर्ववेद में 'शम्', 'शान्त' एवं 'शान्ति' का प्रयोग किया गया है[३]। जिससे ऋग्वेद की यह भावना यजुर्वेद और अथर्ववेद में अधिक बलवती पाई जाती है।

९. सुख-शान्ति की उपलब्धि माधुर्यमय वातावरण में होती है—

ऋग्वेद के अध्ययन से प्रतीत होता है कि इसमें सुख-शान्ति की भावना **अत्यन्त उत्कर्ष रूप में विद्यमान है। (जिसका विशद वर्णन पहले किया जा चुका है।) ऋग्वेद में लगभग सभी देवों से यह कामना की गई है कि वे हमारे लिए सुखदायी हों। जैसा कि ऋग्वेद १।९०।३ में उल्लेख है कि वे सब अमरणधर्मा देवगण हमारे (काम-क्रोध आदि) पापरूप शत्रुओं को हमसे बाधित करते हुए हम मरणधर्मा मनुष्यों के लिए अमृत लक्षणवाला सुख प्रदान करें[४]।**

जहाँ इस सूक्त में देवों से सुख की कामना की गई है वहाँ यह भी भावना व्यक्त की गई है कि विश्व का प्रत्येक भौतिक पदार्थ मधुरता से ओत-प्रोत हो जिससे माधुर्यमय वातावरण में रहकर हम सुख का उपभोग कर सकें। ऋक् १।९०।६ में कहा है शीतल मन्द सुगन्ध वायु चले, मधुर एवं शीतल जलवाली नदियाँ बहें, माधुर्य गुण सम्पन्न ओषधियाँ हमें नीरोग

---

१. **कस्ते यज्ञो मनसे शम्।** —ऋ० ६।२१।४

२. **द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥** —यजु० ३६।१७

३. अथर्व० १९।९।१। इसी सूक्त में शान्ति और शम् का प्रयोग भी हुआ है। —द्र०अ० १९।९।१४

४. **ते अस्मभ्यं शर्म यं सन्नमृता मर्त्येभ्यः बाधमाना अप द्विषः। अमृताः=अमरणधर्माणः शर्म=अमृतलक्षणं सुखम्। द्विषः=अस्मदीयान् पापलक्षणान् शत्रून्।** —सा०भा०

करके स्वस्थ बनानेवाली हों[१]। आगे कहा है रात मधुर हो, उषाएँ मधुर हों, पृथिवी का प्रत्येक कण हमारे लिए मधुरता से युक्त हो, हमारा पालक द्यौ पिता मधुर हो[२]। ऋक् संख्या ८ में वनस्पतियाँ हमारे लिए मधुमय हों, सूर्य (चन्द्र) मधुर हो। गौएँ माधुर्य गुण सम्पन्न दुग्ध प्रदान करनेवाली हों[३]। इस सूक्त के अनुसार संसार के सभी पदार्थ हमें सब ओर से मधुरता प्रदान करें, जिससे हमारा सारा वातावरण सुखमय बन जाए।

१०. सुख-शान्ति से रहना ऋग्वेद का आदर्श—

सुख-शान्ति से रहना ऋग्वेद का आदर्श है जिसके लिए अहिंसामय जीवन बिताना अत्यावश्यक है, जिसमें मित्रता से युक्त सभी प्राणियों का कल्याण चाहते हुए निर्भयतापूर्वक रहना चाहिए। जिसका प्रकाशन (अ) मित्रभावना, (आ) स्वस्ति और भद्रभावना एवं (इ) अभय भावना के शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

(अ) मित्र या सखा भावना—

अहिंसा के अन्तर्गत मित्र या सखा भावना भी आती है, आपस में मित्रता तभी स्थायी होगी जब वे दोनों एक दूसरे के लिए अहिंसक होंगे। ऋग्वेद में मित्र सखा आदि शब्द पाये जाते हैं इसलिए उनका वर्णन करना समीचीन होगा। जिससे ऋग्वेद में उल्लिखित अहिंसा के भाव का प्रकाशन भली-भाँति हो सकेगा।

ऋग्वेद में ५।६५।४ में मित्र के विषय में कहा गया है—मित्र पाप और पापाचारी के नाश के लिए वाणी को विस्तृत रूप से प्रदान करता है[४], इसीलिए ऋग्वेद ३।५९।३ में मित्र की सुमति में रहने की कामना की गई है—हम मित्र की सुमति में रहें[५]। मित्र के संरक्षण की अभिलाषा करते हुए कहा गया है—'हम सब लोग पाप से पृथक् करनेवाले मित्र के सुविस्तृत संरक्षण में रहें[६]।'

मित्र के विषय में ऋग्वेद में एक ही सूक्त प्रस्तुत किया गया है जिसमें सूर्य के अर्थ के साथ-साथ मानवीय मित्र के सम्बन्ध में भी प्रकाश पड़ता है—जैसा कि ऋग्वेद ३।५९।१ में कहा गया है कि मित्र, जनों को उपदेश देता हुआ कार्य करने की प्रेरणा करता है, मित्र पृथिवी और द्युलोक का आधार है, मित्र कर्मशील मनुष्यों का निरन्तर निरीक्षण करता है। उस मित्र के लिए घृतवत् हव्य पदार्थों को प्रदान करो[७]। एक सच्चे मित्र का स्नेहयुक्त

---

१. मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।
२. मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता।
३. मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः। —ऋ० १।९०
४. मित्रो अंहोश्चिदादुरुक्षयाय गातुं वनते, वनते=प्रयच्छति। —सा०भा०
५. वयं मित्रस्य सुमतौ स्याम। —ऋ० ३।५९।३
६. वयं मित्रस्यावसि स्याम सप्रथस्तमे। —ऋ० ५।६५।५
७. मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत॥

पदार्थों से सम्मान करने से क्या लाभ होता है उसका उल्लेख ऋग्वेद ३।५९।२ में करते हुए कहा गया है—हे मित्र! हे आदित्य! जो मनुष्य तेरे दर्शाये नियम (कर्म) से स्वयं शिक्षित होकर अन्यों को भी अन्नादि प्रदान करता है, वह मनुष्य अन्नवान् होता है, तुम्हारे द्वारा सुरक्षित पुरुष न कभी मारा जाता है, न कभी जीर्ण होता है, इसको न पास से और न दूर से ही कभी पाप व्यापता है[१]। उस मित्र की कल्याणकारिणी सुमति में रहने की कामना करते हुए कहा गया है—यह मित्र नमनीय सुखकारी, सब जगत् का सम्राट् उत्तम बलवाला और जगत् का विधाता है, ऐसे पूजनीय मित्र की सुमति में और कल्याण करनेवाली सुमनस्कता में हम विद्यमान रहें[२]।

(क) देवों से मित्रता की भावना—

ऋग्वेद में देवों का चरित्र मानवीय चरित्र के लिए आदर्श माना गया है, यही कारण है कि मानव अधिकतर देवों के चरित्र का अनुकरण करते हैं, उनसे सुख, शान्ति, मित्रता, अभय आदि गुणों की कामना करते हुए पाये जाते हैं। देवों में विशेषकर—(१) इन्द्र, (२) अग्नि, (३) इन्द्राग्नी, (४) इन्द्र और पूषा, (५) एवं सोम के साथ मित्र भावना का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है।

(१) इन्द्र—

इन्द्र देव से सखा होने की प्रार्थना करते हुए कहा गया है, हे इन्द्र! हम तेरे सखा उत्तम धन-वैभव के भागी हों[३]। इससे प्रतीत होता है कि सखित्व में ही एक दूसरे के प्रति अहिंसामयी या स्नेहमयी भावना उदय होती है जिससे सरलता से एक दूसरे का वैभव का सेवन किया जा सकता है।

ऋग्वेद ६।४४।१० में इन्द्र से श्रेष्ठ बन्धु या मित्र दिखाई न देने का उल्लेख करते हुए कहा गया है—हे इन्द्र! मानवों के मध्य तुझ से भिन्न कोई बन्धु (मित्र) दिखाई नहीं देता[४]। ऋग्वेद २।२०।३ में कहा गया है—कल्याणकारी सखा इन्द्र हम सब मनुष्यों के पालक हैं[५]। हे इन्द्र! तेरे सख्य भाव हमारे लिए कल्याणकारी हों[६]। हे इन्द्र! हम सदा तेरे मित्र बने रहें[७], क्योंकि हम लोग यह चाहते हैं कि हे इन्द्र! हमारे सुख सौभाग्य की अभिवृद्धि के लिए तू हमारा निकटतम सखा बन[८]।

हे इन्द्र तेरा सख्य स्वादिष्ठ है[९], अर्थात् सुखकारी है। इन्द्र की मित्रता

---

१. **प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान्यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्॥** —ऋ० ३।५९।२

२. **अयं मित्रो नमस्यः सुशेवो राजा सुक्षत्रो अजनिष्ट वेधाः।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम॥** —ऋ० ३।५९।४

३. **सखायस्ते वामभाजः स्याम।** —ऋ० ३।५५।२२

४. **नकिरापिर्ददृशे मर्त्यत्रा।** —ऋ० ६।४४।१०

५. **सखा शिवो नरामस्तु पाता।** —ऋ० २।२०।३

६. **अस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि।** —ऋ० ७।२२।९

७. **सखायस्त इन्द्र विश्वह स्याम।** —ऋ० ७।२१।९

८. **भवा नः सुम्ने अन्तमः सखा वृधे।** —ऋ० ८।१३।३

९. **यस्य ते स्यादु सख्यम्।** —ऋ० ८।६८।११

करने से व्यक्ति को क्या लाभ होता है इसका स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद ८।४।९ में किया गया है—

अश्वी रथी सुरूप इद् गोमाँ इदिन्द्र ते सखा।
श्वात्रभाजा वयसा सचते सदा चन्द्रो याति सभामुप॥

हे इन्द्र! तेरा सच्चा सखा ही अश्ववाला, रथवाला, गौवाला और रूपवाला है, वह सदा शीघ्र धन प्राप्त करता है और सब के लिए आह्लादजनक होकर सभा में जाता है।

(२) अग्नि—

ऋग्वेद ४।१०।८ में अग्नि के साथ मित्र भावना का उल्लेख करते हुए कहा गया है—हे अग्ने! हमारे सखित्व भाव कल्याणकारी हों[१]। इसलिए हम अग्निदेव के सखित्व का वरण करते हैं[२]। अग्निदेव अपने सखित्व में रहनेवाले को अन्नादि प्रदान करते हैं[३]।

(३) इन्द्राग्नी—

इन्द्राग्नी की एक साथ स्तुति करते हुए कहा गया है कि—हे इन्द्राग्ने! तुम गौओं, अश्वों और विपुल धन के साथ हमारे पास आओ, हम मित्रता के लिए दानादि गुणों से युक्त और सुख प्रदाता इन्द्र और अग्नि का आह्वान करते हैं[४]।

(४) इन्द्र और पूषा—

इन्द्र और पूषन् देव से मित्रता की कामना करते हुए कहा गया है—हे इन्द्र और पूषन्! अपने मंगल के लिए आज हम तुम्हारी मित्रता और अन्न की प्राप्ति के लिए तुम्हें बुलाते हैं[५]।

(५) सोम—

सोम के लिए भी मित्रता के विषय में ऋग्वेद में उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद १।९१।१२ में कहा गया है—हे सोम! हमारे उत्तम मित्र हो[६], तुझ जैसे सखावाला व्यक्ति कभी कष्ट नहीं पाता[७], हे सोम! तू हमें सुखतम सखा के रूप में प्राप्त हो[८]। हे सोम! उत्तम अन्न–बल एवं यश से युक्त हमारे संवर्धन के लिए सखा बनो[९]।

इससे यह प्रकट होता है कि सखित्व भाव में मनुष्य अहिंसक होकर

---

१. **शिवा नः सख्या सन्तु भ्रात्राऽग्ने।** —ऋ० ४।१०।८
२. **अग्नेः सख्यं कृणीमहे।** —ऋ० ८।४४।२०
३. **अग्निरिषां सख्ये ददातु।** —ऋ० ८।७१।१३
४. **आ नो गव्येभिरश्वैर्वसव्यैरुप गच्छतम्।**
सखायौ देवौ सख्याय शंभुवेन्द्राग्नी ता हवामहे॥ —ऋ० ६।६०।१४
५. **इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये। हुवेम वाजसातये।** —ऋ० ६।५७।१
६. **सुमित्रः सोम नो भव।** —ऋ० १।९१।१२
७. **न रिष्येत्त्वावतः सखा।** —ऋ० १।९१।८
८. **सखा सुशेव एधि नः।** —ऋ० १।९१।१५
९. **भवा नः सुश्रवस्तमः सखा वृधे।** —ऋ० १।९१।१७

एक दूसरे के संवर्धन में प्रयत्नशील होता है और सुखी करने तथा सुखी होने की भावना प्रबल हो जाती है।

(ख) मानवीय मित्र भावना का उल्लेख—

ऋग्वेद में जहाँ देवों से मित्र भावना की प्रार्थनाएँ की गई हैं वहाँ मानवीय जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक होने के कारण एक मानव दूसरे मानव से मित्रमय व्यवहार की कामना करता है, जिसका उल्लेख भी ऋग्वेद में किया गया है।

ऋग्वेद ९।६६।४ में कहा गया है—मित्र की रक्षा के लिए मित्र ही काम आता है[१]। मित्र होने से ही एक मनुष्य दूसरे की रक्षा करता है, इसी बात का विधान रूप में उल्लेख करते हुए कहा गया है कि—मनुष्य दूसरे मनुष्य की चहुँ ओर से रक्षा करे—**पुमान्पुमासं परिपातु विश्वतः।** ऋ० ६।७५।१४ एक मित्र दूसरे मित्र की हितप्रद वाणी को कभी नहीं काटता या मित्र, मित्र की बात नहीं टालता[२]। मित्र की बात को सदा ध्यानपूर्वक सुनकर उस पर आचरण करना चाहिए नहीं तो हानि होने की सम्भावना रहती है। इस चेतावनी को (ऋग्वेद १०।७१।६ में) देते हुए कहा गया है—जो अपने वेदज्ञ विद्वान् सखा का परित्याग कर देता है उसकी वाणी में कोई भी भजनीय अंश नहीं रहता वह जो कुछ सुनता है व्यर्थ ही सुनता है वह इसलिए कभी सुकृत के पथ को नहीं जान सकता[३]। मनुष्य को उचित है कि वह यशस्वी मित्र को पाकर प्रसन्न हो जिससे उस प्रसन्न होनेवाले व्यक्ति में भी उस अपने यशस्वी मित्र के गुणों का आधान हो सके, उसी भावना को व्यक्त करते हुए ऋग्वेद १०।७१।१० में कहा है—'सभी मित्र यशोलब्ध तथा बड़ी-बड़ी सभाओं को अपने प्रभाव के वश में करनेवाले मित्र को पाकर प्रसन्न होते हैं[४]।'

किसी दुस्तर कार्य करने के लिए मित्रों की अत्यन्त आवश्यकता होती है जिसका उल्लेख ऋग्वेद १०।५३।८ में वर्णन किया गया है। पथरीली नदी तीव्र प्रवाह से बह रही है—हे मित्रो! उठो मिलकर पुरुषार्थ करो और इस तीव्र प्रवाहवाली पथरीली नदी को पार कर जाओ[५]।

मित्र अपने मित्र के लिए सन्मार्ग का निर्देश करता है जिसका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि हें सोम! जैसे मित्र, मित्र को सच्चा मार्ग बताता है, वैसे ही तुम हमारे मार्ग के ज्ञापक हो[६]।

---

१. **सखा सखिभ्य ऊतये।** —ऋ० ९।६६।४
२. **सखा सख्युर्न प्रमिनाति सङ्गिरम्।** —ऋ० ९।८६।१६
३. **यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।**
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥ —ऋ० १०।७१।६
४. **सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।**
५. **अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः।**
६. **सखेव सख्ये गातुवित्तमो भव।** —ऋ० ९।१०४।५
हे इन्दो, सोम, स त्वं सखेव यथा सखा=सुहृत् सख्ये मित्राय सत्यं मार्गं ज्ञापयति तद्वदस्माकमपि गातुवित्तमः अत्यन्तं मार्गस्य लम्भकः भव ज्ञापको भव। —सा०भा०

मित्र अपने मित्र के लिए मंगलकामना करता हुआ धनादि से सहायता करके सुखी करता है जिसका उल्लेख ऋग्वेद ४।३३।१० में करते हुए कहा गया है—वही ऋभुगण हम लोगों को मंगलाकांक्षी मित्र की तरह धन, पुष्टि, गौ आदि विविध धनों से युक्त सुख प्रदान करे[१]। इसलिए अहिंसक मित्र के पथ का अनुगामी होना चाहिए जिसका स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद ५।६४।३ में किया गया है—

यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे॥

(बुद्धिमान् जन) इस अहिंसक प्रिय मित्र की शरण में रहकर जिस गति को प्राप्त करते हैं उसी गति को निश्चय से मैं (भी) प्राप्त करूँ और (यह तभी सम्भव है कि जब) मैं (भी) उसी अहिंसक मित्र की जीवन-पद्धति का अनुसरण करूँ।

उल्लेखनीय बात यह है कि यजुर्वेद ३६।१७ में जहाँ शान्ति की कामना की गई है उसके अगले ही मन्त्र में भी मित्र भावना का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है—'हे परमेश्वर! मुझे दृढ़ कर, दृढ़व्रती बना, (जिससे) सारे प्राणी मित्र की दृष्टि से मुझे देखें। मित्र की दृष्टि से हम सब परस्पर एक दूसरे को देखें[२]। इसी भाव को अथर्ववेद में कहा गया है—मैं तुम्हारे लिए प्रेमपूर्ण हृदय, शुभ विचारों से युक्त मन, और परस्पर निर्वैर भाव को करता हूँ। तुम सब परस्पर ऐसे ही प्रीति करो जैसे सद्योजात (उत्पन्न हुए) बछड़े को गाय प्यार करती है[३]'।

(आ) स्वस्ति और भद्र भावना—

अहिंसा के अन्तर्गत स्वस्ति और भद्र भावना भी आती है, क्योंकि इनके शब्दों के प्रयोग से तथा इनके अर्थों को दृष्टिगत रखकर यह कहा जा सकता है कि इनमें भी कल्याण और सुख सौभाग्य की कामना की गई है, जैसा कि कोशकारों का अभिमत है[४]।

(क) स्वस्ति की भावना—

स्वस्ति का अर्थ आचार्य यास्क के अनुसार अविनाशी कल्याण या अच्छाई है[५]। यह बात ऋग्वेद के प्रमाणों से स्पष्ट हो जाएगी।

ऋग्वेद ६।५१।१६ में कहा गया है—

हम पापरहित कल्याणकारी मार्ग पर चलें, जिस मार्ग पर चलता हुआ व्यक्ति सब प्रकार के शत्रुओं को दूर हटा देता है और धन-धान्य को प्राप्त

---

१. **ते रायस्पोषं द्रविणान्यस्मे धत्त ऋभवः क्षेमयन्तो न मित्रम्।**
२. **दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।** —यजु० ३६।१८
३. **सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।**
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ —अथर्व० ३।३०।१
४. मोनियर विलियम्स संस्कृत—इंगलिश डिक्शनरी पृ० १२८३, ७४५।
५. **स्वस्तीत्यविनाशिनाम। अस्तिरभिपूजितः सु+अस्तीति।** —निरुक्त ३।४

करता है[१]। इसी प्रकार रथ के सम्बन्ध में कहा गया है—हम दम्पती (पति-पत्नी) चमकीले बहुत से पहियों वाले अहिंसक (अरुषम्[२]) सुखद कुशलता पूर्वक सीधे चलने वाले रथ पर संगत हों[३]।

देवों से स्वस्ति की कामना—

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर देवों से यह कामना की गई है कि वे हमें कल्याण प्रदान करें।

(१) पूषादेव—ऋग्वेद १०।१७।५ में पूषादेव से कल्याण की कामना करते हुए कहा गया है—पूषा सारी दिशाओं को जानता है, वह हम को भयरहित मार्ग से ले चले। वह कल्याण का दाता, वह प्रकाशयुक्त सब वीरों का स्वामी, हमें जानता हुआ प्रमाद न करता हुआ हमारे सम्मुख रहे[४]।

(२) पूषन्, विष्णु और मरुद्गण—ऋग्वेद १।९०।५ में पूषन् विष्णु और मरुद्गण से सुख-कल्याण या विनाशरहित होने की कामना की गई[५]।

(३) इन्द्र—हे इन्द्र! तू मन से कल्याण देनेवाला, धन-ऐश्वर्योंवाले समीपस्थ जन को सौभाग्य के लिए हर्षित करो[६]।

ऋग्वेद १०।१५२।२ में कहा गया है—'इन्द्र कल्याणदाता प्रजाधिपति, वृत्रहन, युद्ध के कर्ता शत्रुओं को वश में करनेवाला, कामनाओं का वर्षक, सोमपाता और अभयदाता है। वह हमें प्राप्त हो[७]'। (वीर इन्द्र) हमें अन्न और घर दो और हमारी सदा स्वस्ति द्वारा रक्षा करो[८]।

(हे इन्द्र!) अतीव प्रशंसा योग्य स्तुति कार्य के लिए हमारी शक्ति हो, हमें सदा स्वस्ति द्वारा पालन करो[९]। हे इन्द्र! तेरे सख्य भाव हमारे लिए कल्याणकारी हों, हमें स्वस्ति द्वारा पालन करो[१०]। वह स्तुत्य इन्द्र हमें वीरपुत्र एवं गौ आदि पशुओं से युक्त धन प्रदान करे, और हमारी सदा स्वस्ति से रक्षा करे[११]।

---

१. **अपि पन्थामगन्महि स्वस्ति गामनेहसम्।
येन विश्वा परिद्विषो वृणक्ति विन्दते वसु॥** —ऋ० ६।५१।१६

२. **रुष रिष हिंसायाम्।**

३. ऋ० ८।६९।१६

४. **पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन्॥**

५. **कर्ता नः स्वस्तिमतः।** —ऋ० १।९०।५
कर्त्ता=कुरुत स्वस्तिमतः=अविनाशिनः कुरुत। —सा०भा०

६. **स्वस्तिदा मनसा मादयस्वार्वाचीनो रेवते सौभगाय।** —ऋ० १०।११६।२

७. **स्वस्तिदा विशस्पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयङ्करः॥** —ऋ० १०।१५२।२
विमृधः=संग्रामकारी, वृषा=वर्षयिता कामानाम्। —सा०भा०

८. **उप नो वाजान् मिमीह्युप स्तीन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।** —ऋ० ७।१९।११
उपमिनीहि प्रयच्छ, स्तीन्-गृहीन्। —सा०भा०

९. **वस्वी षु ते जरित्रे अस्तु शक्तिर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।** —ऋ० ७।२०।१०

१०. **अस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।** —ऋ० ७।२२।९

११. **स नः स्तुतो वीरवद् धातु गोमद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।**—ऋ० ७।२३।६

हे इन्द्र ! धन-वैभव सम्पन्न मनुष्यों के लिए वीर पुत्र वाला अन्न हो, और हमें सदा स्वस्ति द्वारा पालन करो[१]। हे इन्द्र ! हमें नाना प्रकार (सहस्र संख्यक) के अन्न दो और हमारी स्वस्ति से पालना करो[२]। हे इन्द्र ! तुम गौ, अश्व, रथ और धनवाले हो, हमें तुम सदा स्वस्ति (कल्याण) द्वारा रक्षा करो[३]। जो हमें बड़े-बड़े ऐश्वर्य प्रदान करता है, उस ऐश्वर्य के स्वामी को हम इन्द्र ही कहें, जो स्तुत्य कार्य का सब से उत्तम रक्षक है, तुम हमें सदा कल्याण द्वारा पालन करो[४], यह मन्त्र तीन सूक्तों के अन्तिम मन्त्र के रूप में आया है। और यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः, यह टेक अनेक मन्त्रों में अन्त में पाई जाती है जिससे ऋग्वेद में स्वस्ति या कल्याण की भावना की तीव्रता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

(४) मरुद्गण—ऋग्वेद ७।३४।२५ में मरुतों के आश्रय में रहने का उल्लेख करते हुए कहा गया है—मरुतों के पास निवास कर हम सुख से रहेंगे, तुम हमें सदा स्वस्ति द्वारा पालन करो[५]।

(५) मरुद् विष्णु—मरुद् और विष्णु मुझ स्तुति करनेवाले के लिए और प्रजा के लिए सन्तान और अन्न प्रदान करो तथा तुम हमारी स्वस्ति के द्वारा या अविनाशी साधनों से रक्षा करो[६]।

(६) अग्नि—हे अग्नि ! स्तोताओं और ऐश्वर्यशालियों को अन्न प्रदान करो और हमारी सदा कल्याणकारी साधनों से रक्षा करो[७]। हे अग्नि ! तुझ में विद्यमान धन संभजनीय हो, हमारी सदा आप सभी देव स्वस्ति द्वारा रक्षा करो[८]। इसी प्रकार अग्नि के लिए अन्यत्र भी ऋग्वेद में स्तुति करते हुए कल्याण की या स्वस्ति की कामना की गई है[९]।

(७) सोम—हे सोम ! हमारे लिए आज ही वरणीय धन-वैभव प्रदान कर जो कल्याण या स्वस्ति का देनेवाला हो[१०]।

(८) उषस्—सभी गुणों से प्रवृद्ध कल्याणी उषाएँ अश्व, गौ और वीर पुरुष से युक्त होकर और हमारे रात्रिजात अन्धकारों को जलसेचन करके

---

१. **इषे पिन्व मघवद्भ्यः सुवीरां यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।** —ऋ० ७।२४।६
२. **सहस्त्रिण उप नो माहि वाजान् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।**—ऋ० ७।२६।५
३. **गोमदश्वावद् रथवद् यन्तो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।** —ऋ० ७।२७।५
४. **वोचेमेदिन्द्रं मघवानमेनं महो रायो राधसो यद् ददन्नः।**
यो अर्चतो ब्रह्मकृतिमविष्ठो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः। —ऋ० ७।२८।५; २९।५; ३०।५,
ब्रह्मकृतिं-क्रियमाणं ब्रह्मस्तोत्रम्
५. **शर्मन्त्स्याम मरुतामुपस्थे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।** —ऋ० ७।३४।२५
६. **उत प्रजायै गृणते वयोधुर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।** —ऋ० ७।३६।९
धुः अधुः दधतु, स्वस्तिभिः अविनाशैः। —सा० भा०
७. **इषं स्तोतृभ्यो मघवद्भ्य आनड्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।** —ऋ० ७।८।७
८. **त्वे वसु सुषणनानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।** —ऋ० ७।१२।३
त्वे-त्वयि, सु सननानि-सु सं भजनानि। —सा०भा०
९. ऋ० ७।१३।३, १४।३, ४३।५
१०. **कृधी नो अद्य वरिवः स्वस्तिमत्।** —ऋ० ९।२४।१

नाश करें, तुम सभी देव स्वस्ति द्वारा हमारा पालन करो[१]।

(९) सविता—हमें सविता देव विचित्र और विशाल अन्न दे, हमारा सभी देव स्वस्ति द्वारा पालन करें[२]।

(१०) आपः—हे सिन्धवः! आपः (जल) आप हमें श्रेष्ठ धन दें और आप हमारी सदा स्वस्ति द्वारा रक्षा करें[३]।

(११) ऋभुदेवा—हे प्रशंसनीय ऋभुदेवो! हमें अन्न दो, और हम को सर्वदा कल्याणों से रक्षित करें[४]।

(१२) द्यावापृथिवी—हे द्यावापृथिवी! जो बहुत धन हो वह हमारे लिए प्रदान करें और आप हम को कल्याणों से पालित करें[५]।

(१३) वास्तोष्पते—हे वास्तोष्पते! हम तुम्हारा, सुखकर-रमणीय और धनवान् स्थान प्राप्त करें। तुम हमारे (क्षेम) प्राप्त और (योगे) अप्राप्त रमणीय (धन) की रक्षा करो, तुम हमारी कल्याणों से रक्षा करो[६]।

स्मरणीय बात यह है कि ऋग्वेद में स्वस्ति की भावना को बहुत बलपूर्वक प्रतिपादित किया गया है, जिसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि अनेक सूक्तों के अन्तिम चरण में 'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः' लिखा गया है।

आज भी भारतवर्ष के सभी प्रान्तों के पुरोहितगण अपने यजमान को आशीर्वाद देते हुए ऋग्वेद के निम्न मन्त्र का उच्चारण करते हैं—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

—ऋ० १।८९।६

इसमें देवों से कल्याण की कामना की गई है।

ऋग्वेद ५।५१।१५ में स्वस्ति के पथ का अनुसरण, सूर्य और चन्द्र के समान करने की कामना की गई है—

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि॥ —ऋ० ५।५१।१५

---

१. **अश्वावतीगोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः।**
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ —ऋ० ७।४१।७

२. **चित्रं वयो बृहदस्मे दधातु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।** —ऋ० ७।४५।४
चित्रं=चायनीयम्, वयः=अन्नम्। —सा०भा०

३. **ते सिन्धवो वरिवो धातना नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।** —ऋ० ७।४७।४

४. **समस्मे इषं वसवो ददीरन् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।** —ऋ० ७।४८।४
वसवः=प्रशस्या ऋभवः, हे ऋभवः यूयमस्मान् सर्वदा स्वस्तिभिः कल्याणैः रक्षत। —सा०भा०

५. **अस्मे धत्तं यदसदस्कृधोयु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।** —ऋ० ७।५३।३
अस्कृधोयु=कृधको ह्रस्वः, अह्रस्वमनल्पम्, असत् भवेत्तद्धनम्। —सा०भा०

६. **वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या।**
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ —ऋ० ७।५४।३
संसदा=स्थानेन, सक्षीमहि=सं गच्छेमहि। —सा०भा०

हम सूर्य-चन्द्र के समान कल्याण के पथ का अनुसरण करें, और हम बार-बार दानी अहिंसनीय और ज्ञानी के साथ संगति करें।

उल्लेखनीय यह है कि जहाँ ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर 'स्वस्ति' अव्यय पद तथा विभक्ति पदों का निर्देश किया गया है। वहाँ ऋग्वेद ५५।१।११ से १५ तक स्वस्ति के नाम से लिखा गया है जिसमें अश्विनौ, भगः, अदिति, पूषा, द्यावापृथिवी[१], वायु, सोम, बृहस्पति, आदित्यगण[२], विश्वदेवा, वैश्वानर, वसु, अग्नि, देवा, रुद्र[३], मित्रावरुण, इन्द्र, अग्नि और अदिति[४] का पुनः उल्लेख किया गया है जिससे भी स्वस्ति की भावना प्रकट होती है।

(ख) भद्र भावना—

ऋग्वेद में स्वस्ति भावना के समान ही भद्र भावना का भी उल्लेख हुआ है, जैसा कि सविता देव से ऋग्वेद ५।८२।५ में प्रार्थना की गई है—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव॥

हे सविता देव! हमारे सभी प्रकार के दुर्गुण (दुर्व्यसन, दुर्विचार) दूर कीजिए। और जो हमारे लिए कल्याणकारी हो वह हमें प्राप्त कराओ।

इस मन्त्र में पड़े 'दुर्गुण' शब्द से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि 'भद्र' शब्द का अर्थ यहाँ सद्गुणों (सद् विचार और सद् व्यवहारों) से है।

देवगण भद्र भावना की रक्षा करते हैं, जैसा ऋग्वेद २।२३।१९ में कहा गया है कि देवता जिसकी रक्षा करते हैं वह भली-भाँति कल्याणवाहक (भद्र) है[५]। ऋग्वेद ३।५४।२० में मरुतों से प्रार्थना करते हुए कहा गया है, मरुत् हमें कल्याणकारी शरण (आश्रय) प्रदान करें[६]। ऐसा प्रतीत होता है कि मरुतों के पास कल्याण सुरक्षित रहता है, जैसा कि ऋग्वेद १।१६६।९ में मरुतों की स्तुति करते हुए कहा गया है, मरुतो सारे कल्याणवाही पदार्थ तुम्हारे रथ पर स्थापित हैं[७], हम पूजनीय अग्नि देव की उत्तम मति में तथा कल्याणकारिणी सुमनस्कता में रहें जिससे सभी प्रकार का कल्याण (भला) हो सके[८]। इन्द्र तुम स्तोताओं के कल्याणकर्ता हो[९]। हे उषा! तू हममें कल्याण करनेवाले कार्यों को धारण कर[१०]।

अग्निदेव से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि हवियों से परितृप्त किया हुआ अग्निदेव हमारे लिए कल्याणकारी हो, सुन्दर ऐश्वर्यों से युक्त अग्निदेव,

---

१. ऋ० ५।५१।११
२. ऋ० ५।५१।१२
३. ऋ० ५।५१।१३
४. ऋ० ५।५१।१४
५. **विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवाः।** —ऋ० २।२३।१९
६. **यच्छन्तु नो मरुतः शर्म भद्रम्।** —ऋ० ३।५४।२०
७. **विश्वानि भद्रा मरुतो रथेषु वः।** —ऋ० १।१६६।९
८. **तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम।** —ऋ० ३।१।२१
९. **स्तोतृणामुत भद्रं कृत।** —ऋ० ८।१४।११
१०. **भद्रं भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि।** —ऋ० १।१२३।१३

हमारे दिये दान हमारे लिए सुखकारी हों, हमारा अध्वर=अहिंसनीय कर्म हमारे लिए भद्र हो और उत्तम ख्याति भी कल्याणकारी हो[१]। हे वासदाता आदित्यो! तुम कल्याणकारी और सुखद अपनी नौका से हम को सम्पूर्ण दुर्गुणों-दुरितों से पार करो[२]। वे आदित्यदेव मुझे कल्याणकारी बल की प्राप्ति के लिए मुझ पर अनुग्रह करें[३]। पाप से जर्जरित हुए मनुष्य अन्त में (भद्र) कल्याण के आश्रय से जीवित रहते हैं[४]।

भद्र वचन के विषय में ऋग्वेद में कहा गया है—हे शकुनि कपिञ्जल, हमारे लिए सभी ओर से कल्याणकारी वचन बोल, हमें सब प्रकार से पुण्यमय, धर्मानुकूल वचन कह[५]। भद्रवाणी से हमारा घर भद्रता युक्त करो[६], हे कपिञ्जल सुमंगल और कल्याणकारी वाणी का उच्चारण कर[७], इससे यह स्पष्ट है कि भद्र भावना को बहुत आदर दिया गया है। ऋग्वेद में देव और मनुष्यों से ही भद्र एवं सुमंगल वचनों के व्यवहार की कामना नहीं की गई है अपितु पक्षियों तक से भद्रतामय वाणी के प्रयोग की कामना की गई है, इसीलिए ऋग्वेद १।८९।८ में भद्र देखने और भद्र सुनने तक का विधान किया गया है[८]। ऋग्वेद २।४१।१२ में कहा गया है कि कल्याण हमारे आगे आगे हो (भद्रं भवाति नः पुरः)।

(इ) अभय भावना—

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर भयरहित होने की कामना की गई है, क्योंकि अहिंसामय जीवन के लिए भयरहित होना आवश्यक है, इसलिए इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि हे इन्द्र! जिस-जिस ओर से हमें भय हो, उस-उस ओर से हमें भयरहित करो[९]।

भय होने का मुख्य कारण हिंसक प्राणी होते हैं और वे सब शत्रुओं की कोटि में आते हैं। इसलिए ऋग्वेद ३।४७।२ में इन्द्र से शत्रुओं को दूर भगाने और निर्भय होने की प्रार्थना करते हुए कहा गया है—

हे इन्द्र! हमारे शत्रुओं को मारो, हिंसक जन्तुओं को दूर भगाओ और

---

१. **भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः।**
भद्रा उत प्रशस्तयः। —ऋ० ८।१९।१९

२. **ते नो भद्रेण शर्म्मणा युष्माकं नावा वसवः।**
अति विश्वानि दुरिता पिपर्तन। —ऋ० ८।१८।१७

३. **ते मा भद्राय शवसे ततक्षुः।** —ऋ० १०।४८।११; **ततक्षुः=अनुगृह्णन्तु।** —सा०भा०

४. **पापा भद्रमुप जीवन्ति पज्राः।** —ऋ० १।१९०।५
पज्राः=पापेन जीर्णाः नराः। —सा०भा०

५. **सर्वतो नः शकुने भद्रमा वद विश्वतो नः शकुने पुण्यमावद।** —ऋ० २।४३।२
शकुनिः कपिञ्जलः। —सा०भा०

६. **भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचः।** —ऋ० ६।२८।६

७. **सुमङ्गलो भद्रवादी वदेह।** —ऋ० २।४२।२

८. **भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।** —ऋ० १।८९।८

९. **यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।** —ऋ० ८।६१।१३

हमें सभी ओर से निर्भय कर[१]। ऋग्वेद ९।७८।५ में सोम देव से प्रार्थना करते हुए कहा गया है जो शत्रु दूर वा समीप है उसे मारो और विस्तीर्ण मार्ग को हमारे लिए अभय करो[२]। सोम रस से सिक्त बलशाली इन्द्र, हमारे धन के लिए शोभनीय स्थानों को भयरहित करो[३]। इन्द्र द्वेष करनेवाले (शत्रुओं) को पीड़ित कर, हमें शोभन वीर का स्वामी बना और अभय कर[४]। हे ज्ञानी इन्द्र! हमें विस्तृत लोक की प्राप्ति करा और हमें सुखयुक्त भयरहित ज्योति तथा कल्याण की प्राप्ति करा[५]। अभय ज्योति के विषय में ऋ० २।२७।११ तथा इसी सूक्त की ऋचा १४वीं में भी कहा गया है—मैं भयरहित ज्योति प्राप्त करूँ, हे इन्द्र! विस्तीर्ण भयरहित ज्योति प्राप्त करूँ[६], सोम से भी विस्तृत अभय मार्गों की कामना की गई है[७]। वे आदित्यगण हमें भयरहित शरण दें और स्वस्ति-कल्याण के लिए (सुपथ) शोभन मार्गों को सुगम करें[८]।

ऋग्वेद ७।७७।४ में उषस् से प्रार्थना करते हुए कहा गया है—हे ऐश्वर्यशाली उषा! हमारे समीप (वननीय, सेवनीय) धनों को प्राप्त करती हुई, हम से शत्रुओं को दूर करती हुई अच्छी तरह से चमको तथा विस्तृत भूमि को हमारे लिए भयरहित करो[९]।

अभय की भावना यजुर्वेद[१०] और अथर्ववेद में भी परिलक्षित होती है। यजुर्वेद ३६।२२ में कहा गया है—हे परमेश्वर! तू जिस-जिस स्थान से चाहता है वहाँ से हमें अभय कर, प्रजाओं से सुखी कर और पशुओं से अभय कर, अथर्ववेद में इसको और भी अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए कहा गया है—अन्तरिक्ष लोक हमारे लिए निर्भयता को करें, ये दोनों द्यावापृथिवी निर्भय करें, पश्चिम से भय न हो, दक्षिण से भय न हो, उत्तर से भय न हो, पूर्व से भय न हो[११]। मित्र से भय न हो, अमित्र से भय न हो, परिचित से भय न हो, आगे खड़े अपरिचित से भय न हो। रात्रि और दिन में हमें भय न हो। सब दिशाएँ मेरी मित्र हों[१२]।

---

१. **जहि शत्रूंरप मृधो नुदस्वाथाभयं कृणुहि विश्वतो नः।** —ऋ० ३।४७।२
२. **जहि शत्रुमन्तिके दूरके च य उर्वी गव्यूतिमभयं च नस्कृधि।**
३. **उद्वावृषाणो राधसे तुविष्मान् करन्न इन्द्रः सुतीर्थाभयं च।** —ऋ० ४।२९।३
४. **बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम।** —ऋ० ६।४७।१२
५. **उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्त्स्वर्वज्ज्योतिरभयं स्वस्ति।** —ऋ० ६।४७।८
६. **अभयं ज्योतिरश्याम्।** —ऋ० २।२७।११
उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र। —ऋ० २।२७।१४
७. **उरु गव्यूतिरभयानि कृण्वन्।** —ऋ० ९।९।४
८. **त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये।** —ऋ० १०।६३।७
९. **अन्तिवामा दूरे अमित्रमुच्छोर्वीम् गव्यूतिमभयं कृधी नः।**
अन्तिवामा=**अन्ति अस्मदन्तिके वामं वननीयं धनं यस्या सा अन्तिवामा उच्छ विभाहि।** —सा०भा०
१०. **यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।**
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥ —यजु० ३६।२२
११. अथर्व० १९।१५।५। १२. अथर्व० १९।१५।६।

ऋग्वेद २।४१।१२ में कहा गया है—

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्।

इन्द्र हमें सब दिशाओं से निर्भय करे।

इस प्रकार ऋग्वेद में अभय की भावना पाई जाती है।

११. अहिंसा का स्पष्ट प्रतिपादन—

(क) अहिंसावाचक शब्द

(अ) अरिष्टः, (आ) अपतिघ्नी, (इ) अघ्नतः, (ई) अक्षतः, (उ) अरिष्यत, (ऊ) अद्रुह-अध्रुक्, (ए) अद्विषेण्यः-अद्वेषः।

(अ) अरिष्टः—

ऋग्वेद में 'अरिष्टः' शब्द लगभग ४० बार से अधिक आया, जिसमें अहिंसा की भावना सन्निहित है।

'अरिष्टः' शब्द के सम्बन्ध में सायणाचार्य ने लिखा है—'अरिष्टाः-अहिंसिताः' इससे इसका अर्थ 'हिंसारहित' ही प्रतीत होता है, जैसा कि ऋग्वेद में कहा है—'**राया युजा सधमादो अरिष्टाः**' ऋ० ७।४३।५

धन से तृप्ति के साथ हम अहिंसित होवें[१]। ऋक् २।२७।७ में कहा है—हम बहुवीर पुत्रादि से युक्त और अहिंसित होकर मित्र और वरुण का सुख प्राप्त करें। ऋक् ५।४२।८ में उल्लेख है—हे बृहस्पति! तेरी रक्षाओं से युक्त लोग, धनिक, सुपुत्रवाले और अहिंसित होते हैं[३]। ऋक् २।२७।१६ में कामना की गई है कि हम शत्रुओं से अहिंसित होकर विस्तीर्ण सुख में निवास करें[४]। अन्यत्र भी कहा है—हम सुवीर पुत्र-पौत्रवाले शरीर से सदा अहिंसित रहें[५]।

अहिंसा से समाज में आनन्द

परस्पर अहिंसित होते हुए एक दूसरे के साथ आनन्द से रहें—'**युजा सधमादो अरिष्टाः**[६]'। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक दूसरे की हिंसा नहीं करनी चाहिए, तभी समाज में आनन्द रह सकता है। यही भाव निम्नलिखित मन्त्रों से भी प्रकट होता है—

प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्पर्यरिष्टः सर्व एधते। —ऋ० ८।२७।१६

अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि।

—ऋ० १०।६३।१३

ऋग्वेद में एक अन्य स्थान पर कहा है कि जिसको वरुणादि देव हिंसा से बचाते हैं, अर्थात् अहिंसक बनाते हैं स्वयं भी अहिंसक होकर उन्नति को

---

१. **राया-धनेन सधमादः सह माद्यन्तः अरिष्टा अहिंसिता भवेम।** —सा०भा०
२. **बृहन्मित्रस्य वरुणस्य शर्मोप स्याम पुरुवीरा अरिष्टाः।**
३. **तवोतिभिः सचमाना अरिष्टा बृहस्पते मघवानः सुवीराः।**
४. **अरिष्टा उरावा शर्मन्त्स्याम।** —ऋ० २।२७।१६
५. **अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः।** —ऋ० १०।१२८।३
६. —ऋ० ७।४३।५।

प्राप्त करता है[१]।

अहिंसा से परिवार में सुख-शान्ति होती है

(आ) अपतिघ्नी—

ऋग्वेद के वैवाहिक सूक्त (१०।८५) में अनेक स्थानों पर वधू से सुख-शान्ति देनेवाली होवे ऐसी अभिलाषा व्यक्त की गई है। जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। ऋक् १०।८५।२९ में कहा है—हे वधू! मैं सुकृतलोक (गृहस्थ) में अहिंसित तुझ को पति के साथ स्थापित करता हूँ। इसी सूक्त की ऋक् संख्या ४४ में वधू को अपतिघ्नी शब्द से उद्बोधित करते हुए कहा है—

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमना सुवर्चाः।
वीरसूर्देवृकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥

सुन्दर मनवाली सुवर्चस्विनी पशुओं के लिए कल्याणकारिणी स्नेहमयी दृष्टिवाली (अघोरचक्षुः) पति के विरुद्ध आचरण न करने वाली (अपतिघ्नी) हो। वीर प्रसव करनेवाली देवरों की कामनावाली सुखदा दोपाये हम मनुष्यादि तथा चौपाये गौ, अश्व आदि के लिए शान्ति देनेवाली हो।

उपर्युक्त मन्त्र से स्पष्ट है कि अहिंसा से ही पति-पत्नी परस्पर रहते हुए सुख-शान्ति का लाभ परिवार में कर सकते हैं।

(इ) अघ्नतः—

ऋग्वेद में अघ्नतः शब्द अहिंसार्थक है, जिस का अनेक स्थानों पर प्रयोग हुआ है।

ऋग्वेद में इन्द्र से प्रार्थना की गई है—हे इन्द्र! अत्यधिक धनवाले हम अहिंसित होते हुए तेरी सुमति में और राजाओं के वरणीय घर में निवास करें[२]। ऋक् ८।२५।१२ में कहा है—अहिंसित होते हुए हम लोग अहिंसक शोभन दानवाले विष्णु देव की स्तुति करें[३]।

स्वस्ति के पथिक को अहिंसक होना चाहिए

स्वस्ति या कल्याण के मार्ग पर गमन करने के लिए दानी अहिंसक और ज्ञानी होने का उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है।

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि॥ —ऋ० ५।५१।१५

जैसे सूर्य और चन्द्र नियमित रूप से गमन करते हैं वैसे ही हम स्वस्ति (कल्याण) के पथ पर अनुगमन करें, तथा अभिमत (यथेच्छ) दान करते हुए, अहिंसित एवं ज्ञानी होकर परस्पर संगत होवें।

(ई) अक्षतः—

ऋग्वेद में अक्षतः शब्द भी अहिंसार्थक है जिसका उल्लेख अनेक

---

१. —ऋग्वेद १।४१।२।
२. —ऋ० ७।२०।८।
३. **अघ्नते विष्णवे वयमरिष्यन्तः सुदानवे।** —ऋ० ८।२५।१२

स्थानों पर हुआ है—

बालक का जन्म परिवार के लिए सदा ही आनन्दकर रहता है इसलिए बालक एवम् उसकी जन्मदात्री को किसी प्रकार का कष्ट अथवा पीड़ा न हो इसका उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है, क्योंकि कभी-कभी ऐसा होता है कि प्रसवकाल में माता या बालक अथवा दोनों की मृत्यु (हिंसा) हो जाती है। इसलिए दोनों सकुशल रहें यह कामना स्वाभाविक ही है—

दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधिमातरि।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि॥ —ऋ० ५।७८।९

(उ) अरिष्यत्—

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर 'अरिष्यत्' शब्द भी अहिंसार्थक पाया जाता है।

ऋग्वेद में कहा गया है, हम किसी से भी हिंसित न होते हुए अग्नि, इन्द्र, सोम आदि देवों की रक्षाओं से युक्त हों और शत्रुओं का अभिभव करें[1]। ऋक् ४।५७।३ में मधुरता के साथ-साथ अहिंसित होने की कामना की है—

मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम्।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम॥

ओषधियाँ, द्युलोक, जलधाराएँ और अन्तरिक्ष हमारे लिए मधुरता से युक्त हो एवं भूमिपति मधुवाला हो। अहिंसित होते हुए हम इसका अनुसरण करें। ऋग्वेद में एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि हम अहिंसित होते हुए दानी मरुतों की रक्षाओं से युक्त हों[2]।

उपर्युक्त मन्त्रों से यह ज्ञात होता है कि ऋग्वेद की भावना अहिंसा एवं मधुरता से युक्त सुख की ओर है यही कारण है कि ऋग्वेद के किसी भी मन्त्र में दारिद्र्य कटुता, हिंसा एवम् अदानशीलता की भावना का आदर नहीं किया गया।

(ऊ) अद्रुह् (अध्रुक्)—

ऋग्वेद में 'अद्रुह्' शब्द अहिंसार्थक है जिसका देवों और मनुष्यों के लिए प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में देवों के चरित्र को ही आदर्शरूप में स्वीकार किया गया है, अर्थात् देवों के चरित्र का अनुकरण श्रेष्ठ माना गया है।

ऋग्वेद में सभी देव द्रोहरहित प्रेमसहित कहे गये हैं। ऋक् २।१।१४ में अग्नि की स्तुति की है—

त्वे अग्ने विश्वे अमृतासो अद्रुह आसा देवा हविरदन्त्याहुतम्।

---

१. **अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य देवानामूतिभिर्वयम्।**
अरिष्यन्तः सचेमह्यभिष्याम पृतन्यतः॥ —ऋ० २।८।६

२. **'अरिष्यन्तो निपायुभिः सचेमहि'** ऋ० ८।२५।११। 'अरिष्यन्तः' शब्द को सायण ने मरुतों का विशेषण माना है लेकिन ऋ० २।८।६ और ४।५७।३ में पड़े हुए 'अरिष्यन्त' से यही प्रतीत होता है कि यह विशेषण 'वयम्' शब्द के लिए ही युक्तियुक्त होगा।

हे अग्ने! तेरे आधार से और तेरे द्वारा आहुत सभी आमरणधर्मा द्रोहरहित देव हव्य पदार्थों को खाते हैं। सोम के व्रत के विषय में ऋक् ९।१०२।५ में कहा है—

अस्य व्रते सजोषसो विश्वेदेवासो अद्रुहः।
स्पार्हा भवन्ति .... ॥

सोम के व्रत में सभी देव द्रोहरहित स्पृहणीय होकर संगत होते हैं।

इस प्रकार सभी देव द्रोहरहित चित्रित किये गये हैं, इसलिए मानव को भी द्रोहरहित और प्रेम सहित होना चाहिए।

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर 'अद्रुह' शब्द मानवीय व्यवहारों में भी प्रयुक्त हुआ है—

सोम के लिए ऋक् ९।९।२ में कहा है, 'सोम तुम निवास करने वाले' 'अद्रोही' स्तोता के लिए सेवनीय हो[१]।

ऋक् ८।६०।४ में अग्नि से प्रार्थना की है—

मैं द्रोहशून्य हूँ, हे युवतम और नित्य अग्ने! देव लोग मेरे लिए कामना करते हैं उन्हें हवि भक्षण के लिए यहाँ ले आओ[२]।

ऋक् ८।९७।१२ में 'सुदीतयो वो अद्रुहः' स्तोतृवर्ग के लिए कहा है 'स्तोता तुम लोग शोभन दीप्ति वाले और द्रोहशून्य हो[३]'।

(ए) अद्विषेण्यः 'अद्वेषः'—

ऋग्वेद में 'अद्विषेण्यः' शब्द भी अहिंसार्थक या द्वेषरहित अर्थ में दो बार प्रयुक्त हुआ है। ऋक् १।१८७।३ में द्वेषरहित पितुः अन्न या ओषधि से मंगल कामना की गई है—

हे पितः पालक ओषधि! मंगलमय और मंगलों से युक्त रक्षाओं से हम को प्राप्त हो, आनन्दकारी द्वेषरहित अद्वितीय सुखकारी मित्र हो[४]।

अद्वेषः—

ऋग्वेद में 'अद्वेषः' शब्द भी अहिंसार्थक है। यह शब्द ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर पाया जाता है, परन्तु यही सभी स्थानों पर मरुत्[५], विष्णु[६], द्यावा-पृथिवी[७], अग्नि[८] आदि विश्वे देवों[९] के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिससे निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि द्वेषरहित देवों के सम्पर्क से देवों के उपासक भी

---

१. **प्र प्र क्षयाय पन्यसे जनाय जुष्टो अद्रुहे।**
२. **अद्रोघमा वहोशतो यविष्ठ्य देवाँ अजस्र वीतये।**
३. **सुदीतयो वो अद्रुहः।**
४. **उप नः पितवा चर शिवः शिवाभिरूतिभिः।**
मयोभुरद्विषेण्यः सखा सुशेवो अद्वयाः॥
५. ऋ० ५।८७।८।
६. ऋ० १।१८६।१०।
७. ऋ० ९।६८।१०।
८. ऋ० १।२४।२।
९. ऋ० १०।३५।९।

द्वेषरहित होना चाहते हैं, इसीलिए अग्नि से ऋग्वेद में प्रार्थना की है—'**विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत्**' ऋ० ४।१।४ हे अग्ने! सम्पूर्ण द्वेष भावों को हम से अलग करो। ऋक् २।६।४ में भी अग्नि से प्रार्थना है—युयोध्यस्मद् द्वेषांसि।

(ऐ) अध्वरः—

ऋग्वेद में 'अध्वर' शब्द अहिंसार्थक का २०० बार से अधिक उल्लेख हुआ है।

यास्काचार्य ने 'अध्वर' शब्द को यज्ञ का पर्यायवाची मानकर लिखा है—'अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः'। निरुक्त १।३।८

ऋग्वेद २।२३।५ में 'ध्वरसः' शब्द के विषय में कहा है—

विश्वा इदस्माद् ध्वरसो वि बाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते।

हे ब्रह्मणस्पते! जिसकी आप रक्षा करना चाहते हो उसको समस्त हिंसाओं से बचाते, अर्थात् हिंसाओं से पृथक् कर देते हो। ध्वरसः शब्द से विदित होता है कि हिंसा इतनी बुरी वस्तु है कि जो हिंसा करता है संसार में उसकी रक्षा नहीं हो सकती।

वैदिक भावना में यज्ञ की बहुत प्रधानता है, उस यज्ञ का पर्यायवाची शब्द 'अध्वर' ऋग्वेद के अनुसार यज्ञ जो सबसे पवित्र वस्तु है उसको हिंसा रहित होना चाहिए, उस पर ऋग्वेद ने बल दिया है, व्यापक रूप से देखा जाय तो मनुष्य का जीवन यज्ञ है, जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् में कहा है 'पुरुषो वै यज्ञः[1]' यज्ञ को अध्वर कहकर ऋग्वेद यही प्रकट करता है कि मनुष्य को हिंसा रहित होना चाहिए।

हिंसा होने पर क्षमा-याचना—

अहिंसा के विषय में ऋग्वेद का उपासक इतना सतर्क है कि यदि देव जनों की किसी प्रकार हिंसा हो गई हो उसके लिए क्षमा-याचना करता है—

यत्किञ्चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि।
अचित्ती यत्तव धर्मायुयोपिम मानस्तस्मादेनसो देवरीरिषः॥

—ऋ० ७।८९।५

हे वरुण! हमने मनुष्य होने के कारण जो कुछ देवसमूह जन में अभिद्रोह का आचरण किया है और हमने अज्ञानता से तेरे नियमों का उल्लंघन किया है हम को उस अपराध से पीड़ित न करो।

ऋग्वेद १०।१५।६ में कहा है—मनुष्य होने के कारण हम से जो अपराध पितरों के हुए हैं, उन किसी अपराध से वे (पितरजन) हम को हिंसित न करें[2]। ऋक् १०।१७।१० में जल देवता से शुद्ध पवित्र होने की प्रार्थना की है। देवी आपः सम्पूर्ण पाप (अपराध) बहा दें, मातृस्थानीय आपः (जल) हम को पवित्र करें। सभी को पवित्र करनेवाली (घृतप्वः[3]) हम को

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ४।१६।१।

२. **मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम।**

३. **या घृतेन अन्यान् पुनन्ति ताः घृतप्वः।** —द्र० वेंकट भाष्य

घृत (जल) से पवित्र करें। ऋक् १०।९।८ में एकवचनान्त प्रार्थना की है—

'इदमापः प्रवहत यत्किञ्च दुरितं मयि।
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम्'॥

हे आप जो कुछ मुझ में दुरित है उसको अच्छी प्रकार से प्रवाहित करो। जो मैंने अभिद्रोह किया या जो निन्द्यवचन कहा या अनृत कथन किया (उस सब को दूर करो)।

ऋग्वेद का उपासक पवित्र होना चाहता है इसलिए देवों से पवित्रता की प्रार्थना की है—

पुनन्तु मां देवजनाः पुनन्तु वसवो धिया।
विश्वे देवाः पुनीत मा जातवेदः पुनीहि मा॥

देवजनो! मुझे पवित्र करो, वसुओ अपनी बुद्धि द्वारा मुझे पवित्र करो, विश्वेदेवो मुझे पवित्र करो, जातवेद मुझे पवित्र करो। मुझे सभी ओर से पवित्र करो। ऋ० ९।६७।२५

(ख) ऋग्वेद में 'रिष्' धातु से निष्पन्न शब्दों के साथ 'रक्ष' एवं 'पा' का प्रयोग

ऋग्वेद में 'रिषः' हिंसकार्थक शब्द के साथ अनेक स्थानों पर[१] रक्ष या पा धातु के तिङन्त के रूपों का प्रयोग हुआ है, जिनमें हिंसक से रक्षण का विधान प्रतिपादन किया गया है।

ऋग्वेद ३।३१।२० में इन्द्र से प्रार्थना की है—हे रथवान् इन्द्र! तू हमें हिंसक से बचा।

स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम्। —ऋ० १०।८७।१
वसवो रक्षिता रिषः। —ऋ० २।३४।९
रक्षतामहंसो रिषः। —ऋ० १०।३६।२

इस प्रकार के अनेक मन्त्र ऋग्वेद में पाये जाते हैं।

ऋग्वेद में हिंसकों से रक्षण के लिए विशेषकर अग्नि से प्रार्थनाएँ अधिक की गई हैं। जैसे—

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः।
पाहि रीषत उत जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य॥ —ऋ० १।३६।१५

हे प्रदीप्त तेज एवं बलशालिन् अग्ने! हमें राक्षसों से बचाओ। विश्वासघाती एवम् अदानी से बचाओ, हिंसकों और हिंसा करने की इच्छा करनेवालों से बचाओ।

(ग) ऋग्वेद में रिष् धातु से उत्पन्न तिङन्त शब्दों के साथ निषेधार्थक 'नकार' का प्रयोग।

ऋग्वेद में अनेक स्थानों[२] पर 'रिष्' धातु के तिङन्त प्रयोग निषेधार्थक

---

१. ऋ० १।४१।२, ९८।२, २।३५।६, ५।५२।४, ६७।३, ६।२४।१० इत्यादि।
२. ऋ० १।१८।४, ५।४४।९, ५४।७, ६।५४।३, ८।३१।१६, ४८।१०, १०।५१।७, ९७।१७, १०७।८ इत्यादि।

नकार के साथ भी पाये जाते हैं जिनसे भी अहिंसा ही प्रकट होती है। जैसे—

त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा राजन्नघायतः।
न रिष्येत्त्वावतः सखा॥ —ऋ० १।९१।८

हे सोम राजन्! तुम हमारी हिंसा करने की इच्छा करनेवाले से सभी ओर से रक्षा करो, हम आपके सखा कभी हिंसित न हों। इसी प्रकार पूषादेव से प्रार्थना की है—

पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन। —ऋ० ६।५४।९

(अ) मा हन् रिष् और रीरिष्—

ऋग्वेद में 'मा' निषेधार्थक के साथ 'हन्', 'रिष्', 'रीरिष्' धातु का तिङन्त रूप में अनेक स्थानों पर प्रयोग पाया जाता है। ऋग्वेद १०।१५।६ में कहा है—हे पितरो! हमने पुरुष होने के कारण अज्ञानता में जो भी आपका अपराध किया हो (उस अपराध के कारण) किसी प्रकार से हमें नहीं मारना[१]। ऋक् १०।१४२।१ में हिंसकों के अस्त्र को दूर करने को कहा है। हे अग्ने! आपका कल्याण और सुख विशाल घर के समान है, अतः हिंसकों के चमकते अस्त्र को दूर करो[२]। हे देवकपोत! हमको हिंसित न करो बल्कि हमारी गऊओं और पुरुषों के लिए शान्ति या सुखप्रद हो[३]।

(आ) मा रिषाम—

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर 'मा रिषाम' का प्रयोग भी पाया जाता है यह प्रयोग सब से अधिक ऋक् १३।९।३ में हुआ है, यह इसी सूक्त में १४ बार मन्त्र के चतुर्थ चरण में 'अग्ने सख्ये मा रिषाम वयं तव' के रूप में आया है जिसमें अहिंसा की ओर संकेत किया है जैसा अग्नि के लिए ऋ० १।९४।१३ में कहा है—

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

हे अग्निदेव! तुम सभी देवों के महान् प्रौढ़ सखा हो। यज्ञ (अध्वर) में शोभायमान तुम सभी प्रकार के धनों के निवासभूत हो, अतः तेरे अत्यन्त विस्तीर्ण घर या सुख में हम निवास करें और हे अग्ने! हमारी आपके साथ मित्रता होने पर हम हिंसित न हों। इसी प्रकार इन्द्र से ऋक् ६।४४।११ में प्रार्थना की है—

मा ते रेवतः सख्ये रिषाम।

(इ) मा रीरिषः—

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर[४] मा निषेधार्थक के साथ रीरिष धातु का

---

१. **मा हिंसिष्ट पितरः केनचिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम।**
२. **भद्रं हि शर्म त्रिवरूथमस्ति त आरे हिंसानामप दिद्युमा कृधि॥**
३. **शन्नो गोभ्यश्च पुरुषेभ्यश्चास्तु मा नो हिंसीदिह देवाः कपोतः।**
—ऋ० १०।१६५।३
४. ऋक् १।८९।९, १०४।६, ३।५३।२०, ७।४६।३, ८९।५, १०।१८।१, १२८।८ इत्यादि।

तिङन्त प्रयोग भी पाया जाता है जो अहिंसा का भी प्रतिपादक है, जैसे रुद्र देवता से प्रार्थना की गई है—

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः॥

—ऋ० १।११४।७

हे रुद्रदेव! हमारे बड़ों को, छोटों को तथा वीर्य सिञ्चन में समर्थ युवा को मत मार, हमारे पिता-माता को मत मार और प्रिय शरीरों एवं शिशुओं को हिंसित मत कर। ऋक् १।११४।८ में रुद्र से प्रार्थना की गई है—

मा नस्तोके तनये मा न आयो मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे॥

हे रुद्र! हमारे पुत्र-पौत्रादिकों की, हमारे मनुष्यों की और गौ अश्वादि पशुओं की हिंसा मत कर एवं हे रुद्र! कभी अति क्रुद्ध होकर हमारे वीरों को मत मार, क्योंकि हवियों (भेंटों) से युक्त हम लोग सदा ही तुझे पुकारते हैं।

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों में रुद्र से हमारे व्यक्तियों की हिंसा न करने की जो यह प्रार्थना की गई है, क्योंकि (रुद्र) हमारा आदर्श देव है, उससे हम अहिंसा की प्रार्थना करते हैं वही हमें अपने जीवन में भी धारण करनी चाहिए। यही ऋग्वेद का आदेश है। साथ ही यदि हम सामाजिक दृष्टि से देखें तो रुद्र का अर्थ सेनापति, वैद्य और विद्वान् भी है। इस दृष्टि से ये मन्त्र स्पष्ट ही अहिंसा के प्रतिपादक हो जाते हैं।

१२. अहिंसा के विरोधी तत्त्व—

अभी हमने अहिंसा के विषय में विस्तृत उल्लेख किया, किन्तु इस अहिंसा के वेद में अनेक स्थल हिंसा के प्रतिपादक हैं उनका समाधान क्या होगा?

उसका समाधान यह है कि ऋग्वेद के जिन मन्त्रों में हिंसा प्रतीत होती है, प्रायः उन मन्त्रों में देवों से ऐसे तत्त्वों को नष्ट करने की प्रार्थना की गई है जो अहिंसा के तथा उससे होनेवाली सुख-शान्ति के बाधक हैं। जिनका उल्लेख ऋग्वेद में दस्यु, राक्षस, वृत्रादि के रूप में किया गया है, जिन देवों से इनको नष्ट करने की प्रार्थना की गई है वे निम्नलिखित हैं—

(अ) इन्द्र—

ऋग्वेद में अन्य देवों की अपेक्षा इन्द्र के लिए 'सत्पति' शब्द अधिक बार प्रयुक्त हुआ है। जिससे इन्द्र को 'सज्जन' रक्षक एवं दुष्ट प्रताड़क कहा जा सकता है। ऋग्वेद १०।८३।३ में कहा है—'**अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः**' हे इन्द्र! अमित्रों का संहार कर, सुख-शान्ति में बाधा डालनेवाले 'वृत्र' का विनाश कर, दूसरे का धन हरण करनेवाले दस्यु को नष्ट कर और समस्त धन-वैभवों को हमारे लिए प्रदान कर। ऋक् १।१७४।१ में कहा है—हे इन्द्र! हम मनुष्यों की रक्षा कर[1]। ऋक् १।१२९।११ में उल्लेख है—हे इन्द्र! पापी राक्षस का हनन कर और मुझ

१. **नृन्पाह्यसुर त्वमस्मान्।**

विप्र का रक्षक हो[१]।

ऋग्वेद २।२१।४ में इन्द्र को 'दोधतो वधः' कहा गया है जिसका अर्थ सायण ने 'हिंसक असुर का हन्ता' किया है[२]। जिससे प्रकट होता है कि जो हिंसा करे उसकी इन्द्र हिंसा करता है जिससे यह भी ज्ञात होता है कि 'हिंसा' की 'हिंसा' करना ही अहिंसा की स्थापना करना है। और इस प्रकार 'अहिंसा' की स्थापना सभी देवों में पाई जाती है। ऋक् २।१२।१० में इन्द्र का परिचय देते हुए कहा गया है 'जो सज्जनों के धन को लूटकर ले जाता है ऐसे दस्यु को जो नष्ट करनेवाला है, हे मनुष्यो! वह इन्द्र है[३]।'

यहाँ पर 'भय' व्याप्त होता है वहाँ सुख-शान्ति और अहिंसा की भावना नहीं रहती। इसलिए इन्द्र से 'अभय' की प्रार्थना की है 'यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।' ऋ० ८।६१।१३। हे इन्द्र! जिस स्थान से हम को भय हो उससे हमें अभय करो। ऋग्वेद में एक अन्य स्थान पर उल्लेख हुआ है, हे मघवन्! हमें अपनी रक्षाओं से रक्षित करो (शग्धि) हमारे द्वेषी और हिंसकों की हिंसा करो[४]। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर हिंसा एवं लूट-पाट करनेवालों को नष्ट करने की प्रार्थना इन्द्र से की गई है[५]।

(आ) अग्नि—

अग्निदेव से भी अहिंसाविरोधी तत्त्वों को भस्म करने की प्रार्थना ऋग्वेद में की गई है। ऋक् १।३६।२० में कहा है—हे अग्निदेव! दुष्ट राक्षसों के सहायक, पीड़ादायक पुरुषों के स्वामी और समस्त लूट-पाट करनेवाले प्रजा पीड़क को भस्म कर[६]। ऋक् १।७८।१२ में कहा है, अग्नि सब विघ्नकारी राक्षसों को दूर हटा देता है[७], हे अग्निदेव! द्वेष करनेवालों को हमसे दूर कर[८]। राक्षसों को नष्ट कर[९]। हे जातवेद अग्ने! पापाचारी के पाप से हमें बचा तथा पाप करने की इच्छा करनेवाले से भी हमारी रक्षा कर[१०]। ऋक् ६।१६।३२ में उल्लेख है जो दुष्टाचारी मनुष्य हमारा वध करने के लिए अस्त्रादि से प्रयत्न करता है उस पाप और पापी से हमें बचा[११] एक अन्य स्थान पर कहा है—

---

१. **हन्ता पापस्य रक्षसस्त्राता विप्रस्य मावतः।** —ऋ० १।१२९।११

२. **दोधतो वधः=हिंसकस्यासुरस्य हन्ता।** —सा०भा०

३. **यो दस्युर्हन्ता स जनास इन्द्रः।**

४. **मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतिभिर्विद्विषो वि मृधो जहि।** —ऋ० ८।६१।१३

५. १।१३०।८, १३३।१,२, १७५।३, १७६।४, ३।५३।१४, ४।२८।३, ५।३४।७, ३५।५, ६।२०।३, ७।२१।९, ३२।२६, ८।२।१५, ४।२, ६१।१६, ६४।३, १०।२२।८, १५२।४ इत्यादि।

६. **रक्षस्विनः सदमिद्यातु मावतो विश्वं समत्रिणं दह।** —ऋ० १।३६।२०

७. **अग्निः रक्षांसि सेधति।** —ऋ० १।७९।१२

८. **युयोध्यस्मद् द्वेषांसि।** —ऋ० २।६।४

९. **जहि रक्षांसि सुकृतो।** —ऋ० ६।१६।२९

१०. **त्वं नः पाह्यंहसो जातवेदो अघायतः।** —ऋ० ६।१६।३०

११. **यो नो अग्ने दुरेव आ मर्तो वधाय दाशति। तस्मान्नः पाह्यंहसः॥** —ऋ० ६।१६।३१

हे अग्नि देव! उस दुष्कर्मी मनुष्य को जिह्वा से रोको जो हमें मारने की इच्छा करता है[१]। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर अहिंसा के बाधक तत्त्वों को रोकने या नष्ट करने की प्रार्थना अग्नि से की है[२]।

(इ) अन्य देव—

ऋग्वेद में इसी प्रकार अहिंसा के बाधक तत्त्वों को रोकने एवं नष्ट करने की प्रार्थना ब्रह्मणस्पति[३], अश्विनौ[४], सोम[५], इन्द्रासोम[६], मरुद्गणादि[७] से की गई है।

ऋग्वेद के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि अहिंसा का भाव जो बौद्ध एवं ईसाई धर्मावलम्बियों में पाया जाता है। जैसे ईसाई धर्म की यह उक्ति प्रसिद्ध है कि यदि कोई व्यक्ति तुम्हारे गाल पर चपत लगाए तो दूसरा भी उसके सामने कर दो और कहो कि इस पर भी चपत लगा। इस प्रकार का भाव ऋग्वेद में नहीं पाया जाता, यहाँ तो जो भी अहिंसा या उससे उत्पन्न सुख-शान्ति में बाधा पहुँचाता है उसको अवश्य ही दण्डित करना चाहिए, चाहे वह अपना कितना ही समीपस्थ व्यक्तियों में क्यों न हो। जैसा मनुस्मृतिकार ने स्पष्ट रूप से निर्देश किया है—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ —मनु० ८। ३५०

गुरु, बालक, वृद्ध अथवा बहुश्रुत ब्राह्मण कोई भी हो जो आततायी होकर आये उसको बिना विचार किये ही मार दे।

---

१. **त्वं तं देव जिह्वया परि बाधस्व दुष्कृतम्। मर्त्तो यो नो जिघांसति॥** —ऋ० ६। १६। ३२
२. ऋ० १। ३६। १५, ७८। ४. ९४। ९, १९१। ३,४, २। ७। २, ३। १५। १, १८। २, ४। ३। १४, ४। ५, ५। २। १०, ३। ७, ४। ६, ६। १४। ३, १६। २७,२८, ५१। १३, ७। १। १३, ८। ६। ७ इत्यादि।
३. ऋ० २। ३०। ९, १०। ४२। ११, ४३। ११, ४४। ११ इत्यादि।
४. ऋ० १। १२०। ७, १८२। ४।
५. ऋ० ९। २३। ५, २७। ३, ४०। ३, ४१। ६, २३। १। ३, ५६। १, ६३। २८। २९।
मा नः सोम परिबाधो मारातयो जुहुरन्त। —ऋ० १। ४३। ८
६. ऋ० ७। १०४,१,३,२४,२५।
७. ऋ० ७। ५६। १९, ५९। ८, १०४। १८।

अध्याय : ५

दान

दूसरों को कष्टों में देखकर मानव के हृदय में जो स्वाभाविक सहानुभूति उत्पन्न होती है, इस दैवी गुण सहानुभूति के उत्पन्न होने पर जो अपने स्वार्थों पर नियन्त्रण कर, तन, मन, धन से दूसरों की सहायता करता है, यही दान कहलाता है। यह हमारे आचार का अभिन्न अंग है जिसकी प्रशंसा विधेयात्मक रूप से ऋग्वेद में पदे-पदे परिलक्षित होती है तथा ऋग्वेद के अनेक स्थानों पर दान न देनेवाले की निन्दा भी की गई है। जिससे अर्थापत्ति के द्वारा भी यही सिद्ध होता है, दान मानव-जीवन का एक आवश्यक अंग है।

ऋग्वेद १०।११७ में धन से सम्पन्न व्यक्ति को दान देने की प्रेरणा करते हुए कहा गया है कि धनवान् को चाहिए कि निर्धन की सहायता करे, क्योंकि जीवन बहुत लम्बा है और धन की स्थिति यह है कि वह सदा किसी के पास समान रूप से बनी नहीं रहती, इसलिए दूरदर्शी होकर सोचे कि कभी मेरी भी ऐसी स्थिति हो सकती है जबकि मुझे दूसरे की सहायता की अपेक्षा हो। अतः उसे दूसरे की सहायता करनी चाहिए[१]।

१. दान देने की प्रशंसा—

दान देना एक प्रशंसनीय एवं सम्माननीय कार्य है। दान देने के कारण दानदाता को सम्माननीय स्थानों पर आमन्त्रित किया जाता है और वह सहर्ष उन स्थानों पर जाता है जैसा कि ऋग्वेद में उल्लेख हुआ है जो धनवान् है और वास के हेतुभूत साधन धन, अन्न, वस्त्रादि का दान करनेवाला है, वह स्वयं प्रशंसा प्राप्त करता हुआ सबसे मुख्य जन समुदायों में रथ आदि साधनों द्वारा सम्मानपूर्वक जाता है[२]।

(अ) दाता की अबाध गति—

जहाँ दान से मनुष्य की प्रशंसा होती है वहाँ उसका रथ अबाध गति से गमन करता है जिसका उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है कि सब के हित के

---

१. **पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।**
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः॥ —ऋ० १०।११७।५
तव्यान् नाधमानाय इत् पृणीयाद्—धन सम्पन्न पुरुष याचना करनेवाले के लिए अवश्य ही दान दे, '**द्राघीयांसम् पन्थामनु पश्येत**' वह (जीवन के) अत्यन्त लम्बे मार्ग की ओर देखे (हि) क्योंकि (**रायः रथ्या चक्रा इव आवर्तन्ते**) सम्पत्तियाँ रथ के पहियों के समान ऊपर-नीचे होती रहती हैं, **अन्यम् अन्या उपतिष्ठन्ते**। एक दूसरे के पास जाती रहती हैं। ओ-आ+उ। तव्यान्—'तवीयान् धनैरतिशयेन प्रवृद्धः पुरुषः सायणभाष्य देखिये पूना संस्करण'।

२. **रेवान्याति प्रथमो रथेन वसुदावा विदथेषु प्रशस्तः।** —ऋ० २।२७।१२
विदथेषु=जन समुदाय-असेम्बलीज (ग्रिफिथ) विद्वत्सवास यज्ञस्थलेषु वा—ऋक् सूक्त वैजयन्ती कोष पृ० ५४७।

लिए अपने धन-वैभव का जो दान करता है, उसके रथ को कोई रोक नहीं सकता तथा उसे छीनकर उसमें रमण भी कोई नहीं कर सकता[१]। इससे प्रतीत होता है कि ऋग्वेद में दानी के प्रति लोगों के हृदयों में इतना सम्मान है कि उसके मार्ग में कोई बाधक नहीं बनते और न उनके गमन के साधनों को छीनकर उनका स्वयम् उपभोग करते हैं।

(आ) दान से ऐश्वर्य-प्राप्ति—

प्रायः लोक में यह धारणा बनी हुई है कि दान देने से दाता का धन घटता है, परन्तु ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से उल्लेख हुआ है कि धन देने से घटता नहीं अपितु अधिक ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है '**अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्**' ऋ० १०।४८।१ मैं (इन्द्र) दानशील व्यक्ति के लिए भोजन देता हूँ। ऋग्वेद के एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि जो अश्वों को अथवा गौओं के दान करनेवाले हैं तथा जो वस्त्रों को दान देनेवाले हैं वे उत्तम ऐश्वर्यों वाले होते हैं[२]। ऋग्वेद के दशम मण्डल के प्रसिद्ध दान सूक्त में कथन है कि जो अपने धन से दूसरों को तृप्त करता है या दूसरों की सहायता करके उनके कष्ट दूर करता है उसका ऐश्वर्य कभी क्षीण नहीं होता[३]। अपितु बढ़ता है[४]।

२. दान-दक्षिणा विवेचन—

ऋग्वेद में दान के अतिरिक्त दूसरा शब्द दक्षिणा भी बहुत प्रसंगों में व्यवहृत होता है, जिसके अर्थ के विषय में कोशकारों ने लिखा है—

(१) सर मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत इंगलिश कोश में दक्षिणा शब्द का अर्थ करते हुए 'दुधारु गाय या दूध देने योग्य गाय' अर्थ भी किया है, इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने कात्यायन श्रौतसूत्र के आधार पर यह अर्थ किया है[५]।

(२) डॉ० सूर्यकान्त ने वैदिक कोश में दक्षिणा शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है कि 'जहाँ' (दक्षिणा के सम्बन्ध में) कुछ उल्लिखित न हो वहाँ गौ देने का विधान है। ऐसा उन्होंने कात्यायन श्रौतसूत्र १५।२।१३ और लाट्यायन श्रौतसूत्र ८।१।२ के आधार पर लिखा है[६]।

(३) वैदिक इण्डैक्स के लेखकों ने भी दक्षिणा शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है—ऋग्वेद और बाद में यज्ञ के समय पुरोहितों को दिये गये उपहार के वाचक के रूप में यह शब्द बहुधा प्रत्यक्षतः इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि

---

१. **नकिः सुदासो रथं पर्यास न रीरमत्।** —ऋ० ७।३२।१०
सुदासः रथं न किः पर्यास—सुदाता के रथ को कोई उलट नहीं सकता, '**न रीरमत्**' और न उसके रथ को छीनकर उसमें रमण कर सकता है। सुदासः—शोभनदानस्य (सायण) सुदासः—कल्याणदानः। —नि० २।७
२. **ये अश्वदा उत वा सन्ति गोदा ये वस्त्रदा सुभगास्तेषु रायः।** —ऋ० ५।४२।८
—ऋ० १०।११७।१
३. **रयिः पृणतो नोपदस्यति।**
४. —ऋ० ५।४२।८।
५. मोनियर विलियम्स-संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी-पृ० ४६५ कालम २।
६. वैदिक कोश-पृ० १८६।

एक प्रचुर दुग्ध प्रदान करनेवाली (दक्षिणा) गाय ही ऐसे अवसरों पर पुरोहितों का सामान्य पारिश्रमिक होती थी[१]।

उपर्युक्त तीनों कोशकारों ने कात्यायन के आधार पर अनिर्दिष्ट दक्षिणा से दुधारु गौ के ही अर्थ ग्रहण करने पर बल दिया है, लेकिन ऋग्वेद में उपलब्ध सामग्री से यह अर्थ मेल नहीं खाता क्योंकि ऋग्वेद में दक्षिणा देने के लाभों का वर्णन करते हुए कहा गया है—

उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सहते सूर्येण।
हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोम प्रतिरन्त आयुः॥

—ऋ० १०।१०७।२

दक्षिणा देनेवाले पुरुष उच्च द्युलोक में स्थित होते हैं जो अश्वों के रूप में दक्षिणा प्रदान करते हैं वे सूर्य के साथ स्थित रहते हैं, जो हिरण्य के रूप में दक्षिणा देते हैं वे अमृतत्व को पाते हैं और हे सोम! जो वस्त्रों के दान करनेवाले हैं वे अपनी आयु को बढ़ा लेते हैं।

दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम्।
दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्॥

—ऋ० १०।१०७।७

दक्षिणा अपने दानदाताओं को अश्व, गौ, रजत, स्वर्ण और अन्न प्रदान करती है, जो दक्षिणा हमारे जीवन का आधार (आत्मा) है। ज्ञानवान् व्यक्ति दक्षिणा के इस महत्त्व को समझकर उसे अपना कवच बना लेता है।

जहाँ-जहाँ अनिर्दिष्ट दक्षिणा का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है वहाँ-वहाँ यह उस दाता के ऊपर निर्भर है कि ऋग्वेद में निर्दिष्ट दक्षिणा रूप में दिये जानेवाले पदार्थों में से कौन सा पदार्थ दक्षिणा रूप में दिया जाय, उसके लिए कोई नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता कि उसको दुधारु गाय ही देनी होगी। जैसा कि परवर्ती वैदिक साहित्य में उल्लेख हुआ है, क्योंकि ऋग्वेद में जब स्वयं दक्षिणा के रूप में स्पष्टतया अश्व, हिरण्य, वस्त्र, गौ, रजत, अन्नादि का प्रतिपादन किया गया है तब इसमें अनिर्दिष्ट दक्षिणा शब्द से कात्यायन और लाट्यायन श्रौतसूत्रों का कोशकारों को आश्रय लेना असंगत ही प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त उपर्युक्त कोशकारों की यह भी मान्यता है कि यागादि कर्मकाण्डी पुरोहितों को दिये जानेवाला पदार्थ दक्षिणा कहलाती थी, परन्तु यह मान्यता भी ऋग्वेद पर पूर्णांश में घटती हुई प्रतीत नहीं होती, क्योंकि इनकी मान्यता है कि—'दक्षिणा केवल कर्मकाण्डी पुरोहितों को ही मिलनेवाला पदार्थ था' तब हमें पुरोहितों के मिलनेवाली दक्षिणा के प्रमाण ही ऋग्वेद में मिलने चाहिए थे, जबकि ऋग्वेद के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि दक्षिणा का प्रतिपादन पुरोहितों से भिन्न व्यक्तियों के लिए भी किया गया है। जैसा कि ऋग्वेद २।११।२१ में इन्द्र से प्रार्थना करते हुए कहा गया है—'हे इन्द्र! तेरी

१. वैदिक इण्डैक्स-पृ० ३७४ (हिन्दी अनुवादक रामकुमार राय)

ऐश्वर्यवाली दक्षिणा जरिता (स्तोता यजमान) के लिए वरणीय-वरणीय पदार्थों का दोहन कर (प्रदान कर) स्तुति करनेवाले (वेदपाठियों) को भी दक्षिणा दो परन्तु हम को छोड़कर मत प्रदान करो। क्योंकि हम भी उत्तम वीर पुत्र-पौत्र वाले हैं और यज्ञ में हमने भी स्तुति की है'[१]।

उल्लेखनीय बात यह है कि यह मन्त्र सात बार सूक्तान्तों में पढ़ा गया है[२]। जिससे प्रतीत होता है कि इन्द्र की मघोनी दक्षिणा का अधिकार सभी को है, केवल कर्मकाण्डी पुरोहितों के लिए ही एकाधिकार नहीं है, जैसा कि परवर्ती कर्मकाण्डी वैदिक साहित्य में हुआ है।

ऋग्वेद १०।१०७।५ में उल्लेख हुआ है—

'दक्षिणावान् ग्रामणीरग्रमेति'

दक्षिणा देनेवाला मनुष्य ग्राम (के समुदाय) का मुखिया होकर आगे-आगे चलता है। अब यदि कोशकारों के आधार पर दक्षिणा से कर्मकाण्डी पुरोहितों को दिया जाने वाला द्रव्य का ही ग्रहण किया जाय तो क्या ऐसे पुरोहितों को दक्षिणा देने से कोई ग्राम का मुखिया बन जायेगा। यदि इस प्रकार मुखिया बनने लगे तो एक ही ग्राम में उनको दक्षिणा देकर सभी मुखिया हो जायेंगे। अतः दक्षिणा से यहाँ उस दान का ग्रहण है जो ग्राम के अशिक्षितों एवं दीनहीन जनों के हित में लगे, इसी के आधार पर वह ग्राम का मुखिया बन सकता है।

ऋग्वेद के इन प्रमाणों से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि दक्षिणा का अर्थ केवल पुरोहितों को दिया जानेवाला द्रव्य ही नहीं है, अपितु जन समुदाय के हित में दिया जानेवाला दान भी दक्षिणा कहलाता है।

इस प्रकार दक्षिणा के नानाविध अर्थों में एक अर्थ दान भी है[३]। दक्षिणा का दानार्थ में प्रयोग होने पर भी यह अपने में एक विशिष्ट अर्थ को लिये हुए है, वह यह कि इसका प्रयोग उन प्रसंगों में अधिक आता है जहाँ ब्राह्मणों से कुछ यज्ञोपदेशादि शुभ कार्य कराने पर जो उन्हें भेंट या उपायन के रूप में द्रव्य दिया जाता है जिसमें पारिश्रमिक के साथ-साथ श्रद्धा एवं सम्मान की भावना का योग भी रहता है, दक्षिणा का दान से अधिक महत्त्व है। इस विषय में ऋग्वेद का प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमें मरुतों से स्तुति करते हुए कहा है—

भद्रा वो रातिः प्रणतो न दक्षिणा। —ऋ० १।१६८।७

तुम्हारा दान तृप्त करनेवाले दाता की दक्षिणा की भाँति कल्याणकारी (भद्र) है। इस उद्धरण में दान की दक्षिणा से उपमा दी गई है इससे ज्ञात होता

---

१. **नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।**
शिक्षा स्तोतृभ्यो मातिधग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥

२. यह मन्त्र ऋक्० २।११।२१, १५।१०, १६।९, १७।९, १८।९, १९।९ और २०।९ में अनेकत्र आया है।

३. भेंट, उपहार, दान, शुल्क, पारिश्रमिक। संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ४४५।

है कि दक्षिणा दान से अधिक महत्त्व रखती है, तभी तो दान की उससे उपमा दी गई है, जैसे मुख की चन्द्र से उपमा दी जाती है।

परन्तु यदि हम इसको दूसरी प्रकार से सोचते हैं तो हमें दान का महत्त्व अधिक प्रतीत होने लगता है, क्योंकि दक्षिणा तो उसे दी जाती है जिससे हम कुछ उपकृत होते हैं, चाहे उन्होंने हमारा यज्ञ कराया हो या हमें उपदेश दिया हो। जबकि दान हम उसको देते हैं जिसकी दीनहीन अवस्था को देखकर हमारे हृदय में उसके प्रति दया उत्पन्न हुई हो। इसको एक वाक्य में हम यों कह सकते हैं कि दक्षिणा उसे दी जाती है जिससे हम उपकृत हों, और दान जिसे हम देते हैं वह हमसे अपने आपको उपकृत मानकर कृतज्ञता का प्रकाशन करता है। इस प्रकार दान का महत्त्व दक्षिणा की अपेक्षा अधिक प्रतीत होता है, लेकिन जब हम गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं तब दान की अपेक्षा दक्षिणा ही अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। दान से हम सामान्यतया दूसरे का उपकार करते हुए अपने आपको अपेक्षाकृत बड़ा अनुभव करते हैं, इससे अभिमान होने की सम्भावना है। जबकि दक्षिणा में ऐसी सम्भावना नहीं है। क्योंकि जिसने यज्ञ कराया या आध्यात्मिक उपदेश देकर हमारा कल्याण किया है हम उसको बहुत दक्षिणा देकर भी अपने को ही उपकृत मानते हैं।

इस प्रकार उपकृत होनेवाला व्यक्ति अपने गुरु जिसने उसे सुख, शान्ति एवम् आनन्द प्रदान किया है उसके प्रति इतना कृतज्ञ हो जाता है कि पूर्ण रूप से अपने को समर्पित कर देता है। ऐसा करने पर भी वह अत्यन्त विनम्र एवं सरल बना रहता है। इसको हम यों कह सकते हैं कि दान थोड़ा सा करने पर भी अभिमानी होने की सम्भावना है और दक्षिणा में सर्वस्व समर्पण करने पर भी मानव सरल बना रहकर दिव्य शान्ति या अमृतत्व सेवन करता है। तभी ऋग्वेद में कहा गया है—

दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते। —ऋ० १।१२५।६

इस प्रकार कहा जा सकता है कि दान और दक्षिणा दोनों का महत्त्व है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में अनेक सूक्तों में किया गया है। दक्षिणा का प्रयोग ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर दान के सामान्य अर्थ में भी पाया जाता है।

३. दक्षिणा (दान) की प्रशंसा—

ऋग्वेद में दान के समान दक्षिणा नाम से दिये जानेवाले दान की प्रशंसा एवं महिमा का वर्णन भी अनेक स्थानों पर हुआ है। जिसका उद्देश्य जन सामान्य के मानस-पटल पर दान देने की प्रवृत्ति को जागृत करना ही प्रतीत होता है। इसलिए ऋग्वेद के दशम मण्डल का एक सौ सातवाँ सूक्त पूरा का पूरा दक्षिणा नामक दान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जिसमें दक्षिणा की महिमा को बहुत ही प्रभावशाली शब्दों में रखते हुए कहा गया है कि—इन दान दाताओं का महान् ऐश्वर्य प्रकट हो गया है। जिसने समस्त प्राणी वर्ग को (निराशारूप) अन्धकार से मुक्त कर दिया है तथा पितृगण (ज्ञानी जनों) से दी हुई महान् ज्योति प्रकट हो गई है जिसने दक्षिणा का विस्तृत मार्ग दिखाया

है[१]। दान करने से महान् फलों की उपलब्धि होती है जिसका वर्णन ऋग्वेद १।१२५।६ में करते हुए कहा गया है कि दानदाताओं के लिए समस्त अद्भुत एवं सुखमय पदार्थ हैं, दाताओं को ही आकाश में सूर्य के समान तेजस्वी ज्ञानी पुरुषों के दर्शन होते हैं। दानी अमृत का सेवन करते हैं तथा दाता दान द्वारा दूसरे का उपकार करके अपनी आयु को बढ़ा लेता है[२]।

(अ) दक्षिणा से कौन-कौन से स्थान प्राप्त होते हैं—

किस वस्तु की दक्षिणा देने से कौन सा स्थान प्राप्त होता है, इसका उल्लेख ऋग्वेद १०।१०७।२ में किया गया है। दक्षिणा देनेवाले पुरुष उच्च द्युलोक में स्थित होते हैं। जो अश्व के दाता हैं वे सूर्य के साथ स्थित होते हैं, हिरण्य या स्वर्ण के दानी अमृत को प्राप्त होते हैं। हे सोम! वस्त्र के दाता अपनी आयु को बढ़ा लेते हैं[३]। इससे यह प्रकट होता है कि हर दान मानव को उच्च स्थान प्राप्त कराता है।

(आ) दी हुई दक्षिणा कभी व्यर्थ नहीं जाती—

दी हुई दक्षिणा कभी व्यर्थ नहीं जाती, अतः दूसरों के हित के लिए मानव को देना ही श्रेयस्कर है। जिसका उल्लेख ऋग्वेद १०।१०७।४ में किया गया है। उदारता के साथ देनेवाले और (याचकों के) समुदायों को विशेष रूप से सहायता करने वाले व्यक्ति सात माताओं वाली दक्षिणा का दोहन करते हैं[४]। ऋग्वेद १०।१०७ की ऋचा ७ में दक्षिणा देनेवाले को

---

१. **आविरभून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोचि।**
महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि॥—ऋ० १०।१०७।१
मघवा इन्द्रस्तस्येदं माघोनम्—ऐश्वर्यशालित्वम्।
'पितृभिः दत्तम्' इस पद से प्रकट होता है कि दान की परम्परा पूर्वजों द्वारा स्थापित की गई है। महि ज्योतिः—से दक्षिणा से उत्पन्न ज्ञान ज्योति की ओर संकेत करता है 'ऊरुः पन्था' इस वाक्य का सम्बन्ध ऋ० १०।११७।५ के 'द्राघीयान् पन्था' से प्रतीत होता है, क्योंकि दक्षिणा का पथ प्रशस्त इसलिए कहलाता है कि उसमें दाता और गृहीता दोनों के जीवन का साथ देने की क्षमता रहती है। 'तमसः' का अर्थ निराशारूप अन्धकार ही है, क्योंकि दान प्राप्त होने से क्लेश एवं चिन्ताएँ भी नष्ट हो जाती हैं। द्रष्टव्य—ऋक् सूक्त वैजयन्ती पृ० ३९८।

२. **दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः।**
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते दक्षिणावन्तः प्रतिरन्त आयुः॥—ऋक् १।१२५।६

३. **उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण।**
हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोम प्रतिरन्त आयुः॥
दक्षिणा समूचे सूक्त में एक अमूर्त कल्पना है जो दानशीलता की ओर संकेत करती है, अतः 'उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुः' यह पहला चरण वास्तव में एक सूक्त है। द्रष्टव्य—ऋक् सूक्त वैजयन्ती, पृ० ३९८। अमृतत्वं पद से यहाँ गौण अमरता प्रतीत होती है जो सन्तान के द्वारा भी प्राप्त की जा सकती है जिसके लिए ऋक् ५।४।१० में अग्नि से प्रार्थना करते हुए कहा गया है—**प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्।**

४. **ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सं गमे ते दक्षिणां दुहते सप्तमातरम्।**
'संगमे' शब्द यहाँ पर समुदाय वाची है जो कि याचकों का ही सम्भव है। 'सप्तमातरम्' यह शब्द विपुलता का वाचक है केवल सात संख्या का वाचक नहीं। इस प्रकार यह शब्द यहाँ भी तृप्त करने की अपरिमित शक्ति का बोध कराता है।

दक्षिणा किन-किन वस्तुओं को प्रदान करती है, इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है—

दक्षिणा अश्व एवं गौ प्रदान करती है और रजत (चाँदी), हिरण्यं (सोना) अर्पित करती है, दक्षिणा उस अन्न को प्रदान करती है जो हमारा (आत्मा) आधार है। ज्ञानी मानव उसको अपना कवच बना लेता है[१]।

दक्षिणा का अभिप्राय यहाँ दानशीलता से या दान देने की प्रवृत्ति से है[२]। इसी सूक्त की ऋक् आठ में कहा गया है कि उदार दाता कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होते और वे हीनदशा को भी प्राप्त नहीं करते। दानी पुरुष न कभी हानि और व्यथा-पीड़ा को प्राप्त होते हैं, क्योंकि यह जो सम्पूर्ण संसार है और जो इसका सुख है, दक्षिणा यह सब इन्हें प्रदान करती है[३]।

(इ) दक्षिणा से ऋषित्व की प्राप्ति—

जिसका दान, सेवा एवं शुभचिन्तन का साधक है वही वास्तव में सच्चा ऋषि तत्त्ववेत्ता, ज्ञानी ब्राह्मण तथा सच्चा नेता है और वही शारीरिक, मानसिक एवम् आत्मिक शान्ति को प्राप्त कर सकता है जैसा कि ऋग्वेद १०।१०७।६ में कहा है, जिसने सर्वप्रथम दक्षिणा द्वारा अपने उद्दिष्ट यज्ञ को सिद्ध किया है उसी को ऋषि मन्त्रद्रष्टा या तत्त्ववेत्ता, उसी को सच्चा ब्राह्मण-ब्रह्मा यज्ञ का नेता अध्वर्यु, साम का गानकर्त्ता, उद्‌गाता एवं वेदपाठी कहते हैं, वही बल एवं सुख-शान्ति के तीनों स्वरूपों को जानता है या वही प्रकाशमान तत्त्व के तीनों रूपों का ज्ञाता है[४]।

(ई) दक्षिणा का दाता समाज में उच्च पद पाता है—

दानी समाज में प्रतिष्ठित होता था, समाज के लोग उससे सहायता पाने के लिए ससम्मान आमन्त्रित करते थे, जिसका उल्लेख ऋग्वेद १०।१०७।५ में किया गया है कि दानी को समाज में आमन्त्रित किये जाने पर वह सर्वप्रथम आता है जिससे अपनी उदार प्रकृति से समाज की सहायता कर सके, जो दानी है वह समाज का सच्चा नेता बनकर आगे-आगे चलता है। मैं

---

१. **दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम्।**
दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्॥ —ऋ० १०।१०७।७
'वनुते' क्रिया पद का अर्थ 'ददाति' है जैसा कि सायण भाष्य में लिखा है—**वनुते ददाति-वनोतिरत्र दानार्थः।**
'आत्मा' शब्द यहाँ अन्न का बोधक है, और अन्न को ही शरीर का आधार माना जाता है। इसलिए यहाँ आत्मा का अर्थ शरीर का आधार है जैसा कि 'यो न आत्मा' में 'यः' अन्न की ओर संकेत कर रहा है दे० आत्मा पितुः, ऋ० ८।३।२४।

२. दे० ऋ० वै० पृ० ४०१।

३. **न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः।**
इदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत् सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति॥
न भोजा मम्रुः=दानी कभी मरता नहीं, अर्थात् यशरूपी शरीर की कभी मृत्यु नहीं होती, '**यशः शरीरे भव मे दयालुः**' —रघुवंश।

४. **तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्।**
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध॥ —ऋ० १०।१०७।६

तो उसे ही मानव समुदाय का राजा (प्रजापति) मानता हूँ। जो सब से आगे बढ़कर प्रथम दान देता है[१]।

(उ) दक्षिणा से ब्रह्मदान का भी ग्रहण होता है—

'तमेव ऋषिम्' इस मन्त्र से प्रतीत होता है कि यहाँ दक्षिणा का अर्थ 'ब्रह्मदान' है। क्योंकि ब्रह्मदान का कार्य ऋषि करता है[२]। आचार्य यास्क के मत में 'ऋषि' वह है जो मन्त्रों का 'द्रष्टा' हो, मन्त्रों के अर्थों का साक्षात् कर्त्ता हो[३]। **'सर्वेषां दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते'** मनु० ४।२३३।

४. दान न देने वालों की निन्दा—

दान दक्षिणा के अभाव में एक सुव्यवस्थित समाज अस्त-व्यस्त न हो जाय इसलिए दान-दक्षिणा देनेवाले की प्रशंसा होनी चाहिए। इस दृष्टि से ऋग्वेद के उद्धरणों के सहित पहले कहा गया है।

दानी महानुभाव की निन्दा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इससे समाज के लिए होनेवाले दान में बाधा पहुँचेगी। अतएव ऋग्वेद में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—

मा निन्दत य इमां मह्यं रातिं देवो ददौ मर्त्याय स्वधावान्।

—ऋ० ४।५।२

अन्न से युक्त जो देव मुझ मनुष्य के लिए इस दान को प्रदान करता है (उसकी) निन्दा न करो, अपितु जो धनाढ्य है दान करने में सर्वविध समर्थ है यदि वह दान नहीं करता तो उसकी कठोर शब्दों से निन्दा करो, जैसा कि ऋग्वेद में उल्लेख किया गया है कि जो दूसरों को भोजनादि से तृप्त नहीं करता उसको (आपत्ति के समय) दया दिखानेवाला मनुष्य भी नहीं मिलता[४]।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के ११७वें सूक्त की ऋक् दो में एक चेतावनी का उल्लेख हुआ है[५], जो मनुष्य पालनीय अन्न से सम्पन्न होता हुआ भी अत्यन्त

---

१. **दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति दक्षिणावान् ग्रामणीरग्रमेति।**
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय॥
'आविवाय' 'वी' धातु गत्यर्थ के लिट् का रूप है जिसका अर्थ है 'दक्षिणा से संयुक्त होना' या 'प्राप्त करवाता है' 'आगमयति'। (सायण)

२. **'यः दक्षिणया प्रथमो रराध'** जो दक्षिणा-ब्रह्मदान के द्वारा प्रथम अविद्यान्धकार का नाश कर सर्वहित साधता है। तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणम् यज्ञन्यं सामगाम् उक्थशासम् आहुः। उसी को ऋषि तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी नेता, उद्गाता वेदज्ञ कहते हैं। क्योंकि ऋषि, सच्चा ज्ञानी वह होता है, जिसने जीवन में अनुभव कर लिया हो। अतः जिसने ब्रह्मज्ञान से लाभ पाया और उसका दान भी करने लगा हो वही ऋषि कोटि में आता है।

३. **साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः।** —नि० १।६
ऋषिर्दर्शनात्स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः॥ —नि० २।३
एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति। —नि० ७।१

४. **अपृणन् मर्डितारं न विन्दते।** —ऋ० १०।११७।१

५. **य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे।**
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते॥

निर्धन[१], अन्न की भिक्षा माँगनेवाले[२], अत्यन्त दुर्बल हुए[३] तथा अपने द्वार पर आये हुए व्यक्ति को[४] देखकर भी अपने मन को कठोर कर लेता है, अर्थात् द्रवित नहीं होता प्रत्युत उसके सम्मुख ही अन्न का सेवन करता रहता है, वह समय पड़ने पर अपने को धन-अन्नादि द्वारा सुख देनेवाले को नहीं पाता[५]।

इसी सूक्त की ऋचा में उल्लेख हुआ है कि वह मनुष्य सच्चा मित्र नहीं, जो सदा साथ देनेवाले और सेवा करनेवाले मित्र को अन्नादि प्रदान नहीं करता, ऐसे कृपण मनुष्य से पृथक् हो जाना चाहिए, क्योंकि वह उसका घर—वास्तव में आश्रयदाता नहीं, अतः उसे चाहिए कि वह किसी दूसरे दाता की इच्छा करे, भले ही वह पराया क्यों न हो[६]।

स्वार्थी मनुष्य की कठोर शब्दों में निन्दा करते हुए उसको निरा पापी ही कह दिया गया है जैसा कि इसी सूक्त की ऋचा ६ में उल्लेख करते हुए कहा गया है—मूढ़ अनुदार पुरुष अन्न को व्यर्थ ही प्राप्त करता है, उसे उस अन्नोपलब्धि का कुछ भी लाभ नहीं होता, मैं सच कहता हूँ, वह अन्न तो उस कृपण पुरुष के लिए विनाश (वध) का कारण होता है, क्योंकि वह उस अन्न से न तो किसी श्रेष्ठ पुरुष को पुष्ट करता है और न अपने किसी मित्र को ही देता है। इस प्रकार एकाकी भोग करनेवाला तो निरा पापी है[७]।

ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद की दृष्टि में वास्तव में धन-धान्य इसलिए है कि इससे श्रेष्ठ जनों की सेवा करके उनको सुखी रखा जाय तथा समय पड़ने पर यदि किसी बन्धु, बान्धव, सखा आदि को आवश्यकता पड़े तो इससे उसकी भी सहायता की जाय और इन दोनों वृत्तियों के अनुकूल आचरण करते हुए उपभोग करना तो उचित है पर इन दोनों भावों की अवहेलना करते हुए जो केवल अपने आप ही उसका उपभोग करता है तो वह ऋग्वेद की दृष्टि में पापी है। इसी भावना का उल्लेख गीता में भी हुआ है।

'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्'। —गीता ३।१३

(अ) अदानी को शोक—

ऋग्वेद में दान न करनेवाले को शोक प्राप्त होते हैं, इसका उल्लेख भी किया है—

अपृणन्तमभि सं यन्तु शोकाः। —ऋ० १।१२५।७

जो समय पर दूसरों को तृप्त नहीं करता, अर्थात् आपत्ति में जो दुःखियों

---

१. **आध्राय=आधार्यतेऽसावित्याध्रो दुर्बलः।**
२. **पित्वः चकमानाय=पितॄनन्नानि=कामयमानाय।**
३. **रफिताय=रफतिर्हिंसार्थः, दारिद्र्येण हिंसिताय।**
४. **उपजग्मुषे=गृहं प्रत्यागताय अतिथये।** —सायण
५. **स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विन्दते।** —ऋ० १०।११७।२
६. **न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥** —ऋ० १०।११७।४
७. **मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥** —ऋ० १०।११७।६

की सहायता नहीं करता उसी को दुःख एवं कठिनाइयाँ सब ओर से प्राप्त हों। इसी मन्त्र के प्रथम चरण में कहा है—**'मा पृणन्तो दुरितमेन आरन्'** ऋ० १।१२५।७। दूसरों को तृप्त करनेवाले या आपत्ति आने पर दूसरों की सहायता करनेवाले दुःख दुरावस्था तथा उसके साधन पाप को मत प्राप्त हों[1]।

(आ) अदानी को समय पर सहायक नहीं मिलता—

ऋग्वेद के उपर्युक्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि संसार में जो व्यक्ति दूसरों की सहायता नहीं करते वे आपत्ति आने पर स्वयं दूसरे की सहायता पा सकेंगे, यह कहना कठिन है[2]। अधिक सम्भावना यही है कि वे (अदानी) चहुँ ओर से दुःख, पीड़ाओं से घिर जायेंगे, पर जिन्होंने दुःखी व्यक्तियों को हृदय से लगाया है उनकी जी जान (पूर्णरूप) से सहायता की है वे समय पड़ने पर न तो दुरवस्था को प्राप्त होंगे तथा न अभाव में चोरी आदि करके और दुःख एवं बन्धन के कारण बनेंगे, क्योंकि उनके पूर्वकृत दान रूप सुकृतों के परिणाम स्वरूप उनको समय पर यथोचित सहानुभूति एवं सहयोग प्राप्त हो जाएगा जिसके कारण आपत्ति की घड़ियाँ सरलता से टल जायेंगी और चोरी आदि पाप कर्म से भी बच जायेंगे।

ऋग्वेद का इस विषय में उल्लेखनीय सन्देश यह है कि दान देने से धन कम नहीं होता और न देने से आपत्ति के समय सहायता करनेवाला नहीं मिलता, इसलिए दान देना ही चाहिए[3]। इसी में कल्याण निहित है।

इन्द्र कृपण का मित्र नहीं होता—

ऋग्वेद ४।२५।७ में कहा गया है कि सोमपान करनेवाला इन्द्र, धनी परन्तु सोमाभिषव न करनेवाले अदाता कृपण व्यक्ति के साथ मित्रता (की प्रतिज्ञा) नहीं करता[4]।

इससे स्पष्ट है कि इन्द्र की मित्रता उसको प्राप्त होती है जो कृपण नहीं जिसका धन यज्ञादि परोपकारक कार्यों में सदा व्यय होता है। इन्द्र, उसका मित्र है और उसका सहायक सदैव है। जैसा कि ऋग्वेद १०।४८।१ में इन्द्र ने स्वयं कहा है कि मैं दानशील के लिए अन्नादि बाँटता हूँ[5], अर्थात् दूसरों की

---

१. **मा पृणन्तो दुरितमेन आरन्।** —ऋ० १।१२५।७
दुरितम्=दुष्टं यथा भवति तथा प्राप्तं दुखम्।
एनः=तत्साधनं पापं च, मा आरन्=मा प्राप्नुवन्। —सायण
२. **स मर्डितारं न विन्दते।** —ऋ० १०।११७।१
३. **उतो रयिः पृणतो नोपदस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते।** —ऋ० १०।११७।१
(अन्न) दान करने वाले मनुष्य की सम्पदा कभी कम नहीं होती और अन्न दान न करनेवाले मनुष्य को (आपत्ति के समय) दया दिखानेवाला मनुष्य नहीं मिलता। —दे० ऋ० वै० पृ० ४०९
४. **न रेवता पणिना सख्यमिन्द्रोऽसुन्वता सुतपाः सं गृणीते।**
अन्वयः=**सुतपाः इन्द्रः रेवता असुन्वता पणिना सख्यं न सं गृणीते।**
पणिना=वणिजा लुब्धेन, सायण—लोभी बनिया।
५. **अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्।**
भोजनम्=अन्नम्, विभजामि=ददामि, सा०भा०।

सहायता करनेवालों पर धन-धान्य एवं सर्वविध वैभवों की वृष्टि करता हूँ।

(इ) अदानी को उषस् न जगाएँ—

ऋग्वेद १।१२४।१० में आलंकारिकरूप से उषस् को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि उषस् दानी को सोत्साह जगाए और अदाता पणि को सोता रहने दे, क्योंकि दाता से विश्व का कल्याण सम्भव है, कृपण से नहीं। **'प्रबोधयोषः पृणतो मघोन्यबुध्यमानाः पणयः ससन्तु'**[1]।

धनवति उषस् तू अपने धनादि से दूसरों को तृप्त करनेवाले दानी को जगा और (दान आदि के लिए प्रेरणा देने पर भी) न जगनेवाले कृपण सोते रहें। ऐसा ही भाव ऋक् ४।५१।३ में भी है[2]।

(ई) अदानी को दान देने की प्रेरणा—

ऋग्वेद में जहाँ पणियों के प्रति अवहेलना उपलब्ध होती है वहाँ उनको सुधारने का भी उल्लेख हुआ है, जैसा कि ऋग्वेद ६।५३।३ में पूषन् देव से प्रार्थना करते हुए कहा गया है—हे पापियों को तपानेवाले पूषन्, तू दान न देने की इच्छावाले पुरुष को देने के लिए प्रेरित कर। जो अत्यन्त लोभी पणि है, उसके कठोर मन को भी विशेषरूप से मृदु (दयालु) कर जिससे वह भी उदार होकर दूसरे की समय पर सहायता किया करे[3]। इसी सूक्त में लोभियों को उदार बनाने का उल्लेख अनेक बार हुआ है[4]।

(उ) अदानी के हृदय में दया उत्पन्न करने की प्रेरणा—

ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल के ५३वें सूक्त के अध्ययन से ज्ञात होता है कि लोभी पणिरूप वैश्य वर्ग को उदार बनाने के लिए उनके हृदय में दयाभाव उत्पन्न करने के लिए पूषन् देव से अनेक प्रकार के उपायों के साथ प्रार्थना की गई है कि वह पणियों के हृदयों को अपने आरा नामक शस्त्र से चीरकर उनमें दयालुता को भरे। इससे सिद्ध होता है कि दान देने की प्रवृत्ति तभी होगी जब

---

१. अन्वयः—**मघोनि उषस् पृणतः प्रबोधय, अबुध्यमानाः पणयः ससन्तु।**

२. **उच्छन्तीरद्य चितयन्त भोजान् राधो देयायोषसो मघोनीः।**
अचित्रे अन्तः पणयः ससन्त्वबुध्यमानास्तमसो विमध्ये॥

३. **अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन् दानाय चोदय। पणेश्चिद्वि म्रदा मनः।**
आघृणे पूषन् अदित्सन्तं चित् दानाय चोदय, पणेः चित् मनः वि म्रदा॥
हे (शत्रुओं को) ताप देनेवाले पूषन्, दान देने की अभिलाषा न रखनेवाले (कृपण) को भी दान देने के लिए विवश करो एवम् ऐसा करो, जिससे पणि का भी मन मृदु (अनुकम्पायुक्त) हो जाए। आघृणि-यह पूषन् देव का विशेष है—आ समन्तात् घृणिः यस्य।

४. **परितृन्धि पणीनामारया हृदया कवे।**
कवे पणीनाम् हृदया आरया परितृन्धि। हृदया हृदयानि, कठिनानि।
परितृन्धि=परिविध्य-हृद्गतं काठिन्यमपनयेत्यर्थः। —सायण०
वि पूषन्नारया तुद पणेरिच्छ हृदि प्रियम्। ६।
हे पूषन् प्रतोदेन वणिजं हृदयं विविध्य तस्य पणेः हृदये, प्रिय अस्मभ्यमनुकूलं धनं दातव्यमितीच्छां जनय। आरिख किकिरा कृणु पणीनां हृदया कवे। ७।
हे कवे प्राज्ञ पूषन् वणिजां हृदयानि आलिख्य च कीर्णानि कुरु मृदूनि कुर्वीत्यर्थः।

व्यक्ति के हृदय में मृदुता (अनुकम्पा या दयाभाव) हो। बिना इसके दान देने की सात्त्विक प्रवृत्ति न होगी।

५. पणियों से धन हरण करो—

ऋग्वेद में पणियों को उदार बनाने की जहाँ ऋग्वेद में प्रार्थनाएँ की गईं हैं वहाँ ऐसी भी प्रार्थनाएँ उपलब्ध होती हैं कि जब पणीजनों ने दान देने में उदारता नहीं दिखाई तब ऐसी अवस्था में उनके धन का हरण कर लेना चाहिए जैसा कि ऋग्वेद ६।१३।३ में अग्नि की स्तुति करते हुए कहा है— हे अग्ने सज्जनों के रक्षक मेधावी, वह पुरुष शत्रुओं का बल से हनन करता है और स्वार्थी असुर प्रकृतिवाले कृपण (पणेः) के धन अन्न बल को छीन कर हरण कर लेता है[1]। इसी प्रकार ऋग्वेद ९।२२।७ में सोम से प्रार्थना की गई है—'हे सोम तू इन कञ्जूस पणियों से गौ समूह एवम् अन्य धन-धान्य छीनकर धारण कर[2]। ऋग्वेद १।८३।४ में पणि का सर्वस्व हरण कर लेने का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि उन अंगिरा नरों ने, लोभी वणिक का सभी प्रकार से धन का हरण कर लिया चाहे वह धन गौ, अश्व एवं अन्य किसी प्रकार का हो[3]।

इन लोभी अदानशील लोगों से धन-धान्य छीनने का प्रयोजन यह नहीं है कि राजा इसका स्वयम् उपभोग करे, अपितु दानशील परोपकारियों में उसको दे देना चाहिए, जिससे समाज में उसका सदुपयोग हो सके, उसी प्रकार की भावना ऋग्वेद ८।९७।२ में प्रस्फुटित होती हुई प्रतीत होती है, जिसमें कहा गया है—कि हे इन्द्र (राजन्) तुमने अश्व, गौ एवम् अक्षय धन को धारण किया है, उनको यज्ञों में सोमाभिषव करनेवाले दानी परोपकारी पुरुष को प्रदान कर (जिससे उन ऐश्वर्यों का सदुपयोग हो) लोभी व्यक्ति को मत दे।[4] इस भावना की पुष्टि ऋग्वेद ५।३४।७ से भी होती है, जिसमें इन्द्र के कार्यों का उल्लेख किया गया है कि इन्द्र तस्कर करनेवाले पणि से धन हरण कर लेता है और दानशीलों के लिए विभाग कर देता है।[5]

---

१. **स सत्पतिः शवसा हन्ति वृत्रमग्ने विप्रो विपणेर्भर्ति वाजम्।**
हे अग्ने! सतां पालयिता पुरुषः आरकं शत्रुं बलेन हन्ति। —दे० सायण।
स च मेधावी सन् वणिजः अन्नं बलं वा वियुज्य हरति।
यहाँ जो साक्षात् शत्रु है, उसको प्राण दण्ड देने का कथन है, परन्तु अपने देश में रहता हुआ स्वार्थी धन पर सर्प बनकर बैठनेवाला है, उससे धन छीन लेने का आदेश है, जिससे वह धन समाज के श्रेष्ठ व्यक्तियों के काम आ सके।

२. **त्वं सोम पणिभ्य आ वसु गव्यानि धारय।**—ऋ० ९।२२।७।

३. **सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः।** —ऋ० १।८३।४।
भोजनम्=धनम्, आकारः समुच्चये, अश्वावन्तम्=अश्वैर्युक्तम्, गोमन्तम्=गोभिर्युक्तम्। गवाश्वव्यतिरिक्तमन्यत्पशुजातं च समविन्दन्त। —दे० सायण०

४. **यमिन्द्र दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम्।**
यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन् धेहि मा पणौ।

५. **समीं पणेरजति भोजनं मुषे वि दाशुषे भजति सूनरं वसु।**

६. पणियों को दण्ड विधान—

अर्थ दण्ड देने पर भी यदि पणि तस्कर व्यापार करनेवाले अपने स्वभाव में परिवर्तन नहीं लाते और पूर्ववत् आचरण करते रहते हैं, तब उनके लिए शनैःशनैः कठोर दण्ड का विधान भी ऋग्वेद में किया गया है, अन्त में प्राण दण्ड तक का विधान है, जिससे अधिक कठोर दण्ड हो नहीं सकता।

ऋग्वेद १०।६०।६ में राजा से प्रार्थना की गई है कि हे राजन् (आप) अदान प्रकृतिवाले सभी लोभी बनियों (पणीन्) को सभी ओर से (ऐसा) अभिभव कर[१], जिससे वे पुनः सिर न उठा सकें। इसी प्रकार अग्नि (समतेजस्वी राजा) से प्रार्थना करते हुए ऋ० ७।६।३ में उल्लेख किया गया है कि अग्नि, कर्महीन, कुटिलाचारी, कष्टदायी वाणी बोलनेवाले, अश्रद्धालु, अप्रगतिशील, यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों से हीन, पणिनायक दस्युओं को हमसे दूर करे तथा उन्हें ऐसा दबा दे कि वे पुनः पनप न सकें[२]। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कञ्जूस एवं प्रजापीड़क कर्महीन जनों को घृणा की दृष्टि से ऋग्वेद में देखा गया है।

आर्यों में पणियों के प्रति घृणा इतनी तीव्र है कि उनको अनेक देवों से दण्ड (प्राण दण्ड) देने तक की प्रार्थना करने में संकोच नहीं किया गया है, जैसा कि ऋग्वेद ६।६१।१ में सरस्वती की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सरस्वती कृपण स्वार्थी आत्मपोषण मात्र करनेवाले पणि को मारती है[३]। ऋग्वेद ६।५१।१४ में पणि को प्राण-दण्ड देने की स्पष्ट प्रार्थना की गई है कि हे राजा सोम, तू अदानशील राक्षसादि वृत्तिवाले पणि को विनष्ट कर, क्योंकि वह तो साक्षात् भेड़िया है, अर्थात् भेड़िया के समान प्रजा को दुःख देनेवाला है। धन सम्पन्न होनेपर भी जो दान नहीं करता, महाभारत में कठोर शब्दों में निन्दा करते हुए कहा है—

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तम् अदातारं द्ररिद्रं चातपस्विनम्॥

जो धनी होकर दानी न हो और दरिद्र होकर कष्ट सहिष्णु न हो, ऐसे दोनों पुरुषों के गले में भारी पत्थर बाँधकर जल में डुबो देना चाहिए।

ऋग्वेद के उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्टरूप से प्रतीत होता है कि अदानी व्यक्ति की निन्दा की गई है। यदि वह निन्दा से अपने आचरणों का

---

१. **पणीन्न्यक्रमीरभि विश्वान् राजन्नराधसः।** —ऋ० १०।६०।६।
हे राजन् सर्वान् अदातृन् वणिजः लुब्धान् नितराम् अभिभव।
न राधयन्ति साधयन्ति परकार्याणि ये तेऽराधसः। —सायण०

२. **न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीर् श्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्।**
प्रप्र तान् दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून्।
अन्वयः—पूर्वः अग्निः अक्रतून् ग्रथिनः मृध्रवाचः अश्रद्धान् अवृधान् दस्यून् तान् पणीन् (तथाहि) अपरान् अयज्यून् प्रविवाय नि चकार।

३. **या शश्वन्तमाचखादावसं पणिम्।**
या सरस्वती शश्वन्तं बहुलं पणिम्=पणनशीलं वणिजमदातृजनम् अवसम्=केवलं स्वात्मन एव तर्पकम् आचखाद आजघान। —दे०सा०भा० पूना संस्करण।

सुधार नहीं करता तब उसका धन हरण कर दानशीलों में विभक्त कर देने की कामना की गई है और जब वह इतने अर्थदण्ड से भी उदारता का पाठ नहीं सीखता तब उसको जीने का कोई अधिकार नहीं है। उसको तो शीघ्र अति शीघ्र प्राण-दण्ड देना ही चाहिए, जैसा कि '**जही न्यत्रिणं पणिं वृको हि षः।**' ऋ० ६।५२।१४ कहकर विधान किया गया है।

७. हमारे मध्य में कोई अदानी न हो—

ऋग्वेद में यह कामना अवश्य की गई है कि हमारे मध्य में कोई अराति या अदानी न हो जैसा कि '**मान्तः स्थुर्नो अरातयः**' ऋ० १०।५७।१ से स्पष्ट है। हमारे मध्य में 'अराति भावनावाले लोग न हों' से स्पष्ट है। सायणाचार्य ने 'अरातयः' का अर्थ 'शत्रवः' किया है। ऋग्वेद में अदानशील एवं शत्रु दोनों अर्थ मिलते हैं[1]। क्योंकि जो ऐसा स्वार्थी जन समुदाय में रहता है तो वास्तव में वह समाज का शत्रु ही है।

८. हम में अदानशीलता की बुद्धि न हो—

जहाँ ऋग्वेद में अदानशील हमारे मध्य में न हो, यह कामना की गई है, वहाँ यह भी कामना की गई है कि यदि हमारे में अदानशीलता की बुद्धि हो तो उसको भी नष्ट करो। जैसा कि अश्विनौ से प्रार्थना करते हुए कहा गया है—

जरेथामस्मद्वि पणेर्मनीषां —ऋ० ३।५८।२

हे अश्विनौ तुम हमसे अदानशील पणि की स्वार्थमयी बुद्धि को नष्ट करो[2]।

९. हम सुपथ से धन के स्वामी हों—

ऋग्वेद में धनी बनने की निन्दा नहीं की गई है, अपितु धनी बनने की प्रवृत्ति का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। ऋग्वेद १०।१२१।१० में प्रजापति से यह प्रार्थना की गई है कि हे प्रजापति जिस-जिस कामनावाले होकर हम आपका आश्रय लेवें उस-उस पदार्थ की कामना हमारी पूर्ण होवे और इस प्रकार हम धनैश्वर्यों के स्वामी हों, ऐश्वर्यों के स्वामी होने की कामना ऋग्वेद के अनेक स्थानों पर की गई है[3]।

ऋग्वेद में धन-धान्य के स्वामी होने के लिए कुपथ को छोड़कर सुपथ का अनुगामी होने का उल्लेख भी अनेक बार हुआ है, ऋग्वेद १।१८९।१ में अग्निदेव से प्रार्थना की गई है कि हे अग्नि, हमें ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए सुपथ से ले चल[4]। ऋग्वेद ८।९७।१३ में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि

---

१. 'अरातयः शत्रवः' 'अरातयः' यह शब्द प्रथम विभक्ति का बहुवचनान्त है 'राति' का अर्थ होता है—दान, 'रा दाने' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय हुआ है। दानार्थ राति शब्द का प्रयोग ऋक् ४।५।२ में—'**मा निन्दत य इमां मह्यं रातिं देवो ददौ मर्त्याय स्वधावान्।**' में हुआ है। 'अराति' का अर्थ, शत्रु और न देनेवाला। दे० ऋ० सूक्त वैजयन्ती कोष—पृ० ४८१।

२. **अस्मत्तः सकाशात् पणेर्मनीषाम्—आसुरीं बुद्धिं विशेषेण नाशयतम्।** —सा०भा०

३. **यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥**
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ —ऋ० ४।५०।६

४. **अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।** —ऋ० १।१८९।१

'वज्रधारी इन्द्र हमारे ऐश्वर्यों' के लिए सभी मार्ग सुपथ बना दे, ऋग्वेद ७।१८।३ में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि हे इन्द्र, ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए तेरे नवीन मार्ग हमें प्राप्त हों और हम तेरे उत्तम अनुग्रह में सुख से रहें[१]।

ऋग्वेद के इन उद्धरणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऐश्वर्यों के स्वामी बनने की तीव्र इच्छा व्यक्त की गई है और साथ ही उसकी प्राप्ति के लिए सुपथगामी होने का उल्लेख किया गया है, क्योंकि एक आचारवान् व्यक्ति के लिए धन प्राप्त करने के जिन श्रेष्ठ साधनों का होना आवश्यक है, उनका उल्लेख ऋग्वेद में पदे-पदे हुआ है, ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि उत्कृष्ट ज्ञानी अहिंसक देवो, तुम उत्तम धन के स्वामी हो, जिससे मुझ को वह धन न मिले जो धन पाप से सम्बन्धित है[२]। इससे ज्ञात होता है कि पाप से प्राप्त धन की अभिलाषा कभी नहीं होती थी और न पाप कर्म के लिए धन व्यय किया जाता था। **न पापत्वाय रासीय।** ऋ० ७।३२।१८। क्योंकि आर्यों की अभिलाषा यशस्वी बनने की भी पाई जाती है[३]। इसलिए सदाचारमय जीवन अवश्य होता था।

१०. देवताओं से दान के पात्र—

अच्छे रास्तों से प्राप्त धन श्रेष्ठ मार्गों द्वारा धन व्यय करनेवाले ही देवताओं से धन प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर इन्द्र, अग्नि, सोम उषसादि से दानशीलों के लिए धन देने की प्रार्थना की गई है।

(अ) इन्द्र का दान—

ऋग्वेद १०।४८।१ में इन्द्र ने स्वयं कहा है कि—'**अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्**' मैं दानशील व्यक्ति के लिए अन्न प्रदान करता हूँ।

ऋग्वेद १०।४२।९ में इन्द्र सदुपयोगी व्यक्ति के धन को रोकता नहीं, अपितु देने का उल्लेख किया गया है—'जो मनुष्य देवों की कामना करता है या दिव्यगुणोंवाले त्यागी तपस्वी ज्ञानी महापुरुषों का सत्कार करता हुआ उनकी सेवा में अपने धन-धान्य को व्यय करता है, उस मनुष्य के आते हुए धनों को इन्द्र रोकता नहीं, अपितु उसको तो वह सब प्रकार से धन-धान्य से समृद्ध करता है[४]। ऋग्वेद ७।२०।२ के अनुसार इन्द्र अपने धन को परहित में दान करनेवाले मनुष्य के लिए पुनः-पुनः धनादि के साधन प्रदान करनेवाला होता है[५], अर्थात् इन्द्र उसको धन-वैभव प्रदान करता है जो अपने वैभव को

---

१. **राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री।** —ऋ० ८।९७।१३

२. **वामस्य हि प्रचेतस ईशानासो रिशादसः। नेमादित्या अघस्य यत्।** —ऋ० ८।८३।५

३. **वयं स्याम यशसो जनेषु।** —ऋ० ४।५१।११

४. **यो देवकामो न धना रुणद्धि समित्तं राया सृजति स्वधावान्।**
यः मनुष्यः देवकाम देवान् यष्टुं स्तोतुं वा अभिलाषावान् भवति तस्यार्थाय धना धनानि न रुणद्धि नावृणोति, किन्तु स्वधावान् बलवानिन्द्रः तं देवकामं राया धनेन सं सृजति संयोजयत्येव। —सा०भा०

५. **दाता वसु मुहुरा दाशुषे भूत्।** —ऋ० ७।२०।२
मुहुः भूयो भूयः। —दे०सा०भा०

सुधार नहीं करता तब उसका धन हरण कर दानशीलों में विभक्त कर देने की कामना की गई है और जब वह इतने अर्थदण्ड से भी उदारता का पाठ नहीं सीखता तब उसको जीने का कोई अधिकार नहीं है। उसको तो शीघ्र अति शीघ्र प्राण–दण्ड देना ही चाहिए, जैसा कि '**जही न्यत्रिणं पणिं वृको हि षः।**' ऋ० ६।५२।१४ कहकर विधान किया गया है।

७. हमारे मध्य में कोई अदानी न हो—

ऋग्वेद में यह कामना अवश्य की गई है कि हमारे मध्य में कोई अराति या अदानी न हो जैसा कि '**मान्तः स्थुर्नो अरातयः**' ऋ० १०।५७।१ से स्पष्ट है। हमारे मध्य में 'अराति भावनावाले लोग न हों' से स्पष्ट है। सायणाचार्य ने 'अरातयः' का अर्थ 'शत्रवः' किया है। ऋग्वेद में अदानशील एवं शत्रु दोनों अर्थ मिलते हैं[1]। क्योंकि जो ऐसा स्वार्थी जन समुदाय में रहता है तो वास्तव में वह समाज का शत्रु ही है।

८. हम में अदानशीलता की बुद्धि न हो—

जहाँ ऋग्वेद में अदानशील हमारे मध्य में न हो, यह कामना की गई है, वहाँ यह भी कामना की गई है कि यदि हमारे में अदानशीलता की बुद्धि हो तो उसको भी नष्ट करो। जैसा कि अश्विनौ से प्रार्थना करते हुए कहा गया है—

जरेथामस्मद्वि पणेर्मनीषां —ऋ० ३।५८।२

हे अश्विनौ तुम हमसे अदानशील पणि की स्वार्थमयी बुद्धि को नष्ट करो[2]।

९. हम सुपथ से धन के स्वामी हों—

ऋग्वेद में धनी बनने की निन्दा नहीं की गई है, अपितु धनी बनने की प्रवृत्ति का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। ऋग्वेद १०।१२१।१० में प्रजापति से यह प्रार्थना की गई है कि हे प्रजापति जिस–जिस कामनावाले होकर हम आपका आश्रय लेवें उस–उस पदार्थ की कामना हमारी पूर्ण होवे और इस प्रकार हम धनैश्वर्यों के स्वामी हों, ऐश्वर्यों के स्वामी होने की कामना ऋग्वेद के अनेक स्थानों पर की गई है[3]।

ऋग्वेद में धन–धान्य के स्वामी होने के लिए कुपथ को छोड़कर सुपथ का अनुगामी होने का उल्लेख भी अनेक बार हुआ है, ऋग्वेद १।१८९।१ में अग्निदेव से प्रार्थना की गई है कि हे अग्नि, हमें ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए सुपथ से ले चल[4]। ऋग्वेद ८।९७।१३ में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि

---

१. 'अरातयः शत्रवः' 'अरातयः' यह शब्द प्रथम विभक्ति का बहुवचनान्त है 'राति' का अर्थ होता है—दान, 'रा दाने' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय हुआ है। दानार्थ राति शब्द का प्रयोग ऋक् ४।५।२ में—'**मा निन्दत य इमां मह्यं रातिं देवो ददौ मर्त्याय स्वधावान्।**' में हुआ है। 'अराति' का अर्थ, शत्रु और न देनेवाला। दे० ऋ० सूक्त वैजयन्ती कोष—पृ० ४८१।

२. **अस्मत्तः सकाशात् पणेर्मनीषाम्—आसुरीं बुद्धिं विशेषेण नाशयतम्।** —सा०भा०

३. **यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥** —ऋ० ४।५०।६
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ —ऋ० १।१८९।१

४. **अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।**

'वज्रधारी इन्द्र हमारे ऐश्वर्यों' के लिए सभी मार्ग सुपथ बना दे, ऋग्वेद ७।१८।३ में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि हे इन्द्र, ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए तेरे नवीन मार्ग हमें प्राप्त हों और हम तेरे उत्तम अनुग्रह में सुख से रहें[१]।

ऋग्वेद के इन उद्धरणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऐश्वर्यों के स्वामी बनने की तीव्र इच्छा व्यक्त की गई है और साथ ही उसकी प्राप्ति के लिए सुपथगामी होने का उल्लेख किया गया है, क्योंकि एक आचारवान् व्यक्ति के लिए धन प्राप्त करने के जिन श्रेष्ठ साधनों का होना आवश्यक है, उनका उल्लेख ऋग्वेद में पदे-पदे हुआ है, ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि उत्कृष्ट ज्ञानी अहिंसक देवो, तुम उत्तम धन के स्वामी हो, जिससे मुझ को वह धन न मिले जो धन पाप से सम्बन्धित है[२]। इससे ज्ञात होता है कि पाप से प्राप्त धन की अभिलाषा कभी नहीं होती थी और न पाप कर्म के लिए धन व्यय किया जाता था। **न पापत्वाय रासीय।** ऋ० ७।३२।१८। क्योंकि आर्यों की अभिलाषा यशस्वी बनने की भी पाई जाती है[३]। इसलिए सदाचारमय जीवन अवश्य होता था।

१०. देवताओं से दान के पात्र—

अच्छे रास्तों से प्राप्त धन श्रेष्ठ मार्गों द्वारा धन व्यय करनेवाले ही देवताओं से धन प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर इन्द्र, अग्नि, सोम उषसादि से दानशीलों के लिए धन देने की प्रार्थना की गई है।

(अ) इन्द्र का दान—

ऋग्वेद १०।४८।१ में इन्द्र ने स्वयं कहा है कि—'**अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्**' मैं दानशील व्यक्ति के लिए अन्न प्रदान करता हूँ।

ऋग्वेद १०।४२।९ में इन्द्र सदुपयोगी व्यक्ति के धन को रोकता नहीं, अपितु देने का उल्लेख किया गया है—'जो मनुष्य देवों की कामना करता है या दिव्यगुणोंवाले त्यागी तपस्वी ज्ञानी महापुरुषों का सत्कार करता हुआ उनकी सेवा में अपने धन-धान्य को व्यय करता है, उस मनुष्य के आते हुए धनों को इन्द्र रोकता नहीं, अपितु उसको तो वह सब प्रकार से धन-धान्य से समृद्ध करता है[४]। ऋग्वेद ७।२०।२ के अनुसार इन्द्र अपने धन को परहित में दान करनेवाले मनुष्य के लिए पुनः-पुनः धनादि के साधन प्रदान करनेवाला होता है[५], अर्थात् इन्द्र उसको धन-वैभव प्रदान करता है जो अपने वैभव को

१. **राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री।** —ऋ० ८।९७।१३
२. **वामस्य हि प्रचेतस ईशानासो रिशादसः। नेमादित्या अघस्य यत्।** —ऋ० ८।८३।५
३. **वयं स्याम यशसो जनेषु।** —ऋ० ४।५१।११
४. **यो देवकामो न धना रुणद्धि समित्तं राया सृजति स्वधावान्।**
यः मनुष्यः देवकाम देवान् यष्टुं स्तोतुं वा अभिलाषावान् भवति तस्यार्थाय धनानि न रुणद्धि नावृणोति, किन्तु स्वधावान् बलवानिन्द्रः तं देवकामं राया धनेन सं सृजति संयोजयत्येव। —सा०भा०
५. **दाता वसु मुहुरा दाशुषे भूत्।** —ऋ० ७।२०।२
मुहुः भूयो भूयः। —दे०सा०भा०

सदा शुभकार्यों में लगाता रहता है। ऐसे ही व्यक्ति इन्द्र से यह भी प्रार्थना करते हैं कि वह इन्द्र हमें उत्तम धन-धान्य प्रदान करे। हमें सौभाग्यशाली बनाए तथा ऐश्वर्यों की समृद्धि, शरीरों की निरोगता, वाणी का माधुर्य प्रदान करे। हमारे दिनों को सुदिनत्व में बदले[१], जिससे हम नैतिक जीवन को सुखपूर्वक बिता सकें।

जो व्यक्ति अपना धन उदारतापूर्वक दान नहीं करता, ऐसे व्यक्ति के धन को छीनकर उदार चेता दानियों में वितरण करने की प्रार्थना ऋग्वेद १।८१।९ में इन्द्र से की गई है—हे इन्द्र, अदानियों के पास पड़े हुए वैभव को, सब के स्वामी (इन्द्र) तुम, जानते हो। अतः उनके वैभव को लेकर हम दानी परोपकारी जनों में वितरित करें[२]।

(आ) उषस् का दान—

उषस् को दान करनेवाले को श्रेष्ठ धन प्रदान करनेवाली (ऋग्वेद ५।८०।६) कहा गया है[३]। ऋग्वेद ७।७९।३ में उषस् के सम्बन्ध में उल्लेख हुआ है कि—अंगिरस्तमा उषा अपने धन को सत्कर्मों में लगानेवाले व्यक्ति को धन-धान्य प्रदान करती है।

ऋग्वेद ७।८१।३ में ज्ञात होता है कि उषस् दानशील के लिए ही सुख एवं वैभवों का वहन करती है, क्योंकि उषस् को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि हे धनवती उषस् जो बहुत चाहने योग्य धन को वहन करती है वह रमणीय रत्न के समान सुख देनेवाला ऐश्वर्य तू दानी के लिए ही वहन करती है[४]।

ऋग्वेद ६।६५।३ में उषाएँ दाता मनुष्य को जो-जो प्रदान करती हैं उसका विशद वर्णन है उन उषाओं को सम्बोधित करते हुए प्रार्थना की गई है—हे उषाओ, दानी मनुष्य के लिए पशु बल अन्नादि का वहन करती हुई अनेक प्रकार के वैभवोंवाली (मघोनी) होती हुई तुम आज मेरे लिए वीर पुत्र-पौत्रों से युक्त रमणीय धन-धान्य को धारित पोषित करो[५]।

(इ) अग्नि से दान—

अग्निदेव भी दानी पर ही कृपालु हैं—ऐसा ऋग्वेद के अध्ययन से प्रतीत होता है, जैसा कि ऋग्वेद १।४।१४ में कहा है—'**दधासि रत्नं द्रविणं[६] च दाशुषेऽग्ने**' हे अग्निदेव, तू दानशील मनुष्य को रमणीय रत्न तथा धन-

---

१. **इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।**
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्। —२।२१।६

२. **अन्तर्हि ख्यो ज़नानामर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर।** —ऋ० ५।८०।६

३. **व्यूर्ण्वती दाशुषे वार्याणि** —सा०भा०
वार्याणि=धनानि, व्यूर्ण्वती=प्रयच्छन्ती

४. **या वहसि पुरुस्पार्हं वनन्वती रत्नं न दाशुषे मयः।**

५. **श्रवो वाजमिषमूर्जं वहन्तीर्नि दाशुष उषसो मर्त्याय।**
मघोनीर्वीरवत् पत्यमाना अवो धात विधते रत्नमद्य॥ —ऋ० ६।६५।३

६. **धनं द्रविणमुच्यते यदेनदभि द्रवन्ति बलं वा द्रविणम्।** —नि० ८।१

धान्य एवं बल प्रदान करता है। इसी प्रकार ऋग्वेद १।१।६ में कहा गया है—कि अग्नि देवता दानी पुरुष का ही कल्याण करते हैं। यह उनका अटल नियम है[१]। अग्नि से प्रार्थना करते हुए ऋग्वेद २।२।७ में कहा गया है—हे अग्निदेव, हमें धन-धान्य, गौ, अश्व, पुत्र-पौत्रादि दो[२]। ऋग्वेद में एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि हे अग्नि, मैं तेरे दान में सदा वर्तमान रहूँ और तेरी संरक्षता से वीर पुत्रवाले हों[३]।

ऋग्वेद ८।४३।१५ में अग्नि से प्रार्थना की गई है—हे अग्निदेव, वह तू मेधावी दान प्रवृत्तिवाले परोपकारी मनुष्य को अपरिमित धन-धान्य तथा वीर पुत्र-पौत्रादि सहित खाद्य पदार्थ भी दो[४]। इसी प्रकार ऋग्वेद में एक अन्य स्थान पर उल्लेख किया गया है—कि हे अग्निदेव, तू दानी महानुभाव के लिए बहुत वीर पुत्र-पौत्रों से युक्त धन प्रदान कर[५]।

(ई) सोम से दान—

सोमदेव भी ऋग्वेद[६] में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, क्योंकि ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर उनका वर्णन आने पर भी उनके लिए पृथक् नवम मण्डल[६] की रचना की गई है, जिसमें उनके सम्बन्ध में विशिष्ट विवेचन विस्तारपूर्वक किया गया है।

ऋग्वेद १।९१।९ में सोमदेव से दानी के लिए दान की प्रार्थना की गई है, जिससे दान करने की धारा अजस्ररूप से चलती रहे, इसलिए कहा गया है कि हे सोम, जो तेरे संरक्षण दानी-परोपकारी जन को प्राप्त होते हों, उन संरक्षणों से हमारे भी रक्षक बनो (जिससे हम भी दानशील होकर सब का उपकार करते रहें।) इसी प्रकार ऋग्वेद में एक अन्य स्थान पर भी उल्लेख करते हुए कहा गया है कि सोम हमारे लिए पुत्र-पौत्रादि के लिए तथा चतुष्पाद गौ, अश्वादि पशुओं के लिए रोगरहित अन्न प्रदान करो[७]। ऋग्वेद ९।२३।३ में सोम से प्रार्थना की गई है—कि कञ्जूसों का धन हम उदार दानियों को प्रदान करो। हे पवमान सोम, जो दानी नहीं उसका गृहोपलक्षित धन-धान्य हमें दो तथा पुत्र पौत्रादि से युक्त अन्न दो[८]।

---

१. **यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥**
भद्रं=वित्तगृहप्रजापशुरूपं कल्याणं —सायण

२. **दा नो अग्ने बृहतो दाः सहस्त्रिणो दुरो न वाजं श्रुत्या अपा वृधि।**
बृहतः प्रभूतान् गवाश्वादिधनविशेषान्। —सा० भा०

३. **स्यामहं ते सदमिद्राती तव स्यामग्नेऽवसा सुवीरः।**

४. **स त्वं विप्राय दाशुषे रयिं देहि सहस्त्रिणम्। अग्ने वीरवतीमिषम्।**
—ऋ० ८।४३।१५

५. **त्वं रयिं पुरुवीरमग्ने दाशुषे मर्त्याय।** —ऋ० ८।७१।६

६. **सोम यास्ते मयोभुव ऊतयः सन्ति दाशुषे। ताभिर्नोऽविता भव।** —ऋ० १।९१।९
—सा० भा०।
मयोभुवः=मयसः सुखस्य भावयित्र्य, ऊतयः=रक्षाः।

७. **सोमो अस्मभ्यं द्विपदे चतुष्पदे च पशवे। अनमीवा इषस्करत्।** —ऋ० ३।६२।१४

८. **आ पवमान नो भरार्यो अदाशुषो गयम्। कृधि प्रजावतीरिषः।**
गयम्=गृहं गृहोपलक्षितं धनम्। —सा० भा०

(उ) सविता से दान—

सविता देव भी मनुष्यों को रमणीय धन प्रदान करता है, जैसा कि ऋग्वेद ४।५४।१ में उल्लेख किया गया है कि वह सविता मनुष्यों द्वारा दिन के उदय के साथ ही वन्दनीय है जो कि मनुष्यों को नानाविध रत्न वा रमणीय पदार्थ प्रदान करता है। जैसे कि हम मनुष्यों को उत्तम धन एवं बल प्रदान किया है[1]। ऋग्वेद ४।५३।७ में सवितादेव से कामना की गई है कि सवितादेव हमें सुन्दर पुत्र-पौत्रादि युक्त अन्न प्रदान करें।

(ऊ) अश्विनौ से दान—

अश्विनौ देव भी दानी परोपकारी व्यक्ति को अपनी कृपा का भाजन बनाते हैं। इसलिए ऋग्वेद ७।७१।२ में प्रार्थना करते हुए कहा गया है—हे अश्विनौ तुम, दोनों आओ और दानशील के लिए रथ से रमणीय धन को वहन करो। हम से दारिद्र्य और रोग दूर करो तथा हमारी दिनरात रक्षा करो[2]।

ऋग्वेद १।११२।२२ में उपमा के रूप में जो शब्द रखा गया है, उससे भी ज्ञात होता है कि अश्विनौ दानशीलों को सुख-शान्ति देनेवाले हैं।

ऋग्वेद १।११२।२० में कहा गया है कि हे अश्विनौ ! तुम दोनों अपने जिन रक्षण उपायों के द्वारा दानी जन के लिए सुखकारी होते हो उन्हीं उपायों से हमें भी प्राप्त होओ[3]। ऋग्वेद १।४७।१ में भी अश्विनौ को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि तुम दोनों दानी के लिए रमणीय धनरत्नादि पदार्थों को धारण करते हो[4]। (प्रदान करते हो)

इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि अन्य देवों के समान अश्विनौ भी दानशील को सभी प्रकार की सुख-समृद्धि प्रदान करते हैं। क्योंकि जहाँ वे दानशील जन, उन साधनों को अपने लिए प्रयोग करते हैं, वहाँ दूसरों की भी समय-समय पर उनसे सहायता करते हैं। यह बात दाशुष् शब्द से तथा '**इषं प्रचन्ता सुकृते सुदानवे**' ऋ० १।४७।८ में 'सुकृते सुदानवे' शब्द से भी स्पष्ट है।

(ए) बृहस्पति से दान—

बृहस्पति देवता भी दानशीलों पर कृपा करता है, इसलिए ऋ० ३।६२।४ में कहा गया है—हे सर्वहितकारी बृहस्पतिदेव हमारे हव्यों को स्वीकार करो

---

१. **अभूद्देवः सविता वन्द्यो नु न इदानीमह्न उपवाच्यो नृभिः।**
वि यो रत्ना भजति मानवेभ्यः श्रेष्ठं नो अत्र द्रविणं यथा दधत्॥ —ऋ० ४।५४।१
सायण—मानवेभ्यः का अर्थ दानशील ही है, क्योंकि दाशुषे का अर्थ सायण यजमान करते हैं और मानवेभ्यः अर्थ मनोरपत्येभ्यो यजमानेभ्यस्तेषां मन्वादि किया है तथा इसी सूक्त की ऋचा दूसरी में पड़े 'मनुष्येभ्यः' का अर्थ 'यजमानेभ्यः' किया है।

२. **उपायातं दाशुषे मर्त्याय रथेन वाममश्विना वहन्ता।**
युयुतमस्मदनिराममीवां दिवा नक्तं माध्वी त्रासीथां नः॥

३. **याभिः शंताती भवथो ददाशुषे··· ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥**
—ऋ० १।११२।२०

४. **धत्तं रत्नानि दाशुषे।**
—१।४७।१,८।३५।२२,२३,२४

और हमारे दानशील परोपकारी को रमणीय धन-धान्य प्रदान करो।

इन देवताओं के दान से यह भावना स्पष्टरूप से व्यक्त होती है कि देवगण अपना पात्र उसको ही बनाते हैं, जो लेकर देना जानता है, दानशील है, क्योंकि देवों का अपना एक विशेष गुण है 'देना'[1], देने के कारण ही वे देव कहलाते हैं।

११. ऋग्वेद की आदर्श दानपरायणता

(क) राजदान—ऋग्वेद में (प्रभु) राजा द्वारा ऋषि, महर्षि, विद्वान् एवं ब्रह्मचारियों को दान देने का उल्लेख हुआ है। जैसा कि ऋग्वेद में अनेकत्र के विधान के अनुसार दानी राजाओं के प्रार्थना करने पर कक्षीवान्=(जीवन को यज्ञों के लिए अर्पित करनेवाले) ऋषि उससे १०० निष्क (निष्क आभरण विशेष) १०० अश्व और १०० बैल दान में स्वीकार करते थे। (इस प्रकार दान करके) राजा स्वर्ग में अमर कीर्ति का विस्तार किया करें।

ऋग्वेद १।१२६।३ में कक्षीवान् का कथन है—कि स्वनय राजा (प्रभु) द्वारा भूरे रंग के अश्वों युक्त दस इन्द्रिय रूप रथ प्राप्त हुए जिनको ग्रहण करने के अनन्तर उसने सब कुछ अपने पिता (प्रभु) को परोपकारार्थ समर्पित कर दिये।

प्रभु के दान विधान से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके दान से ऋषियों के द्वारा संचालित बड़ी-बड़ी शिक्षा संस्थाओं का भरण-पोषण होता होगा। इसके साथ यह भी सम्भव है कि राजे-महाराजे जहाँ आश्रमवासियों को दान देते होंगे वहाँ दीन-दुखियों को भी दान अवश्य करते होंगे।

(ख) दीनों को दान—ऋग्वेद में राजा-महाराजाओं के द्वारा दिया जानेवाला दान-दक्षिणा का उल्लेख जहाँ ऋषि-महर्षि-विद्वान्, ब्रह्मचारियों के लिये पाया जाता है, वहाँ दीन, दुखियों और अपंगों को दान देने का विधान किया गया है।

ऋ० १०।११७।२ में कहा गया है कि जो धन से सम्पन्न होता हुआ भी यदि (आध्राय) अत्यन्त निर्धन 'पित्वः चकमानाय' अन्न की कामना करनेवाले भिक्षुक, 'रफिताय' अत्यन्त दीनहीन, 'उपजग्मुषे' अपने द्वार पर आये हुए व्यक्ति के लिए अपने मन को कठोर कर लेता है, द्रवित नहीं होता प्रत्युत उसके सम्मुख ही अन्नादि का सेवन करता रहता है, ऐसे पुरुष को (आपत्ति के समय) सुख पहुँचानेवाला नहीं मिलता[2]। इसी सूक्त के मन्त्र संख्या ३ में कहा गया है—

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।

जो ग्रहण करनेवाले को देता है और जो अन्न की कामनावाला होकर विचरण करनेवाले भिक्षुक को देता है वही सच्चा पालक (दानी) है।

इस प्रकार ऋग्वेद में दान करने पर विशेष बल दिया गया है।

---

१. **देवो दानाद्वा।** —नि० ७।४

२. **य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे। स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विन्दते॥** —ऋ० १०।११७।२

अध्याय : ६

समाज में सामञ्जस्य की भावना

मानव अपने जन्म से ही समाज का एक अंग है। वह समाज के विना अपना जीवन नहीं चला सकता। जैसे जलीय प्राणी के लिए जल परम आवश्यक है, विना जल के उसका जीवन सम्भव नहीं। ठीक इसी प्रकार मनुष्य भी समाज के विना अपना सभ्य मानवीय जीवन नहीं चला सकता। इसीलिए मानव को एक सामाजिक प्राणी कहा गया है।

जिस मानव समुदाय में १. अन्याय और भेदभावना न हो, २. सामूहिकता के साथ-साथ समानता भी हो, वह समाज सामञ्जस्य (Harmony) भावनावाला कहलाएगा।

१. अन्याय और भेदभावनारहित होना—

सामाजिक सामञ्जस्य के लिए यह आवश्यक है कि उसमें किसी के प्रति अन्याय और भेद-भावना न हो। सभी सबल, निर्बल, बुद्धिजीवी एवं श्रमिक स्वस्थ तथा अपंग साथ-साथ रहकर अपनी योग्यता के अनुसार जीविकार्जन करके अपना जीवनयापन कर सकें। सभी को न्याय सुलभ हो और उन्नति करने के लिए सभी को अवसर प्राप्त हो, कार्य विशेष के लिए समाज में घृणा न हो।

ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसमें सामाजिक अन्याय और भेदभावना नहीं है। एक परिवार का कोई भी सदस्य अपनी जीविका के साधन अपनाने में स्वतन्त्र है। किसी विशेष कार्य के प्रति घृणा का भाव नहीं है। यही कारण है कि एक ही परिवार के सदस्य भिन्न-भिन्न कार्य करते हुए चित्रित किये गये हैं।

कारुरहं ततो भिषगुपल प्रक्षिणी नना। —ऋ० ९।११२।३

मैं मन्त्रद्रष्टा हूँ, पिता वैद्य हैं और माता चक्की पीसनेवाली है।

यहाँ पर किसी प्रकार की भेदभावना नहीं है। सभी परिवार के सदस्य सहयोग के साथ अपना जीवनयापन करते हैं—'कारु' शब्द के अर्थ का संकोच हो गया है। आजकल यह शिल्पी के अर्थ में रूढ़ है। आज कारु की वह स्थिति नहीं जो ऋग्वेद में परिलक्षित होती है। उस समय मन्त्रकर्त्ता का कार्य भी एक कला माना गया है।

२. ऋग्वेद में वर्णव्यवस्था का प्रारम्भिक रूप—

ऋग्वेद के दशम मण्डल में वर्णव्यवस्था का उल्लेख पाया जाता है, जिसके विषय में ऋग्वेद १०।९०।११ में जिज्ञासा करते हुए प्रश्न किया गया है कि जिस प्रजापति पुरुष का विधान किया गया है, उसको कितने प्रकार से कल्पित किया गया? उसका मुख क्या दोनों बाहू कौन, ऊरु भाग और पैर

किनको कहते हैं[१] ? जिसका उत्तर देते हुए कहा गया है, उस प्रजापति पुरुष का मुख, ब्राह्मण था और भुजाएँ क्षत्रिय, मध्यभाग उसका वैश्य एवं पैर शूद्र हुआ[२]। इन दोनों मन्त्रों में वर्णव्यवस्था का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है, जिसमें हीन भावना नहीं है जो आजकल हिन्दू समाज में पाई जाती है, क्योंकि उस समय स्वेच्छा से कोई भी वर्ण चुना जा सकता था पर आज की व्यवस्था जन्म पर आधारित है जबकि उस समय गुण-कर्म पर प्रतीत होती है, जैसा कि 'कारुरहं' मन्त्र से स्पष्ट है[३]।

विद्या मनुष्य को पशुता से हटाकर मनुष्यता की ओर प्रेरित करती है। इसलिए विद्या से हीन मनुष्य को पशु तक कहा गया है[४] और गीता में ज्ञान को पवित्र माना गया है[५]। लेकिन उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य में पवित्रतम ज्ञानवेद के लिए स्त्री और शूद्रों को अनधिकारी कहा गया है[६]। गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है—

अथास्य वेदमुप शृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणमुच्चारणे
जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः —गौतम धर्मसूत्र १।४

वेद सुन रहे शूद्र के कान रांगा व लाख से परिपूरित करे, वेद को उच्चारित करनेवाले की जीभ का छेदन करे और वेद धारण करने पर अंग-अंग कर दे। इससे भेद भावना और शूद्रों के प्रति अन्याय स्पष्ट है।

ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद २६।२ के आधार पर मानवमात्र को वेद पढ़ने का अधिकारी माना है[७]।

३. सामूहिकता—

(क) देवों से धन, गौ, अश्वादि के साथ वीर पुत्रों की प्राप्ति हेतु प्रार्थनाएँ।

(ख) देव समूह से सामूहिक प्रार्थनाएँ।

(ग) (अ) सुख, (आ) शान्ति, (इ) स्वस्ति, (ई) भद्रता, (उ) मधुरता, (ऊ) निडरता (ए) पापमुक्ति, (ऐ) सुमनस्कता, (ओ) दीर्घ आयुष्य, (औ) रक्षण, (अं) और विजय के लिए सामूहिक प्रार्थनाएँ।

(क) देवों से धन गौ अश्वादि के साथ वीर पुत्रों की प्राप्ति हेतु प्रार्थनाएँ— ऋग्वेद के श्रोताओं ने केवल व्यक्तिगतरूप से ही धन, गौ, अश्वादि एवं

---

१. **यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।**
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते॥ —ऋ० १०।९०।११

२. **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः।**
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ —ऋ० १०।९०।१२

३. ऋ० ९।११२।३

४. नीतिशतक—पृ० १७।

५. गीता अ० ४।३८।

६. **'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्।' मीमांसान्यायप्रकाश पूर्वार्ध।**
(सत्यार्थप्रकाश पृ० ६९ पर उद्धृत)

७. **यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।**
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च॥ —यजु० २६।२

वीर पुत्रों की प्राप्ति की प्रार्थनाएँ ही नहीं की हैं, अपितु परिवार, समाज सभी के लिए सामूहिकरूप से माँगा है। जो कि निम्नलिखित देवों के उदाहरणों से स्पष्ट है—

(१) इन्द्र—

ऋग्वेद में धन, गौ, अश्व, अन्नादि एवं वीर पुत्रों की सामूहिक प्रार्थनाएँ इन्द्र के लिए सब से अधिक की गई हैं। ऋ० १।५।३ में कहा है कि वह इन्द्र धन-प्राप्ति के लिए (सहायक) हो और वह में अन्नादि ओषधियों के साथ प्राप्त हो[१]। ऋक् १।९।७ में कहा है—हे इन्द्रदेव, पृथ्वी, गौ, पशु तथा अन्न से युक्त प्रचुर और विस्तृत अक्षयधन सारी आयु चलनेवाला हमें दो[२]। अगले इसी सूक्त के मन्त्र में कहा है—हे इन्द्र हमें यश, बहुदान सामर्थ्ययुक्त सहस्रसंख्यक धन और अनेक रथपूर्ण अन्न दो[३]।

इन्द्र के लिए सामूहिक प्रार्थनाओं की इतनी प्रचुरता है कि कहीं–कहीं पर तो पूरे सूक्त के मन्त्रों का आधा भाग कहा गया है। जैसे ऋक् १।२९ सूक्त के पूरे अन्त के दो चरणों में इन्द्र को सात बार कहा है—

आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ।

—ऋ० १।२९।७

हे (तुवीमघ) बहुधनशाली इन्द्र, प्रशंसनीय सहस्रों गौओं और अश्वों में 'आशंसय' विख्यात या सम्पन्न करो।

ऋग्वेद १।८१।७ में इन्द्र से गौ आदि पशुओं के समूह अन्नादि धन एवं ऐश्वर्य के लिए प्रार्थना की गई है। ऋक् १।८४।२० में उल्लेख किया गया है—हे मनुष्य हितैषी इन्द्र, समस्त ऐश्वर्य हमारी प्रजाओं के लिए प्राप्त करो[४]। ऋग्वेद में एक अन्य स्थान पर इन्द्र से कामना की गई है—

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥

—ऋ० २।२१।६

हे इन्द्र, हमें उत्तम धन प्रदान करो। निपुणता की सावधानता और उत्तम ऐश्वर्य प्रदान करो। हमें ऐश्वर्यों की वृद्धि, शरीरों की निरोगता तथा वाणी की मधुरता एवं दिनों का सुदिनत्व प्रदान करो। ऋग्वेद में इन्द्र से अनेक स्थानों पर वीर पुत्र, धन, गौ, अश्व, अन्नादि की सामूहिक प्रार्थना उपलब्ध होती है[५]।

---

१. **स घा त् नो योग आ भुवत् स राये स पुरन्ध्याम्। गमद् वाजेभिरा स नः॥**
२. **सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथु श्रवो बृहत्। विश्वायुर्धेह्यक्षितम्॥**
३. **अस्मे धेहि श्रवो बृहद् द्युम्नं सहस्रसातमम्। इन्द्र ता रथिनीरिषः॥**
४. **विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ॥** —ऋ० १।८४।२०
५. १।१३२।२, १६५।११, १६७।१, १६९।८, १७३।१३, १७४।१०, १७५।६, १७७।५, १७८।५, २।१२।१५, १३।१३, १४।१२, १५।१०, १६।९, १७।९, १८।९, १९।८-९, २०।९, ३।३०।२०, ५५।२२, ४।२२।१०, ३२। २०, २१, ५।३९।१, ५, ६।२८।५, ७।२३।६, २४।१, ६, २५।२।३, ५, २६।५, २७।५, २८।५, २९।५, ३०।५, ३२।२३, २६, ८।१२।३३, १३।२२, १६।१२, १८।२१, २४।८, ३२।८, ३४।१४, ५७।९, १०।१९।६, ४७।१-८, ११२।१० आदि

(२) अग्नि—

इन्द्र के पश्चात् सब से अधिक गौ, अश्व, धन-धान्य एवं वीरपुत्रों की सामूहिक प्रार्थनाएँ अग्नि के लिए ऋग्वेद में की गई हैं। ऋक् १।१२।११ में वीर्यशाली अन्न की प्रार्थना अग्नि से की गई है[१]। ऋक् १।७९।४ में जातवेद अग्नि से प्रार्थना की गई है—हे जातवेद अग्ने! तू प्रभूत गौ युक्त अन्नवाला स्वामी है। हमें बहुत धन प्रदान कर[२]। हे अग्ने! हमारे जीवन के लिए शोभनज्ञानयुक्त सुख देनेवाला और सम्पूर्ण आयु को पोषण करनेवाला ऐश्वर्यरूप पुत्र प्रदान करो[३]। यहाँ पर रयि का अर्थ पुत्र ही उचित प्रतीत होता है। ऋक् २।२।१२ में जातवेद अग्नि से प्रार्थना की गई है—हे जातवेद अग्ने! हमारे निवास हेतु अतिशय आह्लादप्रद पुत्र-पौत्र से युक्त प्रभूत धन दो[४]। ऋक् २।४।८ में अग्नि से अपत्य और धन की कामना की गई है[५]। इसी प्रकार ऋग्वेद २।६।५ में कहा है—अग्नि हमें सहस्रसंख्यक अन्न दो[६]।

हे अग्ने! हमें द्रोहरहित वाणी से वास्तविक सहस्रसंख्यक धन दो[७]। ऋक् ४।५५।८ में अग्नि को धन और सौभाग्य के स्वामी होने का उल्लेख करते हुए सौभाग्य और धन की प्रार्थना की गई है—हे अग्निदेव, धन और महान् सौभाग्य के स्वामी हो, अतः हमें सौभाग्य और धन प्रदान करो[८]। इस प्रकार ऋग्वेद में अग्नि से गौ, अश्व, धन-पुत्र आदि की प्रार्थनाएँ की गई हैं[९]।

(३) सोम—

सोम देवता से भी ऋग्वेद में गौ, अश्व, धन-धान्य और वीर पुत्रों की प्राप्ति के लिए सामूहिक प्रार्थनाएँ की गई हैं—ऋक् १।४३।७ में सोम से कामना की गई है, हे सोम! हमें एक शत मनुष्यों का बहुत सा धन दो और महान् बल के साथ अन्न भी दो[१०]। ऋक् ३।६२।१५ में भी अन्न और आयु की प्रार्थना की गई है[११]।

नवम मण्डल सोम की स्तुतियों का होने के कारण उसमें अनेक स्थानों पर सामूहिक प्रार्थनाओं का उल्लेख पाया जाता है। ऋग्वेद ९।४।२ तथा ८ में सोम से सौभाग्य तथा अन्न की कामना की गई है। ऋक् ९।९।९ में सोम

---

१. **रयिं वीरवतीमिषम्।**
२. **अग्ने वाजस्य गोतम ईशानः सहस्रो यहो। अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः।**
३. **आ नो अग्ने सुचेतुना रयिं विश्वायु पोषसम्। मार्डीकं धेहि जीवसे॥** -ऋ० १।७९।९
४. **वस्वो रायः पुरुश्चन्द्रस्य भूयसः प्रजावतः स्वपत्यस्य शग्धि नः।**
५. **अस्मे अग्ने संयद्वीरं बृहन्तं क्षुमन्तं वाजं स्वपत्यं रयिं दाः।**
६. **स नः सहस्रिणीरिषः।** —ऋ० २।६।५
७. **त्वं देहि सहस्रिणं रयिं नोऽद्रोघेण वचसा सत्यमग्ने।** —ऋ० ३।१४।६
८. **अग्निरीशे वसव्यस्याग्निर्महः सौभगस्य। तान्यस्मभ्यं रासते॥**
९. ५।६।१-१०, ६।४८, ५।७, १६।११९, ७।१।१५, ४।८, १०, १७।७, ८।२३, ६०।६, १०।७।७, १५६।३, १९१।१।
१०. **अस्मे सोम श्रियमधि निधेहि शतस्य नृणाम्।**
महि श्रवस्तुविनृम्णम्॥ —ऋ० १।४३।७
११. **अस्माकमायुर्वर्धयन्नभिमातीः सहमानः। सोमः सधस्थमासदत्॥**

से प्रार्थना की गई है—

पवमान महि श्रवो गामश्वं रासि वीरवत्।

हे पवमान सोम, पुत्रवान् महान् अन्न, गौ और अश्व प्रदान करो। ऋक् ९।४३।४ में सोम से प्रार्थना की गई है, हे पवमान सोम, उत्तम दीप्ति वाले बहु श्रीयुक्त धन दो[१]। हे सोम, तू गौ अश्व एवं विश्वविजेता और धन को जीतनेवाला है, अतः हमें पुत्र आदि से युक्त रमणीय धन दो[२]। ऋग्वेद ९।६१।३ में प्रार्थना की गई है—हे सोम! तू अश्व का ज्ञाता है, हमें अश्व, गौ हिरण्य से युक्त सहस्र संख्यक अन्न दो[३]।

हे सोम! हमारे लिए महान् धन और पुत्र आदि से युक्त कीर्ति प्रदान करो[४]। ऋग्वेद ९।६२।१२ में सोम से प्रार्थना की गई है—हे सोम! तू प्रचुर मात्रा में गौओं, अश्वों से युक्त आह्लादकारी अभिलषित धन दो[५]। इसी प्रकार ऋग्वेद में सोम से अन्य स्थानों पर भी गौ अश्व आदि से युक्त वीर पुत्रों की सामूहिक प्रार्थनाएँ की गई हैं[६]।

(४) अश्विनौ—

ऋग्वेद में अश्विनौ देवों से भी गौ, अश्व अन्नादि की प्राप्ति के लिए सामूहिक प्रार्थनाएँ की गईं हैं। ऋक् १।४६।६ में कहा है—वे हमें धन दें, तामस्मे रासाथामिषम्+ऋग्वेद १।९२।१६ में कामना की गई है—हे शत्रु विनाशक, समान मनवाले अश्विनौ हमारे घर के सामने (वर्ति अर्वाक्) गौ और रमणीय धन से युक्त रथ को लाओ[७]। ऋक् १।९२।१७ में भी अश्विनौ से अन्न, बल की कामना की गई है[८]। ऋग्वेद १।१८०।१० में अश्विनौ से प्रार्थना की गई है—कि हमें अन्न बल और दीर्घजीवन प्रदान करो। ऋग्वेद में अन्य स्थानों पर भी अश्विनौ से सामूहिक प्रार्थनाएँ की गई हैं[९]।

(५) मरुद्गण—

मरुद्गणों से ऋग्वेद के स्तोताओं ने गौ, अश्व, धन अन्नादि एवं वीर पुत्रों की प्राप्ति के लिए सामूहिक प्रार्थनाएँ की हैं। ऋग्वेद में मरुतों से प्रार्थना की है—**रयिं नो धत्त वृष्ण सुवीरम्**—ऋ० १।८२।१२। हे सुखों के वर्षक मरुतो! हमें धन और वीर पुत्र प्रदान करो। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में तथा

---

१. **पवमान विदा रयिमस्मभ्यं सोम सुश्रियम्।**
२. **पवस्व गोजिदश्वजिद्विश्वजित्सोमा रण्यजित्। प्रजावद्रत्नमो भर॥**
—ऋ० ९।५९।१
३. **परि णो अश्वमश्वविद्गोमदिन्दो हिरण्यवत्। क्षरा सहस्त्रिणीरिषः॥** —ऋ० ९।६१।३
४. **महो नो राय आभर पवमान जही मृधः। रास्वेन्दो वीरवद् यशः॥** —ऋ० ९।६१।२६
५. **आ पवस्व सहस्त्रिणं रयिं गोमन्तमश्विनम्। पुरुश्चन्द्रं पुरुस्पृहम्॥** —ऋ० ९।६२।१२
६. ऋ० ९।६४।३, ६२।२, २१, ६७।६, ६९।८, ७२।९, ८१।३, ८४।३, ९६।३, १०।५७।६ आदि।
७. **अश्विना वर्तिरस्मदा गोमद्दस्रा हिरण्यवत्। अर्वाग्रथं समनसा नि यच्छतम्॥**
८. **आ न ऊर्जं वहतमश्विना युवम्।**
९. ऋग्वेद ५।४२।१८, ७६।५, ७७।५, ७३।५, ८

अन्य अनेक स्थानों पर मरुतों से अन्न, बल और दीर्घ आयु आदि की कामना की गई है[1]। ऋग्वेद २।३०।११ में स्तोताओं ने अपनी स्तुति और नमन का कारण यह बताया है कि जिससे हम मरुतों से प्रतिदिन वीर पुत्रोंवाले होकर सदा प्रशंसनीय धन का उपभोग कर सकें[2]।

ऋग्वेद ७।५७।६ में मरुतों से कामना की गई है—वे हमें अमर करनेवाला धन दें और हमारी प्रजा के लिए उत्तम वाणी तथा धन प्रदान करें[3]। ऋग्वेद १०।७८।८ में मरुतों से प्रार्थना की गई है—देव मरुतो, स्तुतियों से वर्धित होकर हम स्तोताओं को धनी और शोभन रत्नवाले बनाओ[4]।

(६) बृहस्पति ब्रह्मणस्पति—

देवों के पिता बृहस्पति से भी गौ, अश्व, धन, अन्न और वीर पुत्रों की कामना सामूहिकरूप से की गई है। ऋक् २।२३।१५ में विचित्र धन की प्रार्थना की गई। हे ऋतप्रजात बृहस्पति! जिस धन के स्वामी (अर्यः) लोग पूजा करते हैं, जो दीप्ति और यज्ञवाला धन लोगों में शोभा पाता है, जो धन अपने तेज से दीप्तिमान् है, वही विचित्र धन, हम सबों में धारण करो[5]। ऋग्वेद २।२४।१५ में ब्रह्मणस्पति से कामना की गई है—हे ब्रह्मणस्पते! हम सदा सुनियम और अन्नवाले धन के अधिपति हों। हमारे पुत्रों को सन्तान से युक्त करो, क्योंकि तू सब का स्वामी है[6]। हमारी स्तुतियों और अन्न को प्राप्त करो। इसी सूक्त के १६वें मन्त्र में वीर पुत्रों के लिए कामना की गई है। ऋक् ४।५०।६ में कहा गया है—

बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम्।

हे बृहस्पते! सुप्रजा और वीरोंवाले हम धन के स्वामी हों।

ऋग्वेद में बृहस्पति को पिता के समान धन देनेवाला कहा है।

यो नो दाता परावतः पितेव —ऋ० ७।९७।२

जैसे पिता दूर देश से लाकर अपने पुत्र को धन देता है वैसे बृहस्पति हमें धन देता है। ऋग्वेद में बृहस्पति से कामना की गई है—

बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो वयो धात्।

—ऋ० १०।६८।१२।

वह बृहस्पति हमें गौओं, अश्वों एवं वीर पुत्रों द्वारा तथा अन्य मनुष्यों के साथ आयु या जीवन प्रदान करें।

ऋग्वेद में इसी प्रकार सामूहिक प्रार्थनाएँ रुद्र[7], पूषा[8], सविता[9],

१. १।१६६।५,१।१६७।११,१।१६८।१०,१७१।६।
२. **यथा रयिं सर्ववीरं नशामहा अपत्यसाचं श्रुत्यं दिवे दिवे।**
३. **ददात नो अमृतस्य प्रजायै जिगृत रायः सूनृता मघानि।** —ऋ० ७।५७।६।
४. **सुभागान्नो देवाः कृणुता सुरत्नानस्मान्त्स्तोतॄन् मरुतो वावृधानाः॥**
५. **यद् दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्।**
६. **ब्रह्मणस्पते सुयमस्य विश्वहा रायः स्याम रथ्यो वयस्वतः।**
७. ऋग्वेद २।३३।१
८. ऋग्वेद १।१३८।४
९. ऋग्वेद १।१५९।५।३।६२।११,६।७१।६

विश्वेदेवा[१], वरुण[२], क्षेत्रपति[३], भगदेव[४], सीता[५], ऋभुगण[६], वास्तोष्पति[७], वायु[८], द्यावापृथिवी[९], सूर्य[१०], प्रजापति[११] आदि देवों से की गई है।

(७) उषस्—

देवियों में उषस् से ही अधिकतर अन्न, धन, गौ, अश्व से युक्त वीर पुत्रों की प्राप्ति के लिए सामूहिक प्रार्थनाएँ की गई हैं।

ऋग्वेद १।३०।२२ में उषस् से अन्न की कामना की गई है, हे द्युलोक की पुत्री उस अन्न के साथ आओ और हमें धन प्रदान करो[१२]। ऋग्वेद १।४८।१२ में उषस् से प्रार्थना की गई है—

सास्मासु धा गोमदश्वावदुक्थ्यमुषो वाजं सुवीर्यम्।

वह हमें गौ, अश्वयुक्त प्रशंसनीय वीर्यसम्पन्न अन्न प्रदान करे। इसी सूक्त की अगली ऋचा में कहा गया है कि वह हमें वरणीय स्वरूप एवं सुखद धन प्रदान करे। इसी सूक्त की ऋचा १५वीं तथा १६वीं में भी उषस् से धन की कामना की गई है। ऋक् १।९२।७ में उषस् से प्रार्थना है—

प्रजावतो नृवतो अश्वबुध्यानुषो गोअग्राँ उप मासि वाजान्।

पुत्र-पौत्र आदि मानवों के साथ अश्व,गौ से युक्त धन बल को प्राप्त करा। इसी सूक्त की ऋचा १३वीं में उषस् से पुत्र-पौत्रों को पालन करनेवाले विचित्र धन की अभिलाषा व्यक्त की गई है[१३]। इसी सूक्त की ऋचा १५वीं में धनवती उषस् से समस्त सौभाग्य लाने की प्रार्थना की गई है[१४]। ऋक् १।१२४।१३ में उषस् से प्रार्थना की गई है कि तुम्हारे रक्षण के द्वारा हम सहस्र और शतसंख्यक धन प्राप्त करें[१५]। ऋक् ४।५५।९ में उषस् से कामना की गई है कि वह हमें रमणीय धन दे। इस प्रकार ऋग्वेद में अन्य स्थानों पर भी उषस् से सामूहिक प्रार्थनाएँ की गई हैं[१६]।

(ख) देवसमूह से सामूहिक प्रार्थनाएँ—

ऋग्वेद में सामूहिक भावना तीव्रतर है, क्योंकि सामूहिक प्रार्थनाएँ सामूहिक देवों से की गई है, जिससे समाज में सामञ्जस्य की भावना स्पष्ट प्रतीत होती है। सामूहिक देवों की प्रार्थनाएँ निम्नलिखित हैं—

---

१. ऋग्वेद १।१८६।११,५।४३।१७,८।२७।२२,३०।४,१०।३६।१३।
२. ऋग्वेद २।२७।१७,२८।११
३. ऋग्वेद ४।५७।१
४. ऋग्वेद ७।४१।३
५. ऋग्वेद ५।५७।६
६. ऋग्वेद ७।४८।४
७. ऋग्वेद ७।५४।३
८. ऋग्वेद २।२६।२२ एवं २५
९. ऋग्वेद १।५९।५,६।७०।६,७।५३।२,३
१०. ऋग्वेद १।३६।१०
११. ऋग्वेद १०।१२१।१०
१२. **त्वं त्येभिरा गहि वाजेभिर्दुहितर्दिवः। अस्मे रयिं नि धारय॥**
१३. **उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति। ये तोकं च तनयं च धामहे॥**
१४. **अथा नो विश्वा सौभगान्या वह।** —ऋ० १।९२।१५।
१५. **युष्माकं देवीरवसा सनेम सहस्त्रिणं च शतिनं च वाजम्।**
१६. ऋग्वेद ५।७९।६, ७, ८ ऋ० ७।७५।२, ७७।५, ६, ८१।६, १०।३५।४।१२, १०।३६।१०।

१. सविता, भग, वरुण, मित्र, अर्यमा और इन्द्र—
तत् सु नः सविता भगो वरुणो मित्रो अर्यमा।
इन्द्रो नो राधसा गमत्॥ —ऋ० ४।५५।१०

२. मित्र, वरुण और अर्यमा—
नू मित्रो वरुणो अर्यमा नस्त्मने तोकाय वरिवो दधन्तु।
—ऋ० ७।६२।६

३. सविता, मित्र, अर्यमा और भग—

४. इन्द्र, वरुण, मित्र और अर्यमा—
अस्मे इन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा द्युम्नं यच्छन्तु महि शर्म सप्रथः।
—ऋ० ७।८२।१०

५. इन्द्र और अग्नि—
एवेन्द्राग्नी पपिवांसा सुतस्य विश्वास्मभ्यं स जयतं धनानि।
—ऋ० १।१०८।१३

गोमद्धिरण्यवद्वसु यद्वामश्वावदीमहे। इन्द्राग्नी तद्वनेमहि॥
—ऋ० ७।९४।९

६. छः देवियों और विश्वदेव से सामूहिक प्रार्थना—
देवीः षळुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह वीरयध्वम्।
मा हास्महि प्रजया मा तनुभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन्॥
—ऋ० १०।१२८।५

छः देवियाँ (द्यौ, पृथिवी, दिन, रात्रि, जल और औषधि) हमारी श्रीवृद्धि करें। देवो यहाँ वीरत्व करो, हमारी सन्तति और शरीर का अमंगल न हो, राजा सोम शत्रु के पास हम विनष्ट न हों।

(ग) (अ) सुख (आ) शान्ति, (इ) स्वस्ति, (ई) भद्रता, (उ) मधुरता, (ऊ) निडरता, (ए) पापमुक्ति, (ऐ) सुमनस्कता, (ओ) दीर्घ आयुष्य, (औ) रक्षण और (अं) विजय के लिए सामूहिक प्रार्थनाएँ ऋग्वेद में की गई हैं।

(अ) सुख—

व्यक्तिगत सुख की कामना समाज में ईर्ष्या-द्वेष को जन्म देती है, लेकिन सामूहिक सुख की कामना समाज में स्थायी सुख के जन्म का कारण बनती है, अतः सुख के लिए सामूहिक प्रार्थनाएँ ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर की गई हैं।

ऋग्वेद में सुख की कामना का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि व्यापक विष्णु, अहिंसक होता हुआ वायु, धन प्रदाता सोम, हमें सुखी करें[1]। ऋक् ७।५४।३ में वास्तोष्पति से प्रार्थना की गई है—हे वास्तोष्पति, हम तुम्हारा सुखकर रमणीय धनवाला स्थान पावें[2]। ऋग्वेद में मरुतों के पिता से

---

१. उत नो विष्णुरुत वातो अस्रिधो द्रविणोदा उत सोमो मयस्करत्। —ऋ० ५।४६।४

२. वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या।

सुख की कामना करते हुए कहा गया है—हे मरुतों के पिता, तू हमें सुख प्रदान कर[१]। रुद्रदेव से प्रार्थना है—हे दुष्टों को क्षीण करनेवाले रुद्र हमें तेरा सुख प्राप्त हो[२]।

इन्द्र के साथ पिता-माता का सम्बन्ध स्थापित करते हुए सुख की कामना का उल्लेख किया गया है। हे सब को बसानेवाले शतक्रतो (इन्द्र) तुम हमारे पिता हो और तुम ही हमारी माता हो। इसलिए हम तुम से सुख की कामना करते हैं[३]। ऋक् ८।४८।८ में कहा है—हे सोम राजा, हमें सुखी करो[४], हे सोम हमें पिता के समान सुखी करो[५]।

ऋग्वेद में सामूहिकरूप से सुख की भावना इतनी बलवती है कि सामान्यतया जड़ प्रतीत होनेवाले जल और अन्न से भी सुख की कामना की गई है। जल के सम्बन्ध में कहा है, पुत्र की समृद्धि की कामना करनेवाली माताएँ जैसे अपना दुग्धामृत रस उनको पान कराती हैं, वैसे ही आप (जलो) जो तुम्हारा अत्यन्त कल्याणकारी या सुखकारी रस है, उसका हमें पान कराओ[६]। इसी प्रकार अन्न के विषय में कहा गया है—हे पितु, (अन्न) तू मंगलमय हो, अतः कल्याणयुक्त रक्षण साधनों से हमें प्राप्त हो, हमें सुख दो, हमारे लिए तुम्हारा रस अप्रिय न हो तू हमारे लिए मित्र और अद्वितीय सुख देनेवाला बन[७]।

(आ) शान्ति—

सामाजिक सामञ्जस्य के लिए शान्ति की महती आवश्यकता होती है, क्योंकि शान्तिमय वातावरण में ही सामञ्जस्य की भावना पनप सकती है। इसलिए ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर शान्ति के लिए सामूहिक प्रार्थनाएँ की गई हैं।

हमारी शान्ति के लिए भग देव हों, हमारी शान्ति के लिए नराशंस हों, हमारी शान्ति के लिए बहुधी हों, धन-धान्य भी हमारी शान्ति के लिए हों। हमारे शोभन एवं संयम युक्त सत्य के वचन शान्ति के लिए हों, बहुबार प्रादुर्भूत अर्यमा भी हमारी शान्ति के लिए हों[८]। हमारी शान्ति धाता देव के

---

१. आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु। —ऋ० २।३३।१
२. क्षयद्वीर सुम्नमस्मे ते अस्तु। —अ० १।११४।१०
३. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे। —ऋ० ८।९८।११
४. सोम राजन् मृळया नः।
५. अधा पितेव सूनवे विवो मदे मृळानो.....। —ऋ० १०।२५।३
६. यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥—ऋ० १०।९।२
७. उप नः पितवा चर शिवः शिवाभिरूतिभिः।
मयोभूरद्विषेण्यः सखा सुशेवो अद्वयाः॥ —ऋ० १।१८७।३
८. शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु॥—ऋ० ७।३५।२
पुरन्धिः=बहुधीः शंसः=नराशंसः, शंसः वचनम्, पुरुजातः=बहुप्रादुर्भावः। —सा०भा०

द्वारा हो। हमारी शान्ति के लिए पाप-पुण्यों का निर्धारण करनेवाला वरुणदेव हो। हमारी शान्ति के लिए विवर्तगमना (ऊँची-नीची) पृथिवी अन्न के साथ हो[१]। महती द्यावापृथिवी भी हमारे लिए शान्त हों, पर्वत हमारी शान्ति के लिए हों[२]। ज्योतिर्मुख अग्नि हमारी शान्ति के लिए हों। अश्विनौ हमारी शान्ति के लिए होवें। पुण्यकर्मा पुरुषों के पुण्य कर्म भी हमारी शान्ति के लिए हों। गमनशील वायु भी हमारी शान्ति के लिए हो[३]। प्रथम आह्वान होनेवाले द्यावापृथिवी हमारी शान्ति के लिए हों। अन्तरिक्ष भी हमारे देखने के लिए शान्तिदायक हो। ओषधियाँ और वृक्ष हमारी शान्ति के लिए हों। जयशील लोक के पति इन्द्र भी हमारी शान्ति के लिए हों[४]। चारों महादिशाएँ हमारी शान्ति के लिए हों। हमारी शान्ति के लिए पर्वत निश्चल हों, नदियाँ हमारी शान्ति के लिए हों। त्राण करता हुआ सविता हमारी शान्ति के लिए हो, प्रकाशवाली उषाएँ हमारी शान्ति के लिए हों। हमारी प्रजाओं के लिए मेघ शान्तिप्रद हो, सुख को उत्पन्न करनेवाला क्षेत्रपति हमारी शान्ति के लिए हो[५]। ऋग्वेद १।९०।९ में कहा है—मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति और विस्तृत पादक्षेपी विष्णु हमारी शान्ति के लिए हों।

(इ) स्वस्ति—

ऋग्वेद में जहाँ शान्ति के लिए देवों से सामूहिक प्रार्थनाएँ की गई हैं वहाँ स्वस्ति[६] के लिए भी इन्द्र, पूषा, विश्वदेव, बृहस्पति, अश्विनौ, भग, अदिति, द्यावापृथिवी, वायु, सोम, वैश्वानर, वसु, अग्नि, रुद्र, मित्रावरुण आदि से प्रार्थना की गई है—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

—ऋग्वेद १।८९।६

स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः।
स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना॥

—ऋग्वेद ५।५१।११

---

१. **शं नो धाता शमु धर्ता नो अस्तु शं न उरूची भवतु स्वधाभिः।** —ऋ० ७।३५।३
धर्त्ता=पापपुण्यानां विधारयिता वरुणः, उरूची=विवर्तगमना स्वधाभिः=अन्नैः सह। —सायण

२. **शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः।** —ऋ० ७।३५।३

३. **शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना शम्।**
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभिवातु वातः॥ —ऋ० ७।३५।४
इषिरः=गमनशीलः, अनीकः=मुखः। —सा०भा०

४. **शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु।**
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः॥ —ऋ० ७।३५।५
वनिनो=वृक्षाः, रजसो=लोकस्य पतिरिन्द्रः। —सायण

५. ऋग्वेद ७।३५।८, १०

६. स्वस्ति और भद्र के अर्थ के लिए द्रष्टव्य—पृ० ८९ प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध।

स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः।
बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः॥
—ऋ० ५।५१।१२

विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये।
देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः॥
—ऋग्वेद ५।५१।१३

स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति।
स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च स्वस्ति नो अदिते कृधि॥
—ऋ० ५।५१।१४

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि॥ —ऋ० ५।५१।१५

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर मन्त्र के अन्तिम चरण में 'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः' कहकर देवों से स्वस्ति के द्वारा हमारी सदा पालना की कामना की गई है[1]।

(ई) भद्रता—

ऋग्वेद में भद्रता की कामना करते हुए सविता से प्रार्थना की है—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव॥
—५।८२।५

हे सवितादेव, हमारे सभी प्रकार के दुर्गुण (दुर्व्यसन और दुर्विचार) दूर कीजिए और जो हमारे लिए भद्रतायुक्त हों उन्हें हमें प्राप्त कराओ।

अपने कल्याण के लिए भद्र सुनने और देखने की कामना सामूहिकरूप से ऋग्वेद में की गई है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।

कल्याण या भद्रता हमारे आगे-आगे हो इसका उल्लेख भी ऋग्वेद में किया गया है—**भद्रं भवाति नः पुरः**—ऋ० २।४१।१२।

(उ) मधुरता—

सामाजिक सामञ्जस्य के लिए मधुरता की भी अपेक्षा होती है, माधुर्यमय वातावरण में सामूहिकता की भावना को बल मिलता है। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर इसकी कामना की गई है—'हमारे लिए मधुर (शीतलमन्द सुगन्ध) वायु चलें, नदियों में हमारे लिए मीठा जल बहे और हमारे लिए मधुर रसभरी ओषधियाँ हों[2]। हमारे लिए रात्रि और उषावेला सुहावने हों, पृथिवी का प्रत्येक कण मिठास से भरा हो और हमारे लिए द्यौपिता मधुमय (सुखकारी)

---

१. ऋ० ७।७।७, ८।७, ९।६, ११।५, १२।३, १३।३, १४।३, १९।११, २०।१०, २१।१०, २२।९, २३।६, २४।६, २५।६, २६।५, २७।५, २८।५, २९।५, ३४।२५, ३५।१५, ३६।९, ३७।८, ३९।९, ४०।७, ४१।७, ४२।६, ४३।५, ४५।४, ४६।४, ४७।४, ४८।४, ५१।३, ५३।३, ५४।३ आदि

२. **मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥**—ऋ० १।९०।६

हो[१], हमारे लिए मधुरता से युक्त वनस्पतियाँ हों, सन्तापरहित सूर्य हो तथा हमारे लिए मधुर-मधुर दूध देनेवाली गौएँ हों[२]।

(ऊ) निडरता—

भयभीत समाज अपनी सामञ्जस्य की भावना खो बैठता है, अतः भयरहित होने की सामूहिक प्रार्थना ऋग्वेद में की गई है, क्योंकि निडरता से युक्त समाज ही सामञ्जस्य भावना को सुरक्षित रख सकता है।

ऋग्वेद में इन्द्र से अभय की कामना की गई है—हे इन्द्र, जिस-जिस ओर से भय हो उस-उस ओर से हमें अभय करो[३]। हे इन्द्र, हमारे शत्रुओं को मारो हिंसक जन्तुओं को दूर भगाओ और हमें सभी ओर से निर्भय (निडर) करो[४]। ऋक् ९।७८।५ में सोम से प्रार्थना की है—जो शत्रु दूर वा समीप हैं, उन्हें मारो और विस्तृत मार्ग हमारे लिए अभय करो[५]।

(ए) पापमुक्ति—

ऋग्वेद में पाप मुक्ति की सामूहिक रूप से प्रार्थनाएँ की गई हैं। ऋक् १।१६२।२२ के अनुसार अदिति से प्रार्थना है, तुम अदिति, हमें निष्पाप या निरपराध करो।

'अनागास्त्वं नो अदितिः कृणोतु।'

अग्निदेव से ऋग्वेद १।१८९।१ में कामना की गई है—हे अग्नि, हमें ऐश्वर्य के लिए सुपथ से ले चल, हे देव, तुम सभी कुछ जाननेवाले विद्वान् हो, हमसे कुटिलतायुक्त पाप को दूर करो जिससे हम तुम्हारी बहुत-बहुत स्तुति कर सकें[६]।

जातवेद अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह हमें दुर्गुणों और दुरितरूप पापों से ऐसे ही पार कर दे जैसे नाव से नदी पार की जाती है[७]। ऋक् ८।६७।२ में सामूहिकरूप से देवों से पापमुक्ति की प्रार्थना की गई है। मित्र, वरुण, अर्यमा और आदित्य जैसा उचित समझें हमें पाप से पार करें[८]। ऋक् १०।३७।७ में सूर्य से निष्पाप होने की कामना की गई है—हे सूर्य, हम सदा सुमनवाले, शोभन दर्शन शक्तिवाले, प्रजा से युक्त, रोगरहित, निष्पाप हों[९]। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ९७वें सूक्त में पाप को नष्ट करने की प्रार्थना ११ बार की गई है, जिससे भी पाप-मुक्ति की सामूहिक भावना की तीव्रता प्रकट होती है, जो कि सामञ्जस्य भावना के लिए अति आवश्यक है।

---

१. **मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥** —ऋ० १।९०।७
२. **मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥** —ऋ० १।९०।८
३. **यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।** —ऋ० ८।६१।१३
४. **जहि शत्रूँरप मृधो नुदस्वाथाभयं कृणुहि विश्वतो नः।** —ऋ० ३।४७।२
५. **जहि शत्रुमन्तिके दूरके च य उर्वी गव्यूतिमभयं च नस्कृधि।** —ऋ० ९।७८।५
६. **अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।**
७. **युयोध्यस्मज्जुहुराणम् एनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम॥** —ऋ० १।१८९।१२
८. **स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः।** —ऋ० १।९९।१
९. **उद्यन्तं त्वा भित्रमहो दिवेदिवे ज्योग्जीवाः प्रति पश्येम सूर्य। मित्रो नो अत्यंहतिं वरुणः पर्षदर्यमा। आदित्यासो यथा विदः॥** —ऋ० ८।६७।२

(ऐ) सुमनस्कता और सुमति की सामूहिक प्रार्थना—

ऋग्वेद में सुमति की कामना करते हुए कहा है, उस यजनीय (अग्नि) उत्तममति के निमित्त हम श्रेष्ठ सुमनस्कता में भी रहें[१]। अग्नि वह तेरी सुमति हमारे लिए हो[२]। (हे बलशालिन् अग्ने!) हम तेरी कल्यामकारिणी सुमति में प्रयत्न करते रहें[३]। (हे इन्द्र) हम तेरी इस शुभ मति में अन्नादि ऐश्वर्योंवाले हों[४]। हम देवों की सुमति में हों[५]।

ऋग्वेद में अति प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र का उल्लेख हुआ है, जिसमें सविता देव से सामूहिक बुद्धि की कामना की गई है[६]। क्योंकि बौद्धिक भिन्नता के कारण सामाजिक सामूहिकता की भावना निर्बल हो जाती है, इसलिए सामूहिक बुद्धि की प्रार्थना युक्तिसंगत ही है।

(ओ) दीर्घ आयुष्य—

ऋग्वेद में दीर्घ आयुष्य की प्रार्थनाएँ अनेक स्थानों पर की गई हैं। ऋक् १।८९।२ में कहा है—हम देवों की मित्रता प्राप्त करें, देव हमारी आयु दीर्घकाल तक जीने के लिए बढ़ावें[७]। कम से कम सौ वर्ष जीने की कामना ऋग्वेद में की गई है[८]। जिसकी पुष्टि ऋक् ७।६६।१६ में करते हुए कहा है—

तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्।

शतवर्षीय एवम् इससे अधिक की भावना यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में और अधिक बलवतीरूप में मुखरित हुई है[९]।

ऋग्वेद १।९४।१६ में दीर्घजीवन के लिए प्रार्थना की गई है[१०]। ऋक् १।९६।८ में द्रविणोदा अग्नि से प्रार्थना की गई है कि हमें दीर्घजीवन प्रदान करो[११]। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में 'जीरदानुम्' शब्द से दीर्घजीवन की कामना की गई है[१२]। सोम से प्रार्थना की गई है कि सोम हमारी आयु बढ़ाता हुआ हमारे द्विपदे मनुष्यादि और चतुष्पदे पशु आदि के लिए रोगरहित अन्न उत्पन्न करे[१३]। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर हम शतवर्षपर्यन्त पुत्रों के साथ आनन्दपूर्वक रहें की कामना की गई है[१४]।

---

१. ऋग्वेद ३।१।२१,१०।१४।६   २. ऋग्वेद ३।१।२३
३. **ते भद्रायां सुमतौ यतेम।** —ऋ० ६।१।१०
४. **वयं ते अस्यां सुमतौ चनिष्ठाः स्याम।** —ऋ० ७।२०।८
५. **वयं देवानां सुमतौ स्याम।** —ऋ० ७।४१।४
६. **तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।** —ऋ० ३।६२।१०
७. **देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे।** —ऋ० १।८९।२
८. ऋ० १।८९।९
९. यजुर्वेद ३६।२४ अथर्ववेद १९।६७।१-८
१०. **अस्माकमायुः प्र तिरेह देव।**
११. **द्रविणोदा वीरवतीमिषं नो द्रविणोदा रासते दीर्घमायुः।**
१२. ऋ० १।१६५।१५, १६७।११, १६९।८, १७३।१३, १७४।१०, १७५।६, १७६।६, १७७।५ आदि।
१३. **अस्माकमायुर्वर्धयन्।** —ऋ० ३।६२।१४, १५
१४. **मदेम शतहिमाः सुवीराः।** —ऋ० ६।१०।७, १२।६,१३।६, १७।१५, २४।१०

ऋग्वेद में आदित्यगणों से प्रार्थना की गई है—हे आदित्यगणो! पुत्र-पौत्रों और हमारे लिए दीर्घ जीवन दो[१]। ऋक् १०।११५।८ में अग्नि से दीर्घजीवन की कामना करते हुए कहा है—हम तेरी स्तुति करते हैं कि हम तेरे द्वारा सुवीरवाले होकर सुदीर्घ जीवन को धारण करें। हे अग्नि, हमारी आयु बढ़ाओ[२]। ऋक् १०।३६।९ में उल्लेख किया गया है कि हम पाप रहित जीवित पुत्रों वाले, स्वयं जीवन को धारण करते हुए दानशील पुरुषों के साथ शोभन दानवाले होकर सुख से रहें[३]।

ऋग्वेद में दीर्घजीवन की भावना इतनी बलवती है कि देवों के साथ-साथ सामान्यतया जड़ पदार्थ औषधिरूप वायु से भी दीर्घजीवन की कामना की गई है। जैसा कि ऋग्वेद १०।१८७।१ में कहा है—हे वायो, ओषधिरूप शान्तिदायक, सुखकारक होकर हमारे हृदय के लिए प्राप्त हो और हमें दीर्घजीवन प्रदान करो। इसी सूक्त की दूसरी ऋचा में कहा है, वायु हमारा पिता, भ्राता और सखा है। वह हमारे लिए जीवन की कृपा करे। इसी सूक्त की तीसरी ऋचा में कहा है—हे वायो, जो तेरे गृह में अमृत का कोश रखा है, उसको हमें दीर्घजीवन के लिए प्रदान कर[४]।

(औ) रक्षण की सामूहिक प्रार्थनाएँ—

ऋग्वेद में रक्षण की सामूहिकरूप से अनेक स्थानों पर प्रार्थनाएँ की गई हैं। अग्नि से रक्षण की प्रार्थना है—

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः।
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य॥

—ऋग्वेद १।३६।१५

हे महनीय प्रकाश से युक्त बलशालिन् अग्ने! राक्षसों, धूर्तों और अदानशील पुरुषों से हमारी रक्षा करो तथा हिंसक और हिंसा करने की इच्छा करनेवाले से भी हमारी रक्षा करो। ऋक् १।५४।११ में कहा गया है (हे इन्द्र), हमें धनवान् करके रक्षा कर और विद्वानों की पालना कर[५]।

ऋक् १।८९।५ में इन्द्र के विषय में कहा गया है।

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम्।

—ऋ० १।८९।५

उस ऐश्वर्यशाली पोषण करनेवाले स्थावर और जंगम के अधिपति को

---

१. **तुचे तनाय तत्सु नो द्राघीय आयुर्जीवसे।**
आदित्यासः सुमहसः कृणोतन॥ —ऋ० ८।१८।१८
२. **त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥**
३. **वयं जीवा जीवपुत्रा अनागसः।**
४. **वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे। प्र ण आयूंषि तारिषत्॥**
उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा। स नो जीवातवे कृधि॥
यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः। ततो नो देहि जीवसे॥
—ऋग्वेद १०।१८६।१, २, ३
५. **रक्षा च नो मघोनः पाहि सूरीन्।**

हम रक्षा के लिए बुलाते हैं। ऋग्वेद के एक ही सूक्त में १५ बार इन्द्र को मरुतों के साथ रक्षकरूप में स्तुत्य किया गया है, जिससे रक्षण भावना का स्पष्ट उल्लेख प्रतीत होता है। ऋग्वेद में अन्य अनेक स्थानों पर रक्षण की प्रार्थनाएँ की गई हैं[१]।

(अ) विजय की सामूहिक प्रार्थनाएँ—

ऋग्वेद में अनेकों स्थान पर विजय की सामूहिक प्रार्थनाएँ की गई हैं[२], जिससे समाज में सामञ्जस्य भावना परिलक्षित होती है।

ऋग्वेद १।८।३ में इन्द्र के विषय में कहा गया है कि हे इन्द्र, हम तेरे होकर वज्र और हनन करनेवाले अस्त्र को ग्रहण करें। हम युद्धों में स्पर्धा करनेवाले शत्रुओं को जीतें। ऋग्वेद में उषस् से प्रार्थना करते हुए कहा गया है, हे उषस् जो पाप का धाता है वह पीछे से तिरस्कृत हो, हम उसको दक्षिण रथ से जीतें।

बहुतों के द्वारा बुलाने योग्य इन्द्र, हम संग्राम में (कारे) हिंसकों को जीतें। और पापबुद्धियों को हरायें।[३] हे सोम, वीरशालिन् सुवीरोंवाले हम (युद्धों में) धनों को विजित करें।[४] हे इन्दो, (सोम) हम तेरे साथ रहकर प्रत्येक धन को जीतें[५]। हे इन्द्र, तुझे सहायक पाकर अवरोधक शत्रुओं को जीतें। प्रत्येक संग्राम में हमारे अंश की रक्षा करो[६]। (सोम और पूषा) तुम दोनों की सहायता से हम शत्रुओं की जीतें[७]। हे वज्रिन् (इन्द्र) धनों की प्राप्ति के लिए हम अर्यजन तेरे द्वारा जुआरी के समान युद्धों को जीतें[८]। (हे अग्ने) हम तेरे द्वारा अन्नवाले होकर अन्न को जीतें और मनुष्यों की सेना को पराजित करें। हे वैश्वानर (अग्ने) हम तेरे रक्षण साधनों से सैकड़ों और सहस्रों ऐश्वर्यों को विजय करें[९]। हे इन्द्र वरुण, हम संग्रामों में शत्रुओं को जीतें[१०]। (इन्द्र) हम तेरी सहायता से अन्न या यशवाले संग्राम को विजय करें[११]। हे अग्ने! तेरी अध्यक्षता द्वारा हम शत्रुओं को जीतें[१२]। इस प्रकार विजय के लिए ऋग्वेद में प्रार्थनाओं का उल्लेख हुआ है।

---

१. ऋ० १।१०९।८, १४३।८, १४४।५, १६७।२, १७४।१ आदि।
२. १।२३।५
३. **जयेम कारे पुरुहूत कारिणोऽभि तिष्ठेम दूढ्यः।** —ऋ० ८।२१।१२।
४. **सुवीरासो वयं धना जयेम सोम मीढ्वः।** —ऋ० ९।६१।२३।
५. **इन्दो जयेम त्वया धनं धनम्।** —ऋ० ९।८५।८।
६. **वयं जयेम त्वया युजा व्रतमस्माकम् अंशमुदवा भरे भरे।** —ऋ० १।१०२।४।
७. **युवाभ्यां विश्वा पृतना जयेम।** —ऋ० २।४०।५।
८. **श्वघ्नीव वज्रिन्त्सनये धनानां त्वया वयमर्य आजिञ्जयेम।** —ऋ० ४।२०।३।
९. **त्वया वाजं वाजयन्तो जयेमाभि ष्याम पृत्सुतीर्मर्त्यानाम्।** —ऋ० ५।४।१।
१०. **वयं जयेम शतिनं सहस्त्रिणं वैश्वानर वाजमग्ने तवोतिभिः।** —ऋ० ६।८।६।
११. **वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः।** —ऋ० ७।८२।१।
१२. **त्वयाध्यक्षेण प्रत्ना जयेम।** —ऋ० १०।१२८।१।

(४) सामूहिक सोमपान—

सामूहिकरूप से एकत्र होने (सामञ्जस्य की भावना) का उल्लेख ऋग्वेद में सामूहिक सोमपान से प्रकट होता है, जिसके पान का वर्णन देवों के साथ-साथ मानव समाज में भी पाया जाता है, जो कि निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट है—

ऋग्वेद १।२१।१ में इन्द्र और अग्नि को सोमपान के लिए आह्वान किया गया है और ऋग्वेद १।२१।३ में सोमपान के विषय में कहा गया है, मित्रदेव की प्रशंसा के लिए हम उन सोमपायी इन्द्र और अग्नि को सोमपान के लिए आह्वान करते हैं[१]। ऋग्वेद १।२२।१२ में सोमपान के लिए देव पत्नियों को भी आमन्त्रित किया गया है। हम अपने मंगल के लिए और सोमपान के लिए इन्द्राणी, वरुणानी, अग्नायी को सोमपान के लिए बुलाते हैं[२]।

सामूहिक सोमपान की भावना ऋग्वेद में इतनी बलवतीरूप में उल्लिखित हुई है कि सभी देवों को सामूहिक सोमपान के लिए आमन्त्रित किया गया है। ऋग्वेद १।४८।१२ में उषस् से प्रार्थना की गई है—

विश्वान् देवाँ आवह सोमपीतयेऽन्तरिक्षादुषस्त्वम्।

उषस् तू, अन्तरिक्ष से सभी देवों को सोमपान के लिए ले आओ। ऋग्वेद ८।३५। में अश्विनौ को सम्बोधित करते हुए कहा गया है—

अग्निनेन्द्रेण वरुणेन विष्णुनादित्यै रुद्रैर्वसुभिः सचाभुवा।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना॥

—ऋ० ८।३५।१

विश्वैर्देवैस्त्रिभिरेकादशैरिहाद्भिर्मरुद्भिर्भृगुभिः सचाभुवा।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना॥ —ऋ० ८।३५।३।

अग्नि, इन्द्र, वरुण, विष्णु, आदित्यों, रुद्रों, वसुओं सभी ३३ देवों आपः, मरुतों, भृगुओं, उषस् और सूर्य के साथ अश्विनौ सोमपान करो। ऋक् ७।३८।८ में उल्लेख हुआ है। हे बलशाली देवो, इस सोम का पान करो और आनन्दित होओ। तदनन्तर तृप्त होकर देवयानों से देव मार्गों के द्वारा गमन करो[३]।

ऋग्वेद में जहाँ सामूहिक सोमपान का उल्लेख देवों के लिए किया गया है, वहाँ मानव समुदाय में भी सामूहिक सोमपान के लिए उल्लेख हुआ है। हे आपः देवता देवेच्छुक अध्वर्यु लोगों के द्वारा इन्द्र के लिए पीने योग्य और भूमि समुत्पन्न सोम रस जो तुम लोगों के लिए पहले संस्कृत किया गया है उसी शुद्ध, पवित्र वृष्टि जल सेचनकारी रस से युक्त सोम का हम भी सेवन

---

१. **ता मित्रस्य प्रशस्तय इन्द्राग्नी ता हवामहे। सोमपा सोमपीतये।**
२. **इहेन्द्राणीमुप ह्वये वरुणानीं स्वस्तये। अग्नायीं सोमपीतये।**
३. **अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः।**

करेंगे। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा है हम और हमारे पुत्रगण दीर्घजीवी तथा अपराधरहित हों। हम पुत्रादि के साथ सोम का भोग करेंगे (पान करेंगे)—

'सनेम तत् सुसनिता सनित्वभिर्वयं जीवा जीवपुत्रा अनागसः'।

—ऋ० १०।३६।९।

४. सामूहिक खान-पान—

सामूहिक खान-पान के विषय में अथर्ववेद में उल्लेख करते हुए कहा गया है—**'समानी प्रपा सह वो अन्नभागः'** अथर्व० ३।३०।६ इससे सहभोज का विधान स्पष्ट प्रतीत होता है। ऋग्वेद में भी अकेले खानेवाले की निन्दा करते हुए पापी तक कहा गया है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

—ऋ० १०।११७।६

वह अल्पमेधावाला पुरुष व्यर्थ ही अन्न को प्राप्त करता है। यह मैं सत्य कहता हूँ कि वह अन्न उसके वध का कारण होता है, क्योंकि वह न तो अपने स्वामी को पुष्ट करता है और न वह अपने मित्र को ही खिलाता है, अतः केवल स्वयं खानेवाला पापी होता है। श्रीमद्भगवद् गीता में भी केवल अपने लिए पकानेवाले को पापी कहकर निन्दा की गई है[२]। इससे ऋग्वेद में सामूहिक खान-पान की भावना स्पष्टरूप से परिलक्षित होती है।

५. सामूहिक यज्ञ-विधान—

ऋग्वेद में सामूहिक सोमपान और सामूहिक खान-पान के अतिरिक्त सामूहिक यज्ञ करने का भी उल्लेख हुआ है, जैसा कि ऋग्वेद १०।१९१।३ में कहा गया है। मैं तुम सभी समान विचार के लोगों को आमन्त्रित करता हूँ और तुम सभी को समान हवि पदार्थ से युक्त करता हूँ[३]। इससे सामूहिक यज्ञ-विधान का स्पष्ट उल्लेख प्रतीत होता है।

६. समानता—

सामाजिक सामञ्जस्य के लिए समानता का होना भी अत्यावश्यक है। जिसका उल्लेख ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर किया गया है। समानता के कारण सभी मनुष्यों को सौभाग्य प्राप्ति के लिए समान अवसर प्राप्त होते हैं। जैसा कि ऋग्वेद में मरुतों के विषय में कहा गया है—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठासो एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।

—ऋ० ५।६०।५

---

१. **आपो यं वः प्रथमं देवयन्तः इन्द्रपानमूर्मिकृण्वतेळः।**
तं वो वयं शुचिमरिप्रमद्य घृतप्रुषं मधुमन्तं वनेम॥ —ऋ० ७।४७।१
इस ऋचा का अनुवाद सायण के अनुसार है, सायण ने अगली ऋचा ७।४७।२ में भी मानवों को सोमपान का विधान माना है।

२. **भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।** —गीता० ३।१३

३. **समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।**

सौभाग्य प्राप्ति के लिए कोई छोटा बड़ा नहीं है, सभी बराबर के भाइयो वृद्धि को प्राप्त हो।

ऋग्वेद में सौभाग्य प्राप्ति के लिए अन्य स्थानों पर भी सामूहिकरूप से उल्लेख किया गया है। ऋक् १।५२।१५ में कहा है उषस् हमें सम्पूर्ण सौभाग्यों को प्राप्त कराओ[१]।

हमें सौभाग्य प्राप्त हो[२] और हम सौभाग्य के लिए शोभन बल या वीर्य के स्वामी हों[३]। ऋग्वेद १०।१९१ में समानता का स्पष्टरूप से उल्लेख करते हुए कहा गया है—तुम्हारे गमन में समानता हो, तुम्हारी वाणी में समानता हो, तुम्हारे मनों के विचार समान हों, जैसे पूर्व के देवजन। ऐश्वर्य को जानते हुए प्राप्त किया, वैसे तुम सभी प्राप्त करो[४]। इसी सूक्त की ऋचा तीसरी में कहा है, जिनके विचार समान, विचार करने की समिति समान और मन के साथ जिनके चित्त समान हैं, मैं उन समान विचार या समान विचारवाले तुम मनुष्यों को आमन्त्रित करता हूँ और तुम सभी को समान हविष् पदार्थों से युक्त करता हूँ[५]। ऋग्वेद १०।१९१।४ में उल्लेख किया गया है, तुम्हारा निश्चय उत्साह तथा संकल्प समान हो और तुम्हारे हार्दिक कर्म समान हों[६]। जिससे परस्पर सहयोग अच्छी प्रकार हो सके। इस प्रकार सामाजिक सामञ्जस्य का उल्लेख ऋग्वेद में पाया जाता है।

७. पारिवारिक सामञ्जस्य—

व्यक्ति परिवार का अंग होता है और परिवार समाज का अंग है, अतः परिवार में भी अभेद भावना सामूहिकता और समानता होनी चाहिए। जिसके विषय में विचार किया जायेगा।

मानव का पारिवारिक जीवन पति-पत्नी से आरम्भ होता है और पति-पत्नी ही आगे सन्तानोत्पत्ति करके माता-पिता का रूप धारण कर लेते हैं तथा अपने पुत्र-पुत्रियों से घिरकर परिवार शब्द को सार्थक करते हैं।

ऋग्वेद में वर-वधू को एक स्थान पर रहने और पुत्र-पौत्रों के साथ आमोद मनाने की कामना करते हुए आशीर्वाद दिया है, जिससे पारिवारिक सामञ्जस्य व्यक्त होता है। ऋग्वेद में इसी विवाह सूक्त के अन्त में वर-वधू स्पष्टरूप से सामञ्जस्य भावना की कामना देवों से करते हुए कहते हैं—

समञ्जन्तु विश्वे देवा समापो हृदयानि नौ। —ऋ० १०।८५।४७

---

१. **अथ नो विश्वा सौभगान्यावह।**
२. **एता नो अग्ने सौभगा दिदीहि।** —ऋ० ७।३।१०
३. **सौभगाय सुवीर्यस्य पतयः स्याम।** —ऋ० ९।९५।५
४. **संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।**
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते॥—ऋ० १०।१९१।२
५. **समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।**
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥
६. **समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।**

सभी देवगण और आपः (जल) हम दोनों के हृदयों का समञ्जन करें। परवर्ती वैदिक साहित्य में इसी समञ्जन भावना को तीव्रतर बनाते हुए वर-वधू को एक-दूसरे का हृदय देश स्पर्श करते हुए कहने के लिए विधान किया गया है—

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

—पार०गृ०सू० १।८।८।

(वर कहता है) हे वधू तेरे हृदय को मैं अपने व्रत में स्थापित करता हूँ, तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल रहे, तू मेरी वाणी को एकाग्रमन होकर सेवन कर। प्रजापति ने मेरे लिए तुझे नियुक्त किया है। वधू भी वर का हृदय स्पर्श करती हुई इसी मन्त्र का उच्चारण करती है जिसका उद्देश्य यही है कि दोनों ही एक दूसरे के अनुकूल रहकर व्यवहार करें जिससे जीवन में सामञ्जस्य स्थापित हो।

पत्नी को पति की अनुव्रता होना चाहिए जिससे जीवन में सामञ्जस्य रहता है। ऋग्वेद में अनुव्रता जाया का उल्लेख हुआ है[1]। अथर्ववेद में पुत्र को पिता का अनुव्रती और माता के समान मनवाला होने का उल्लेख किया गया है[2]। अथर्ववेद में यह भी कहा गया है कि भाई परस्पर द्वेष न करें और न बहिनें आपस में द्वेषभावना रखें।

ऋग्वेद में कहीं पर भी पारिवारिक जीवन में भेदभावना का उल्लेख नहीं हुआ है। परिवार के सभी सदस्य परस्पर सहयोगी होकर जीविकार्जन करते हैं, जैसा कि पहले कहा गया है कि एक ही परिवार में मन्त्रद्रष्टा पुत्र, वैद्य पिता और चक्की पीसनेवाली माता रहती है[4]। परन्तु किसी के साथ भेदभाव नहीं किया जाता।

(क) पारिवारिक सहयोग—

ऋग्वेद में पारिवारिक सहयोग की भावना भी पाई जाती है, क्योंकि ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर पिता, माता और पुत्र के मध्ये सहयोग का उल्लेख किया गया है।

ऋग्वेद ७।५४।२ में वास्तोष्पति से प्रार्थना की गई है कि जैसे पिता पुत्र का पालन करता है, वैसे हमारी पालना करो[5]। ऋक् ७।९७।२। में ब्रह्मणस्पति से प्रार्थना की गई है, जैसे पिता दूर देश से धन लाकर पुत्र को देता है वैसे ही जो हमारा दाता है[6]।

---

१. ऋ० १०।३४।२।
२. **अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः।** —अथर्व ३।३०।२
३. **मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।** —अथर्व० ३।३०।३
४. ऋ० ९।११२।३।
५. **पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व।**
६. **यो नो दाता परावतः पितेव।**

ऋग्वेद में जहाँ पिता पुत्र को धन देकर उसकी पालना और सहायता करता है, वहाँ पुत्र भी पिता की धन द्वारा सेवा करता है। ऋक् ८।१९।२७ में कहा गया है, जैसे पुत्र पिता के लिए भोजन छादन का प्रेषण करता है वैसे अग्नि देवों के लिए हव्य प्रेषण करता है[१]। माता भी पुत्र का लालन-पालन और सहयोग करती है एवं पुत्र को प्यार करती है। ऋग्वेद ७।८१।४ में उषस् से कामना की गई है—जैसे पुत्र माता के लिए प्रिय होता है वैसे हम तुम्हारे हों[२]। इसी प्रकार पुत्र भी माता-पिता के अनुकूल आचरण करता है। जैसे कि वैश्वानर अग्नि के विषय में कहा गया है कि वह माता-पिता के अनुकूल पुत्र हुआ है[३]। इस प्रकार पारिवारिक सहयोग की भावना परिलक्षित होती है।

(ख) समता—

पारिवारिक जीवन में समानता की भावना भी ऋग्वेद में पाई जाती है। जैसा कि मरुतों के विषय में कहा गया है—सौभाग्य प्राप्ति के लिए कोई छोटा बड़ा नहीं है, सभी बराबर के भाइयो वृद्धि को प्राप्त होओ[४]। इस प्रकार समानता का चित्रण भी ऋग्वेंद में उपलब्ध होता है।

(ग) सामूहिकता—

परिवार के लिए सामूहिक प्रार्थनाएँ अनेक स्थानों पर की गई हैं। जैसा कि ऋग्वेद १।१४।७ में रुद्र से प्रार्थना की गई है—हे रुद्र हमारे वृद्धों को मत मार, बच्चों को न मारना, हमारे वीर्य-सेचन में समर्थ युवकों को मत नष्ट कर एवं गर्भस्थ शिशुओं को मत मार, हमारे पिता का वध न करना और हमारी माता को न मारना। हमारे प्रिय शरीरों पर आघात न करना[५]।

हे रुद्र, हमारे पुत्र-पौत्रों, मनुष्य, गौओं, अश्वों को न मारना, रुद्र क्रुद्ध होकर हमारे वीरों की हिंसा न करना, क्योंकि हव्य लेकर हम सदा ही तुम्हें बुलाते हैं[६]। रुद्र हमारे शिशुओं और पुत्रों पर हिंसा का प्रयोग न करना[७]।

ऋग्वेद में सामूहिक बल की प्रार्थना इन्द्र से की गई है—

बलं धेहि तनूषु नो बलमिन्द्रानडुत्सु नः।
बलं तोकाय तनयाय जीवसे त्वं हि बलदा असि॥

—ऋ० ३।५३।१८

हे इन्द्र! हमारे शरीरों में बल दो, हमारे गाय, बैल, अश्वादि पशुओं में बल दो। हमारे शिशुओं और पुत्रों के दीर्घजीवन के लिए बल दो, निश्चय से तुम ही बल देनेवाले हो।

---

१. **पितुर्न पुत्रः सुभृतो दुरोण आ देवाँ एतु प्र णो हविः।**
२. **वयं स्याम मातुर्न सूनवः।**
३. **स मात्रोरभवत्पुत्र ईड्यः।** —ऋ० ३।२।२
४. **अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।** —ऋ० ५।६०।५
५. ऋ० १।११४।७
६. **मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।**
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे॥ —ऋ० १।११४।८
७. **मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः।** —ऋ० ७।४६।३

इस प्रकार ऋग्वेद में सामूहिकता की भावना पाई जाती है, जिससे पारिवारिक सामञ्जस्य की पुष्टि होती है, जो कि समाज में सामञ्जस्य की भावना के लिए महत्त्वपूर्ण है।

८. आर्येतर जनों के साथ सामञ्जस्य भावना का अभाव—

ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि आर्येतर जनों के साथ किसी प्रकार का सहयोग या सामूहिकता का भाव नहीं पाया जाता, उसका कारण सम्भवतया चारित्रिक है, क्योंकि जहाँ भी आर्य से भिन्न पणि, दस्यु, वृत्रादि का उल्लेख हुआ है वहाँ उनके चरित्र की हीनता को सम्मुख रखा गया है। ऋग्वेद में आर्यों और दस्यु जनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

वि जानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।

—ऋ० १।५१।८

(हे इन्द्र) आर्यों और इन दस्यु लोगों को विशेषरूप से जानो और यजनशील के लिए व्रत रहित (दस्यु जनों) को शासित करता हुआ दण्डित कर। इसी सूक्त की नवमीं ऋचा में अनुव्रतवाले के लिए व्रतरहितों को दण्डित करने का उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद ७।६।३ में आर्येतर दस्यु पणियों के लिए अग्नि से प्रार्थना की गई है, हे अग्निदेव, कर्महीन कुटिलाचारी, कष्टदायी वाणी को बोलनेवाले अश्रद्धालु अप्रगतिशील यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों से हीन पणि नायक दस्युजनों को हमसे दूर करो तथा उन्हें ऐसा दबा दें कि वे पुनः पनप न सकें[1]।

ऋग्वेद ८।९७।२ में इन्द्र से प्रार्थना की गई है, हे इन्द्र! तुमने अश्व, गौ एवम् अक्षय धन को धारण किया है, उनको यज्ञों में सोमाभिषव करनेवाले दानी, परोपकारी पुरुष को प्रदानकर पणि को नहीं।[2] इन्द्र के विषय में कहा गया है—

इन्द्रो दाशद् दाशुषे हन्ति वृत्रम्। —ऋ० २।१९।४

इन्द्र दानशील को देता है और वृत्र को मारता है। ऋग्वेद में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में पणि को दण्डित करने की प्रार्थना सोम देवता से की गई है—

जही न्यत्रिणं पणिं वृको हि षः। —ऋ० ६।५१।१४

सोम अदानशील पणियों को विनष्ट करो, क्योंकि वे तो साक्षात् भेड़िया हैं। इसी प्रकार हीन चरित्रवाले नमुचि, धुनि, पणि आदि दस्यु समुदाय को दण्डित करने का उल्लेख ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर किया गया है[3], जिससे आर्यों की इनके साथ सामञ्जस्य भावना का अभाव स्पष्टरूप से प्रतीत होता है।

---

१. **न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणींरश्रद्धाँ अवधाँ अयज्ञान्।**
प्र प्र तान् दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून्॥ —ऋ० ७।६।३।

२. **यमिन्द्र दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम्।**
यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन् तं धेहि मा पणौ॥ —ऋ० ८।९७।२।

३. ऋ० १।३३।४,५१।५–६, ५२।१०, ५३।७, ५४।६, १००।१८, १०१।५, ११७।२१, १३०।७, १३३।५, २।११।१८।३–४, १५।९, १९।६, २०।७, ८, ३।१२।६, २९।९, ३४।६, ४७।३, ४।१६।१२, ५।२९।१०, ३०।९, ६।२९।६, ४४।१४।७।८९।४, ८।१४।८, १०।१०८, १०। इत्यादि।

अध्याय : ७
प्रगतिशील जीवन

१. प्रगतिशील जीवन में श्रम का महत्त्व—

प्रगतिशील जीवन के लिए श्रम का बहुत महत्त्व है। मनुष्य आगे बढ़ने के लिए जितना श्रम करेगा, जीवन में उसको उतनी ही सफलता प्राप्त होगी और उसका जीवन भी समाज के लिए उतना ही उपयोगी होगा। श्रम की महत्ता इसलिए है कि श्रम नवनिर्माण करता है और विश्व को एक नवीन रूप में परिवर्तित कर देता है। वास्तुकला में श्रम का महत्त्व जीता-जागता दिखाई देता है। श्रम ही अद्‌भुत कार्यों की रचना करता है। श्रम के महत्त्व का यशोगान करनेवाले आज भी विश्व में ताजमहल, कुतुबमीनार, अशोक स्तम्भ, अजन्ता, एलौरा की गुफाएँ, मिस्र के पिरामिड, चीन की दीवार, इत्यादि आज भी आधार स्तम्भ हैं।

वर्तमान विश्व में विज्ञान का बोलबाला भी श्रम के महत्त्व को चतुर्दिक् प्रसारित कर रहा है, क्योंकि श्रम का सम्बल लेकर ही मानव चन्द्रमा पर पहुँचा है।

ऋग्वेद में श्रम और श्रमिक का महत्त्व स्वीकार करते हुए उल्लेख किया गया है कि जब मनुष्य श्रम करके अपने को थकाकर चूर-चूर कर लेता है, देवता तभी उससे प्यार करते हैं। जैसा कि ऋक् १। १७९। ३ में कहा है—

न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवा विश्वा इत्स्पृधो अभ्यश्नवाव।
जयावेदत्र शतनीथमाजिं यत्सम्यञ्चा मिथुनावभ्यजाव॥

(दम्पती कहते हैं) यह बात झूठी नहीं है कि देवता श्रम करके थके हुए को बहुत प्यार करते हैं और उसकी रक्षा करते हैं। (आओ हम दोनों) सभी स्पर्धा करनेवालों को व्याप्त कर लें, अर्थात् हम स्पर्धनीय पदार्थों को प्राप्त कर लें, हम ऐसे साम्मुख्यों में जहाँ सैकड़ों चले आते हैं, विजय पायेंगे यदि परस्पर अनुराग से मिलकर आगे बढ़ेंगे। पराक्रमी मनुष्य श्रम के अन्वेषण में भूमि के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चक्र लगा आते हैं, ऐसे ही मनुष्य समाज में पुरस्कृत होते हैं। इसकी चर्चा ऋग्वेद १०। ११४। १० में की गई है—

भूम्या अन्तं पर्येके चरन्ति रथस्य धूर्षु युक्तासो अस्थुः।
श्रमस्य दायं वि भजन्त्येभ्यो यदा यमो भवति हर्म्ये हितः॥

इस संसार में ऐसे भी पराक्रमी मनुष्य होते हैं, जो हर समय रथ के जुए में जुते होते हैं और श्रम की खोज में भूमि के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चक्कर काट आते हैं। जब यम अपने शुभ आसन पर बैठता है तब लोग इन परिश्रमियों के श्रम का दाय अवश्य देते हैं, अर्थात् पुरस्कृत करते हैं।

२. श्रमहीन की निन्दा—

जब देश में ब्राह्मणवाद का आधिपत्य हुआ, उसने श्रम को चतुर्थ श्रेणी में स्थान दिया, जिससे श्रमिक बेचारा हीनावस्था को प्राप्त हुआ। जब श्रम को गौरवमय स्थान से गिरा दिया गया तब श्रमिक को भी अपमानित जीवन व्यतीत करने के लिए विवश किया गया। चार वर्णवाले ब्राह्मणवाद में तीन

वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य एक स्थान पर रखे गये और केवल शूद्र को इन तीनों से अलग स्थान प्राप्त हुआ तथा इन शूद्रों के भी दो भाग किये गये, एक वे शूद्र जो ग्रामों में स्थान पा सकते थे और दूसरे वे लोग जो ग्रामों से निर्वासित कर दिये गये। उनको जंगलों में शरण लेनी पड़ी। इस व्यवस्था में श्रमिकों का खून चूसनेवाले सूदखोरों को सम्मान प्राप्त था जो कि समाज में कोई भी नवनिर्माण नहीं करते वे केवल सूद से ही विलासितामय जीवनयापन करते हैं।

लेकिन ऋग्वेद में सूदखोरों और दान न देनेवाले पणियों को कठोर दण्ड देने की प्रार्थना इन्द्र से की गई है—

इन्द्रो विश्वान् वेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणींरभि।

—ऋ० ८।६६।१०।

इन्द्र सारे सूदखोरों और पणियों को ताड़ना द्वारा दबाते हैं।

ऋग्वेद में दूसरे के श्रम को हड़प करनेवाले जन को 'अकर्मा दस्यु' कहकर पुकारा गया है। क्योंकि वह दूसरे के श्रम पर पलता है। अपनी नेक कमाई पर विश्वास नहीं रखता। पापवृत्ति होकर मनुष्यता से रहित कार्य करता है। ऐसे नर-पिशाच को ताड़ित करने के लिए इन्द्र से प्रार्थना की गई है[1]।

इस प्रकार ऋग्वेद में श्रमहीन मानव की निन्दा की गई है—

३. देवता क्रियाशील जन को पसन्द करते हैं—

देवता क्रियाशीलजन को पसन्द करते हैं, वे आलसी तन्द्रायुक्त व्यक्ति की कामना नहीं करते, क्योंकि तन्द्रारहित ही व्यक्ति आनन्द का लाभ ले सकता है, जैसे देवता तन्द्रारहित होकर आनन्द को प्राप्त होते हैं, जिसका उल्लेख ऋक् ८।२।१८ में किया गया है—

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। यन्ति प्रमादमतन्द्राः॥

देवजन शुभ कर्म करनेवाले को चाहते हैं, वे सोये पड़े रहनेवाले की स्पृहा नहीं करते, क्योंकि तन्द्रारहित देवजन आनन्द को प्राप्त करते हैं।

४. श्रमशील के देव मित्र होते हैं—

प्रगतिशील जीवन के लिए देवों से मित्रता करना एक आवश्यक गुण है। देवों की मित्रता से व्यक्ति उन सभी वस्तुओं को प्राप्त कर लेता है, जिनकी उसको अपने जीवन में आवश्यकता होती है, जिनका उल्लेख ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर किया गया है। देवों की मित्रता की प्राप्ति भी तभी होती है, जब मनुष्य श्रम करके थक जाता है, जैसा कि ऋक् ४।३३।११ में कहा गया है—

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।

परिश्रम से थके बिना देवता मित्र नहीं होते, जिससे प्रतीत होता है कि जो अपने को परिश्रम से थका लेता है, देवता उसके अवश्य मित्र होते हैं।

१. **अकर्मा दस्यूरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।**
त्वं तस्यामित्रहन् वधर्दासस्य दम्भय॥

—ऋ० १०।२२।८

५. मानव मित्रों से प्रगति—

संस्कृत साहित्य में एक श्रेष्ठ मित्र के विषय में कहा गया है—अच्छा मित्र पाप से हटाकर हित के लिए नियोजित करता है, छिपे रहस्यों को छिपाता है, गुणों को प्रकट करता है, विपत्ति के समय साथ नहीं छोड़ता, समय पड़ने पर आवश्यकतानुसार सहायता देता है[१]। इन लक्षणों से युक्त मित्र जब मिलकर कार्य करेंगे तब उनकी प्रगति अवश्य ही होगी।

ऋग्वेद ८।२४।१९ में एक मित्र दूसरे मित्र को प्रेरित करते हुए कह रहा है—कि आओ मित्रो हम सब उसकी स्तुति करें जो सभी का उपास्य है।

एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम्।
कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत्॥

मित्रो आप लोग आओ न भला, स्तुति योग्य नर की हम स्तुति करें। जो समस्त मनुष्यों के प्रति एक अद्वितीय समानरूप से इन्द्रोपास्य हैं।

मित्र जब अधिक होंगे तब हम और अधिक उत्साह से प्रगति कर सकेंगे। इसलिए ऋक् ७।३२।२५ में इन्द्र से मित्र वृद्धि की प्रार्थना की गई है—

अस्माकं बोध्यविता महाधने भवावृधः सखीनाम्।

(जीवन) संग्राम में हम सब का रक्षक हो, हमें चेताता रह और हमारे मित्रों को बढ़ानेवाला हो।

ऋग्वेद में मित्रों के विषय में कहा गया है कि मित्रों से मित्र स्तुत्य हो[२] और मित्रों से मित्र रक्षित हो[३], मित्र अपने मित्र की बात भंग न करे[४], सभी मित्र ऐश्वर्ययुक्त और पापशून्य हों[५]। तभी जीवन में प्रगति कर सकेंगे। ऋक् ९।१०४ में कहा है, मित्र दूसरे मित्र को मार्ग बतानेवाला हो[६]। इन गुणोंवाले मित्र को छोड़ने से प्रगतिशील जीवन में हानि होती है। इसका भी उल्लेख ऋग्वेद १०।७१।६ में किया गया है—जो व्यक्ति अपने जीवन में अपने विद्वान् मित्र को छोड़ देता है, उसकी वाणी में कोई फल नहीं है। वह जो कुछ सुनता है, व्यर्थ ही सुनता है, वह सुकृत का पथ नहीं जान सकता[७]।

अच्छे मित्रों से प्रगति होती है और जीवन में आनन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार का उल्लेख ऋग्वेद ७।७१।१० में किया गया है—सभी मित्र यज्ञोपलब्ध

---

१. **पापान्निवारयति योजयते हिताय, गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटीकरोति।**
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले, सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥
—नी०श० ७२।

२. **सखा सखिभ्य ईड्यः।** —ऋ० ९।६६।१।

३. **सखा सखिभ्य ऊतये।** —ऋ० ९।६६।४।

४. **सखा सख्युर्न प्रमिनाति संगिरम्।** —ऋ० ९।८६।१६।

५. **मित्राः सुवाना अरेपसः।** —ऋ० ९।१०१।१०।

६. **सखेव सख्ये गातुवित्तमो भव।** —ऋ० ९।१०४।५।

७. **यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।**
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥
यह मन्त्र श्रुति के लिए प्रयुक्त हुआ है, परन्तु मित्र के सभी लक्षणों से युक्त है।

तथा बड़ी-बड़ी सभाओं को अपने प्रभाव से वश में करनेवाले मित्र को पाकर प्रसन्न होते हैं, वह इन मित्रों के मध्य में अन्नदाता पापाचरण का नाशक होकर वाणी का स्वामी होने के लिए समर्थ होता है[1]।

(क) मित्रों से मिलकर उद्योग करने से प्रगति होती है—

प्रगतिशील जीवन के लिए यह भी आवश्यक प्रतीत होता है कि मित्र आपस में मिलकर कार्य करें, जिससे प्रगति शीघ्र हो सके। ऋग्वेद १०।१०३।६ में कहा गया है—कि 'मित्रो इन्द्र के अनुकूल मिलकर उद्योग करो।' सखा लोगो उठो, कठिन मार्ग को पार करो, अश्रेष्ठ का त्याग और श्रेष्ठ का ग्रहण करके आगे बढ़ो। इस प्रकार का उल्लेख ऋग्वेद १०।५३।८ में किया गया है—

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान् वयमुत्तरेमाभिवाजान्॥

पथरीली नदी बह रही है, मित्रो उठो, मिलकर उद्योग करो और उसे तैर जाओ। अकल्याणकारी पदार्थों को यहीं छोड़ दो और कल्याणकारी या सुखकारी अन्न आदि पदार्थों को लेकर हम पार जायें। अथर्ववेद में यह मन्त्र कुछ भेद के साथ आया है।

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभिवाजान्॥

—अथर्व० १२।२।२६

ऊपर का एक चरण ऋग्वेद के समान ही है, परन्तु शेष तीन चरणों में अन्तर है, जिसका अर्थ होगा, पथरीली नदी बह रही है, मित्रो वीरतापूर्वक उसे पार करो। जो खोटी चालें हैं, उनको यहीं छोड़ दें और रोगरहित अन्नादि पदार्थों को लेकर हम पार जायें।

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों पर विचार करने से यही भाव निकलता है कि प्रगति के लिए समान ख्यातिवाले मित्र जो अच्छी प्रकार से कुशल हों, जीवन-संघर्ष में आनेवाली बाधाओं का उनको अनुभव हो, उनका जीवन दुराचार से रहित और सदाचार से युक्त हो। इस प्रकार के मित्र वर्ग ही जीवन को प्रगतिशील बना सकेंगे।

(ख) प्रगति के लिए समान मनवाले मित्र हों—

प्रगतिशील जीवन के लिए समान मनवाला होना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि विना समत्व के कोई भी व्यापार करना सम्भव नहीं होता[2]। ऋग्वेद में इसी बात को बड़ी दृढ़ता के साथ कहा गया है कि समान मनवाले मित्रो सचेत हो जाओ और सभी एक स्थान पर रहकर समान उद्देश्य के लिए आगे बढ़ो[3]। प्रगतिशील जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का निर्माण हो जिनका

---

१. **सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।**
किल्विषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय॥ —ऋ० १०।७१।१०

२. **यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते।** —यजु० ३४।३

३. **उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः समग्निमिन्ध्वं बहवः सनीळाः।** —ऋ० १०।१०१।१

उल्लेख ऋग्वेद १०।१०१।२ में किया गया है—

मन्द्रा कृणुध्वं धिय आ तनुध्वं नावमरित्रपरणीं कृणुध्वम्।
इष्कृणुध्वमायुधारं कृणुध्वं प्राञ्चं यज्ञं प्रणयता सखायः॥

हे मित्रो हर्ष आनन्दजनक कर्मों को करो, उत्तम कर्म और ज्ञान का विस्तार करो—'अरत्रीपरणीं नावं कृणुध्वम्' चप्पू द्वारा पार ले-जाने योग्य नौका को बनाओ। 'आयुधा इष् कृणुध्वम्' नाना अस्त्र-शस्त्रों को बनाओ, 'अरं कृणुध्वम्' बहुत मात्रा में बनाओ 'यज्ञं प्राञ्चं प्रणयत' यज्ञ का अनुष्ठान करो।

उपर्युक्त मन्त्र में उन सभी वस्तुओं के निर्माण का संकेत किया गया है, जिनकी प्रगतिशील जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यकता होती है।

(१) प्रगति के लिए मन की प्रसन्नता चाहिए, जिससे कार्य करने में उत्साह होता है, उत्साह श्रम को आगे बढ़ाने में बहुत सहायक होता है।

(२) जो श्रम किया जा रहा है, वह ज्ञान से युक्त हो, अर्थात् उसमें बुद्धि तत्त्व का भी विशेष सहयोग हो, जिससे कार्य में सुचारु रूपता एवं प्रतिभा का साक्षात्कार हो सके।

(३) उन कार्यों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए, जो सर्वसामान्य के लिए आवश्यक हों, उसके लिए 'नाव' एवम् 'आयुधों' का नाम प्रतीक मात्र है, जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि—अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं का निर्माण करो जिनसे प्रगतिशील जीवन निर्बाध गति से चल सके।

(४) रक्षात्मक सामग्री के निर्माण की ओर ध्यानाकर्षित किया गया है और उसके निर्माण में अधिकता का वर्णन भी इसी मन्त्र में किया गया है। यदि उनके प्रयोग करने की आवश्यकता पड़े तब ऐसा न हो कि वह बीच में ही समाप्त हो जाए। अतः शस्त्रास्त्र का निर्माण भी प्रभूत मात्रा में होना चाहिए।

(५) इन सब के साथ-साथ हमारे मेल-मिलाप धार्मिक अनुष्ठान भी होते रहने चाहिए, जिससे सब समान मनवाले होकर सखित्व भाव से जीवनयापन कर सकें।

६. प्रगतिशील जीवन के बाधक तत्त्व—

प्रगति वहाँ पर रुक जाती है, जहाँ जीवन अपराध से युक्त हो जाता है। नैतिक जीवन या प्रगतिशील जीवन के लिए निरपराध, निष्पाप और अनिन्द्य होना परम आवश्यक है। इसलिए ऋग्वेद में निष्पाप होने की प्रार्थनाएँ अनेक बार की गई हैं। हम निन्दा को प्राप्त न हों, इस प्रकार का भी उल्लेख ऋग्वेद में पाया जाता है।

पापयुक्त या अपराधी जीवन हो जाने पर उसका समाज में सम्मान नहीं होता। इसके विपरीत उसकी सभ्य समाज में निन्दा होने लगती है। उसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है, वह समाज में सम्माननीय जनों से सम्पर्क स्थापित नहीं कर पाता, जिसके कारण उसका जीवन ग्लानियुक्त हो जाता है। ग्लानि एक मानसिक विचार है, जो मनुष्य के जीवन के लिए अभिशाप बन जाता है, जिससे आगे बढ़ने का उसका उत्साह मन्द पड़ जाता है, बुद्धि में

विकृति आ जाती है, इसलिए निरपराध, निष्पाप और निन्दारहित होना प्रगतिशील जीवन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

'धर्मशास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ में ऋग्वेद के पाप या अपराधवाची शब्दों का उल्लेख करते हुए कहा है—ऋग्वेद में पातक या अपराध के विषय में अत्यधिक सचेतता पाई गई है और देवों से विशेषतः वरुण एवं आदित्यों से क्षमा–याचना करते हैं और पातक के फल से छुटकारा पाने के लिए प्रार्थना करते हैं। इस विषय में उनके शब्द हैं—आगस्, एनस्, अघ, दुरित, दुष्कृत, द्रुग्ध, अंहस्, अत्यधिक प्रयुक्त शब्द हैं। पापास् एवं एनस् शब्दों को अधिक गम्भीर एवं नैतिक अर्थ में लिया गया है[१]।

(क) अपराध या पापवाची शब्द—

ऋग्वेद में अपराध या पापवाची शब्द—

(अ) १. आगस्, २. एनस्, ३. एनस्वन्तः।

(आ) १. अघ, २. दुरित, ३. दुष्कृत, ४. द्रुग्ध, ५. पापास्, ६. अंहस्।

(अ) आगस्, एनस्—

ऋग्वेद में आगस् शब्द पाप या अपराध के अर्थ में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। अधिकतर यह शब्द वरुण या आदित्य से अपराध शिथिल करने या अनागस् निष्पाप करने के लिए प्रयुक्त हुआ है।

ऋग्वेद ५।८५।७ में वरुण से प्रार्थना की गई है—

हे वरुण, जो हमने अर्यमा, मित्र, सखा, सदैव हितकर्ता भ्राता, पड़ौसी और अदाता के प्रति कभी अपराध किया हो, उसको आप निरन्तर शिथिल करो[२]। ऋक् ७।८७।७ में वरुण की दयालुता का उल्लेख करते हुए निरपराध होने की प्रार्थना की है, जो वरुण अपराधियों के लिए भी दया करता है, उस वरुण के अधीन रहकर हम निष्पाप या निरपराध होकर रहें[३]। ऋक् ७।९३।७ में देवों से प्रार्थना की गई है—हम जो अपराध मन, वचन, कर्म से करें उससे हमको रक्षित करो। अर्यमा, अदिति, वरुण, मित्र आदि उस अपराध या पाप को हमसे अलग करें[४]।

ऋग्वेद में सूर्य से निरपराध या निष्पाप होने की प्रार्थना की है—

विश्वाहा त्वा सुमनसः सुचक्षसः प्रजावन्तो अनमीवा अनागसः।
उद्यन्तं त्वा मित्रमहो दिवेदिवे ज्योग्जीवाः प्रति पश्येम सूर्य॥

—ऋ० १०।३७।७

हे सूर्य, हम सदा सुमनवाले, शोभन–दर्शन शक्तिवाले, प्रजा से युक्त, रोगरहित, निष्पाप हों। हे मित्रमह, हम तुझे प्रति दिन उगते हुए देखें और चिरकाल तक जीवित रहते हुए प्रत्यक्ष दर्शन करें। ऋक् १।१८५।८ में

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास—भाग २ पृ० १०१७।

२. **अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद् भ्रातरं वा।**
वेशं वा नित्यं वरुणारणं वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत्॥ —५।८५।७

३. **यो मृळयाति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागाः।**

४. **यत्सीमागश्चकृमा तत् सु मृळ तदर्यमादितिः शिश्रथन्तु॥**

द्यावापृथिवी से निष्पाप या निरपराध होने की प्रार्थना की है। हे द्यावापृथिवी हमने देवों के प्रति सदा जो अपराध किये हैं, प्रिय मित्र और (जास्पतिं) दम्पती या दामाद के प्रति कलहरूप अपराध किया है, उन सब को दूर करने की यह हमारी बुद्धि या कर्म हों, द्यावापृथिवी हमारी रक्षा करें[1]। अदिति हमें निष्पाप करें[2]।

ऋग्वेद में पाप या अपराध वाची 'आगस्' शब्द १९ बार और यही शब्द नञ् समास से युक्त २० बीस बार तथा अनागस्त्व ७ बार और इसी अर्थ में 'अनागा' भी ७ बार प्रयुक्त हुआ है।

(२) एनस्—

ऋग्वेद में एनस् शब्द अपराध या पाप अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—ऋक् ७।८६।३ में वरुण से अपराध या पाप पूछने का उल्लेख हुआ है। हे वरुण, मैं दर्शनाभिलाषी होकर आपसे यह पाप पूछता हूँ, जिसके कारण मैं यहाँ बँधा हूँ। मैं ज्ञानी पुरुषों से भी पूछता रहता हूँ, उन सब का समान कथन यह है कि यह वरुण तुम से रुष्ट है[3]। ऋक् ७।८९।५ में वरुण से पाप कर्म की क्षमा-याचना की है—हे वरुणदेव, विद्वानों के समूह में रहकर मनुष्य होने के कारण हम अभिद्रोहरूप पाप या अपराध करते हैं और अज्ञानतावश तेरे धारण करने योग्य नियमों को तोड़ते हैं। उस अपराध या पाप से हमें पीड़ित न कर[4]। ऋग्वेद ७।२०।१ में इन्द्र से प्रार्थना है कि युवा इन्द्र सभास्थान को प्राप्त होकर हमें अपनी रक्षाओं के द्वारा महापाप से रक्षित करें[5]।

प्रगतिशील जीवन के लिए जहाँ शारीरिक नीरोगता का होना आवश्यक है, वहाँ निष्पाप भी होना चाहिए। इसी भावना का उल्लेख ऋक् ६।७४।३ में किया गया है—

सोमा रुद्रा युवमेतान्यस्मे विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम्।
अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो अस्ति तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत्॥

हे सोम और रुद्र, आप दोनों हमारे शरीरों में इन सब (प्रसिद्ध) ओषधियों को धारण करो जिससे हम सदा स्वस्थ रहें। हमारे शरीरों में हमारे द्वारा किया हुआ पाप बँधा हुआ है, उसके बन्धन को शिथिल करो और हम से अलग कर दो। ऋक् १।१८९।१ में अग्नि से प्रार्थना है—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणम् एनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम्॥

---

१. **देवान् वा यच्चकृमा कच्चिदागः सखायं वा सदमिज्जास्पतिं वा।**
इयं धीर्भूया अवयानमेषां द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ —ऋ० १।१८५।८

२. **अनागास्त्वं नो अदितिः कृणोतु।** —ऋ० १।१६२।२२

३. **पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम्।**
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते॥ —ऋ० ७।८६।३

४. **यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि।**
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः॥

५. **जग्मिर्युवा नृषदनमवोभिस्त्राता न इन्द्र एनसो महश्चित्।**
'जग्मिः=गन्ता' —सा०भा०

हे अग्ने, हमें ऐश्वर्य के लिए सुपथ से ले चल, हे देव तुम सभी कुछ जाननेवाले विद्वान् हो। आप हम से कुटिलतायुक्त पापरूप कर्म को दूर करो, जिससे हम तुम्हारी बहुत-बहुत स्तुति कर सकें।

प्रगतिशील या नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है कि उसका धन श्रेष्ठ मार्गों से आया हो, उसके अर्जन में उसने भ्रष्ट मार्गों का सहारा न लिया हो। उसका जीवन सरल और निष्पाप हो, कुटिल एवं पापमय न हो तथा उसका जीवन धार्मिक हो, इन सभी बातों की ओर उपर्युक्त मन्त्र संकेत कर रहा है।

हम दूसरे के द्वारा किये पाप के भागी न बनें और नियम विरुद्ध कार्य न करें, इसका उल्लेख ऋ० ७।५२।२ में किया गया है—

मा वो भुजेमान्यजातमेनो मा तत्कर्म वसवो यच्चयध्वे।

हे देवो, हम अन्य के द्वारा किये हुए पाप के भागी न बनें और हे वसुओ! तुम्हारे अप्रिय कर्म को हम न करें।

(३) एनस्वन्तः—

ऋग्वेद में 'एनस्वत्' शब्द भी पापवाची है, जिसका प्रयोग दो बार हुआ है। ऋ० ७।८८।६ में वरुण से प्रार्थना है—हे यजनीय वरुण! हम तेरे पाप से युक्त भोग न करें अपितु तुम्हारी कृपा से पापरहित होकर भोगों का उपभोग करें[१]।

(आ) १. अघ, २. अघशंस, ३. दुरित, ४. दुष्कृत, ५. द्रूग्ध—

१. अघ, २. अघशंस—ऋग्वेद में अघ शब्द का अर्थ पाप या अपराध है, इसका प्रयोग लगभग ३० बार हुआ है, जिससे अलग रहने एवं देवों से प्रार्थना की गई है कि हमें उससे बचाओ। इसी प्रकार 'अघशंस' शब्द का अर्थ पाप प्रशंसक है, जिसका प्रयोग ऋग्वेद में १५ बार हुआ है। ऐसे व्यक्ति को दण्डित करने एवम् उससे रक्षा करने की प्रार्थना की गई है—

ऋग्वेद २।२९।५ में देवों से प्रार्थना की गई है, हे देवो! तुम्हारे पाश हमसे दूर रहें, पाप हम से दूर रहें[२]।

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के ९७वें सूक्त में अग्नि से प्रार्थना की है—

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम्। अप नः शोशुचदघम्॥

हे अग्निदेव! हमारे पाप को नष्ट करो और हमारे धन को सभी ओर से प्रकाशित करो, हमारे पाप को नष्ट करो।

उल्लेखनीय बात यह है कि अग्नि के इस सूक्त में ८ मन्त्र हैं, जिनमें नौ बार 'अप नः शोशुचदघम्' यह भाग आया है। प्रथम मन्त्र में दो बार प्रयुक्त हुआ है और अन्त में सभी मन्त्रों में आया है, जिससे यह स्पष्टरूप से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद का उपासक पापकर्म से कितना सावधान है। वह पाप और पापी से घृणा करता है, इसलिए उससे दूर रहना चाहता है।

---

१. **हे यक्षिन् यजनीय वरुण ते तव स्वभूता वयं, एनस्वन्तः=एनसा पापेन युक्ताः सन्तः मा भुजेम=भुञ्ज्महि त्वत्प्रसादात् पापरहिता एव सन्तो भोगान् भुनजामहै।**
—सा०भा०

२. **आरे पाशा आरे अघानि।** —ऋ० २।२९।५

३. दुरित—ऋग्वेद में दुरित शब्द का अर्थ पाप या अपराध है, जिसका प्रयोग लगभग ६० बार हुआ है। ऋक् १।९९।१ में अग्नि से प्रार्थना करते हुए कहा गया है—

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः॥

हम लोग जातवेद के लिए सोम का सवन करें वह शत्रुता का आचरण करनेवाले के धन को सर्वथा भस्म करता है। वह हमें दुर्गुणों और दुरित रूप पापों से ऐसे ही पार कर दे जैसे नाव से नदी पार की जाती है।

ऋक् १।२३।२२ में आपः या जलों से प्रार्थना की है कि हे आपः (जलो) हम में जो दुरित रूप पाप है उसको बहा दो[१], ऋक् १।१८५।१० में द्यावापृथिवी को पिता-माता मानते हुए उनसे पाप से रक्षा के लिए प्रार्थना की है, पिता-माता आप दोनों परस्पर संयुक्त होकर 'अवद्यात् दुरितात्' निन्दनीय पाप से अपने रक्षण साधनों द्वारा रक्षित करो[२]।

४. दुष्कृत—ऋग्वेद में 'दुष्कृत' शब्द का अर्थ 'पाप' है, जिसका उल्लेख अनेक स्थानों पर किया गया है। ऋक् ८।४७।१३ में कहा है, हे देव! आदित्यो जो पाप प्रकट है और जो पाप छिपा हुआ है, उस को हम से दूर रखो[३]। इसी प्रकार ऋक् १०।१६४।३ में उल्लेख किया गया है, अग्नि सम्पूर्ण पाप कर्म और जो असेवनीय कर्म हैं, उनको हमसे दूर करें[४]।

५. द्रुग्धम्—ऋग्वेद में 'द्रुग्धम्' शब्द भी 'पाप या द्रोह' रूप अपराध के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽव या वयं चकृमा तनूभिः।
अव राजन्पशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम्॥

—ऋ० ७।८६।५।

हे वरुण, जो पाप या द्रोहरूप अपराध पैतृक है और हमने जो पाप अपने शरीरों से किये हैं, उन सब को शिथिल करो, हे राजन् जिस प्रकार पशु को तृप्त करनेवाला चोर बछड़े को रस्सी से खोलता है, इसी प्रकार मुझ वसिष्ठ को पाप के बन्धन से खोल दो।

(इ) अंहति, रपः—

ऋग्वेद में अंहति और रपः शब्द भी पाप अर्थ में अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुए हैं।

ऋग्वेद ८।६७।२ में देवों से प्रार्थना है—

मित्र वरुण, अर्यमा और आदित्यगण जैसा उचित समझें हमें पाप से पार करें[५]। ऋक् १०।६०।११ में कामना की है—

---

१. **इदमापः प्रवहत यत् किञ्च दुरितं मयि।**
२. **पातामवद्याद्दुरितादभीके पिता माता च रक्षतामवोभिः।**
३. **यदाविर्यदपीच्यं देवासो अस्ति दुष्कृतम्।**
४. **अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद्दधातु॥**
५. **मित्रो नो अत्यंहतिं वरुण पर्षदर्यमा। आदित्यासो यथाविदुः॥**

न्यग्वातोऽव वाति न्यक् तपति सूर्यः।
नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग्भवतु ते रपः॥ —ऋ० १०।६०।११

वायु, द्युलोक से नीचे बहती है, सूर्य नीचे होकर तपता है, अहिंसनीया गौ नीचे होकर दुहाती है, इसी प्रकार तेरा पाप नीचे हो, अर्थात् तुझ से अलग हो जाय।

ऋग्वेद में 'अंहति' और 'रपः' दोनों एक ही मन्त्र में भी प्रयुक्त हुए हैं—

वि षु द्वेषो व्यंहतिमादित्यासो वि संहितम्। विष्वगवि बृहता रपः॥
—८।६७।२१

हे आदित्य देवो! द्वेषियों और पातक को समूल नष्ट करो, बन्धन तथा पाप को सभी ओर से विनष्ट करो।

(ई) पापास्, पाप—

ऋग्वेद में 'पापास्' और 'पाप' ये दोनों शब्द पापी अर्थ में अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुए हैं।

ऋग्वेद ८।६१।११ में कहा है कि हम पापी होकर विचार न करें—'न पापासो मनामहे'। ऋ० ४।५।५ में कहा है—**'पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्'।** (व्यन्तः इधर-उधर घूमनेवाले) असत्य और अनृत करनेवाले पापीजनों ने गहन पद[१] (नरक स्थान) को उत्पन्न किया है।

ऋग्वेद १०।१०।१२ में यम-यमी सूक्त में यम ने कहा है—

न वा उ ते तन्वा तन्वं सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।

हे यमि! तेरे शरीर के साथ अपने शरीर को संयुक्त नहीं करता हूँ, (क्योंकि) जो भाई भगिनी का संग करता है, उसको पापी कहते हैं।

ऋग्वेद के अभी तक किये गये उल्लेख से यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है कि अपराध और पाप की भावना इनमें स्पष्ट है। जिसकी पुष्टि भारतरत्न पी०वी० काणे ने अपने 'धर्मशास्त्र का इतिहास' में की है। उनका कथन है कि ऋग्वैदिक काल में पाप एवम् अपराध की भावना भली-भाँति उत्पन्न हो गई थी, तथापि कुछ योरोपीय विद्वानों ने ऐसा नहीं माना है, किन्तु प्रसिद्ध विद्वान् एवं यशस्वी लेखक मैक्समूलर ने उनको मुँहतोड़ उत्तर दिया है—'अपराध की भावना का क्रमिक विकास उन मनोरम उपदेशों में मिलता है, जिन्हें इन प्राचीन मन्त्रों के कुछ वचन हमें देते हैं[२]।'

पाप एवम् अपराध मानव को प्रगति करने के लिए क्या बाधा उपस्थित कर देते हैं, इसका उल्लेख ऋग्वेद में बछड़े और रस्सी की उपमा से किया

---

१. **पदम्—नरकस्थानम्।** —सा०भा०
नरकं न्यरकं नीचैर्गमनं नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा। —निरुक्त १।११

२. धर्मशास्त्र का इतिहास—पृ० १०१८।
सेक्रेट बुक ऑफ दि ईस्ट—जिल्द १ पृ० २२।
(धर्मशास्त्र के इतिहास पृ० १०१८ पर उद्धृत)

गया है। जैसे बछड़ा रस्सी से बँधा हुआ स्वतन्त्रतापूर्वक आगे नहीं बढ़ सकता, जब आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है तभी उसके गले में बँधी रस्सी उसको आगे बढ़ने से रोकती है। वह कितना भी प्रयत्न करे, आगे नहीं बढ़ सकता। उसी प्रकार पाप एवम् अपराधयुक्त मानव भी अनेक प्रकार के प्रयत्न करने पर भी प्रगति के पथ पर नहीं बढ़ सकता। इसको ऋक् २।२८।६ में स्पष्टरूप से कहा गया है—

अपो सु म्यक्ष वरुण भियसं मत्सम्राळृतावोऽनु मा गृभाय।
दामेव वत्साद्वि मुमुग्ध्यंहो नहि त्वदारे निमिषश्चनेशे॥

हे सत्यवान्, सम्राट् वरुण, मुझ से भय दूर करो, मुझ पर अनुग्रह करो, बछड़े को जैसे दुग्धदोहन करनेवाला रस्सी को खोलकर अलग कर देता है, वैसे पापरूप बन्धन को मुझ से अलग कर दो। तेरे विना मेरा क्षणमात्र के लिए भी कोई स्वामी नहीं है[1]। इसी भाव को ऋक् २।२८।५ में कहा है—**'वि मच्छ्रथाय रशनामिवागः'**—

हे वरुण, मेरे पाप ने मुझे रस्सी की तरह बाँध रखा है, उससे मुझ को छुड़ाओ। ऋक् ६।७४।३ में कहा है—

'अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो अस्ति तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत्।'

(ख) निन्दा—

प्रगतिशील जीवन के लिए निन्दायुक्त होना भी प्रगति में बाधा पहुँचाता है। इसीलिए अनेक स्थानों पर निन्दा करनेवाले को कठोर दण्ड देने की प्रार्थना तथा उनसे बचने की कामना की गई है।

ऋग्वेद में इन्द्र को 'अभिशस्तिहा' निन्दक नाशक कहा है[2]। और सरस्वती से प्रार्थना की गई है कि निन्दक से हमारी रक्षा करो[3]। ऋक् १।१२९।६ में इन्द्र से प्रार्थना है—इन्द्र स्वयं हमारे निन्दक, दुर्बुद्धि के वध का उपाय उत्पन्न करके दूर करें[4]। ऋग्वेद ७।३१।५ में इन्द्र से यह कामना की गई है कि हे स्वामी इन्द्र! जो (हमारी) निन्दा करता है, कठोर वचन बोलता है और दान नहीं देता उसके वश में हमें नहीं करना[5]। हम निन्दक का अतिक्रमण करें—**'अतियाम निदस्तिरः'** ऋ० ५।५३।१४। हम निन्दनीय कार्यों को छोड़कर प्रगति करें। **'हित्वावद्यम्'** ऋ० ५।५३।१४।

ऋग्वेद में सोम और इन्द्र से प्रार्थना की है—हे इन्द्र और सोम, समस्त अन्धकार और निन्दकों को नष्ट करो—**'विश्वा तमांस्यहतं निदश्च'**—ऋ० ६।७२।१। सोम से ऋग्वेद[6] ९।७९।५ में प्रार्थना की है—हे पवमान (सोम)

---

१. **अपो म्यक्ष=अपगमय, ऋतावः, सत्यवन्।** —सायण भाष्य
२. ऋ० ७।९९।५।
३. **सरस्वती निदस्पातु।** —ऋ० ६।९१।११
४. **स्वयं सो अस्मदा निदो वधैरजेत दुर्मतिम्।**
५. **मा नो निदे च वक्तवेऽर्यो रन्धीरराव्णे।** —ऋ० ७।३१।५
६. **निदं निदं पवमान नि तारिष।** —ऋ० ९।७९।५

प्रत्येक निन्दाकारी कर्म का नाश कर[१]। ऋक् ४।४।१५ में अग्नि से प्रार्थना है—हे मित्रमह अग्ने! द्रोही और निन्दकों के परिवाद से हमारी रक्षा कर।[२] इन्द्र और अग्नि से प्रार्थना है कि हमें निन्दक के वश में मत कर।

निन्दा के साथ-साथ कुछ और भी प्रगति बाधक तत्त्व हैं, जिनका भी उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है—

मा नो अग्नेऽमतये मावीरतायै रीरधः।
मागोतायै सहसस्पुत्र मा निदेऽप द्वेषांस्या कृधि॥ ३।१६।५

हे अग्निदेव, हमें दरिद्रता, अपुत्रता, गौ, अश्वादि पशु, सम्पत्ति की हीनता के लिए विषयभूत न कर और हे सहसपुत्र बलशाली हमें निन्दा का विषय मत बना तथा तू हमारे द्वेषयुक्त कार्यों को दूर कर (जिससे हम प्रेमयुक्त होकर प्रगति करें)।

७. प्रगतिशील जीवन का स्पष्ट उल्लेख—

प्रगतिशील जीवन में अवरुद्धता उत्पन्न करनेवाले तत्त्वों का उल्लेख किया जा चुका है। अब हम उन तत्त्वों का उल्लेख करेंगे, जिनसे प्रगतिशील जीवन स्पष्ट प्रतीत होता है। जो निम्नलिखित हैं—

(अ) सुकृत (पुण्यकर्मा), (आ) यशस्वी होना, (इ) आदान-प्रदान, (ई) अदीनता, (उ) उत्साह, (ऊ) अनृणी होना, (ए) स्वावलम्बन-भावना, (ऐ) आमोद-प्रमोद तथा दीर्घजीवन की कामना।

(अ) सुकृत—

ऋग्वेद में 'सुकृत्' और 'सुकृतः[३]' दोनों शब्द लगभग ६५ बार प्रयुक्त हुए हैं। जिनका अर्थ श्रेष्ठ कार्य या पुण्य कार्य हैं, जो इनको करता है वह सुकर्मा या पुण्यकर्मा कहलाता है।

यह स्मरणीय बात है कि ऋग्वेद में दुष्कृत आदि शब्दों से होनेवाले व्यवहारों से 'घृणा' व्यक्त की गई है, जैसा कि पहले कहा गया है, लेकिन सुकृत् या सुकृत से होनेवाले व्यवहारों की कामना व्यक्त की गई है।

ऋग्वेद ५।४।११ में अग्नि से प्रार्थना की गई है—

यस्मै त्वं सुकृते जातवेद उ लोकमग्ने कृणवः स्योनम्।
अश्विनं स पुत्रिणं वीरवन्तं गोमन्तं रयिं नशते स्वस्ति॥

हे जातवेद अग्नि, तू जिस सुकर्म करनेवाले के लिए लोक (स्थान) सुखयुक्त किया, वह बहुत घोड़ों से, पुत्रों से, वीरों से, गौओं से युक्त अविनाशी धन को प्राप्त करता है।

ऋक् ७।३५।४ में शान्ति या सुख की कामना करते हुए कहा है—

---

१. **पाह्यस्मान् द्रुहो निदो मित्रमहो अवद्यात्।**
२. **मानो रीरधतं निदे—**
मा रीरधतं=मा वशी कुरुतम्। —सा०भा०।
३. 'सुकृतः' अकारान्त शब्द अधिकतर देवों के लिए ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है।

पुण्य कर्म करनेवाले पुरुषों के पुण्य कर्म भी हमारी शान्ति के लिए हों[१], ऋक् १०।१७।७ में कहा है कि पुण्यकर्म करनेवाले सरस्वती को फल प्रदान के लिए पुकारते हैं[२]। ऋग्वेद १०।१७।४ में सविता से प्रार्थना की गई है—

यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु।

सुकृत (पुण्य कर्म) करनेवाले जिस स्थान पर रहते हैं, अथवा जहाँ पर उन्होंने स्थान प्राप्त कर लिया है, उस स्थान पर देव सविता तुझ को धारण करे[३]। इसी प्रकार अग्नि से भी प्रार्थना की गई है—

यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्।

—ऋ० १०।१६।४

सुकृत और दुष्कृत

ऋग्वेद नवम मण्डल के ७३वें सूक्त में सुकृत और दुष्कृत का भेद स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि दुष्कर्म या पापकर्म करनेवाले सत्य का पथ पार नहीं कर सकते।

'ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः' —ऋ० ९।७३।६

लेकिन सत्य की नौकाएँ सुकर्मा या पुण्यकर्मा लोगों को पार करती हैं—**'सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्'** —ऋ० ९।७३।१

अश्विनौ उषस् आदि देवता सुकर्मा के घर अन्नादि के साथ आते हैं[४]। ऋक् ५।४।८ में यह कामना की गई है कि हम मनुष्यों में ही नहीं, अपितु देवों में भी सुकर्म करनेवाले हों—**'वयं देवेषु सुकृतः स्याम'**—इस प्रकार ऋग्वेद के अनेक स्थानों पर सुकृत के विषय में अभिलाषाएँ की गई हैं, जो कि प्रगतिशील जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

(आ) यशस्वी होना—

ऋग्वेद में 'यशस, यशसम्' शब्द अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुए हैं, जिसका अर्थ अन्न, बल या यश अथवा कीर्ति किया गया है, लेकिन ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि अन्न बल की अपेक्षा यश अर्थ अधिक स्थानों पर हुआ है।

ऋग्वेद में स्वयं यशस्वी होना, यशस्वी पुत्र एवं यश से युक्त धन-धान्य की कामना की गई है। ऋक् ४।५१।११ में कहा है—हम अपने समान यशवाले मनुष्यों के मध्य में कीर्ति और अन्न के स्वामी हों[५]। ऋक् १०।६४।११

---

१. **सुकृतां पुण्यकर्मणां पुरुषाणां, सुकृतानि, पुण्यकर्माण्यपि नः अस्माकं शं शान्त्यै सन्तु भवन्तु।** —सा०भा०

२. **सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त।**

३. **सुकृतः पुण्यकर्मणा यत्र यस्मिन् देशे आसते=तिष्ठन्ति, यत्र वा सुकृतः ययुः प्राप्ताः तत्र तस्मिन् स्थाने देवः सविता त्वा=त्वां निदधातु।** —सा०भा०

४. **येन गच्छथः सुकृतो दुरोणम्।** ऋ०—१।११७।२ तथा ४।१३।१

५. **वयं स्याम यशसो जनेषु।**
वयं स्तुवन्तः जनेषु अस्मत्समानेषु मध्ये यशसा कीर्तेः अन्नस्य वा स्वामिनः स्याम। —सा०भा०

में उल्लेख हुआ है कि हम मनुष्यों में गौओं के साथ यशस्वी हों[1]। ऋक् १।६१।२२ में सोम से प्रार्थना है—हे सोम! हम को जनपदों में यशस्वी करो[2]। ऋक् ८।१०२।८ में अग्नि से प्रार्थना की गई है, हे अग्ने! हम प्रज्ञा से युक्तयशवाले हों[3]।

ऋग्वेद ७।७५।२ में उषस् से धनयुक्त पुत्र की कामना की गई है, मनुष्यों की हितसाधिका, हे उषस् हम को अनेक गुणवाले यश से युक्त पुत्र और धन दो[4]। ऋक् १।३१।८ में अग्नि से प्रार्थना है—हे स्तूयमान अग्ने! तू हमारे धनों के दान के लिए यश से युक्त और कर्मों को करनेवाला पुत्र उत्पन्न करो[5]। ऋक् ७।१५।१२ में कहा है—हे अग्ने! तू सविता देव भग और अदिति देवी हम को पुत्र, पौत्रादि युक्त अन्न देवें[6]।

ऋग्वेद ३।१।१९ में अग्नि से प्रार्थना है, विस्तृत सभी उपद्रवों को शान्त करनेवाला शोभनवाणी वाला सब से भजनीय, यश से युक्त धन दो[7]। ऋग्वेद १०।३९।२ में अश्विनौ से प्रार्थना है—हमारा यशस्वी और भजनीय धन-धान्य करो[8]। ऋक् १०।९१।१५ में कहा है—अग्ने! तू, अन्न का दाता, यश से युक्त पुत्रवाला, रमणीय स्वर्णादि धन अपरिमित मात्रा में हमारे लिए दो[9]। ऋक् १।९।६ में इन्द्र से प्रार्थना है, हे प्रभो, धनवाले इन्द्र! हम को उद्योगवाले और यशवाले धन के लिए प्रेरित कर[10]। ऋक् ३।१६।६ में अग्नि से कामना है—हे प्रभूत धन युक्त अग्ने! सुख को उत्पन्न करनेवाला कीर्तिवाला, अति मात्रा से युक्त धन से हम को युक्त करो[11]।

(इ) आदान-प्रदान—

कुछ एक विचारक यह विचार रखते हैं कि ऋग्वेद में वर्णित समाज के लोग अपने देवों के सामने याचना करते हुए पाये जाते हैं, इसलिए उनमें दीनता के भाव थे। इस प्रकार के उनके विचार भ्रम पर आधारित हैं, क्योंकि उन्होंने स्वयम् ऋग्वेद का अध्ययन न करके किन्हीं अन्यों के द्वारा प्रेरणा पाकर ही ऐसे विचारों को जन्म दिया है।

---

१. **गोभिः ष्याम यशसो जनेष्वा सदा देवास इळया सचेमहि।**
२. **पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने।**
३. **अस्य क्रत्वा यशस्वतः।**
अस्य-अग्नेः क्रत्वा=प्रज्ञानेन युक्ता यशस्वतः=यशस्वन्तो भवामेति शेषः। —सा०भा०
४. **चित्रं रयिं यशसं धेह्यस्मे देवि मर्तेषु मानुषि श्रवस्युम्।**
५. **त्वं नो अग्ने सनये धनानां यशसं कारुं कृणुहि स्तवानः।**
६. **त्वमग्ने वीरवद्यशो देवश्च सविता भगः। दितिश्च दाति वार्यम्। —७।१५।१२**
७. **अस्मे रयिं बहुलं सन्तरुत्रं सुवाचं भागं यशसं कृधी नः।**
बहुलं=विस्तीर्णं सन्तरुत्रं=सर्वेषामुपद्रवाणां सन्तारकम्॥ —सा०भा०
८. **यशसं भागं कृणुतं नो अश्विना।**
९. **वाजसनिं रयिमस्मे सुवीरं प्रशस्तं धेहि यशसं बृहन्तम्।**
१०. **अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वतः। तुविद्युम्न यशस्वतः॥**
११. **संराया भूयसा सृज मयोभुना तुविद्युम्न यशस्वता। यशस्वता= उद्योगवता। —सा०भा०**

ऋग्वेद के स्तोता अपने आराध्य देव से जो याचना करते हैं, यह उनकी दीनता का द्योतक नहीं, अपितु यह विनय और नैतिक जीवन बिताने का प्रमाण है, क्योंकि देवों को ऋग्वेद में पित्रीय-मात्रीय तुल्य माना है।

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर देवों के साथ आदान-प्रदान का व्यवहार भी परिलक्षित होता है। जैसा कि कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा। ऋक् ७।५७।६ में मरुतों से आदान-प्रदान का उल्लेख है, हे मरुत् नरो, समस्त उत्तम नामों से प्रशंसित होकर हवियों का सेवन करो, हमें अमृततुल्य अन्न-जल प्रदान करो और उत्तम ऐश्वर्य, शोभन, वचन तथा उत्तम धनों को दो[1]। ऋक् २।२६।३ में देवों के पिता ब्रह्मणस्पति के सम्बन्ध में कहा है—

स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः।
देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम्॥

जो श्रद्धावान् होकर देवों के पिता ब्रह्मणस्पति की हव्य द्वारा परिचर्या करता है वह अपने मनुष्य और पुत्रों एवम् अन्य परिचारकों के साथ अन्न धन प्राप्त करता है।

ऋग्वेद में अग्निदेव को हव्यप्रदान से समृद्धिशाली होने का उल्लेख किया गया है—

यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्त्तो अग्नये।
यो नमसा स्वध्वरः॥ —ऋ० ८।१९।५

जो मनुष्य पलाशादि ईंधन से अग्नि की परिचर्या करता है, जो मनुष्य घृत की आहुति से अग्नि की सेवा करता है और जो वेदाध्ययनरूप ब्रह्म यज्ञ से अग्नि की परिचर्या करता है तथा जो शोभन ज्योतिष्टोमादि अध्वर से युक्त होकर पुरोडाशादि से अग्नि की परिचर्या करता है, उसको किन-किन वस्तुओं की प्राप्ति होती है, यह अगले मन्त्र में गिनाया गया है।

तस्येदर्वन्तो रंहयन्त आशवस्तस्य द्युम्नितमं यशः।
न तमंहो देवकृतं कुतश्चन न मर्त्यकृतं नशत्॥ —ऋ० ८।१९।६

उसके ही वेगवान् अश्व दौड़ते हैं, उसकी ही प्रदीप्ततम कीर्ति होती है और देवों तथा मनुष्यों के किये अपराध या पाप उसको प्राप्त नहीं होते हैं।

ऋग्वेद में ऐसे वर्णनों की अधिकता है कि जो देता है, देवता भी उसको अवश्य देते हैं, इससे जहाँ उदारता प्रकट होती है, वहाँ दीनता के भाव का भी निराकरण होता है।

ऋग्वेद १०।१२२।३ में कहा है—'**अमर्त्यो दाशद् दाशुषे सुकृते**'—अमरदेव दानशील पुण्यकर्मा के लिए उत्तम ऐश्वर्य देता है। ऋक् १०।४८।१ में इन्द्र का कथन है—'**अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्**'—में दानशील दाता को समस्त भोग्य पदार्थ देता हूँ। ऋक् १।९४।१४ में—'**दधासि रत्नं**

---

१. **उत स्तुतासो मरुतो व्यन्तु विश्वेभिर्नामभिर्नरो हवींषि।**
ददात नो अमृतस्य प्रजायै जिगृत रायः सूनृता मघानि॥
जिगृत=उद्गिरत, प्रयच्छतेत्यर्थः। —सा०भा०

द्रविणं च दाशुषेऽग्ने'—हे अग्ने! दाता को रत्न और धन दो। ऋक् ८।४३।१५ में उल्लेख है—

स त्वं विप्राय दाशुषे रयिं देहि सहस्त्रिणम्। अग्ने वीरवतीमिषम्॥

हे अग्ने! वह तू दानशील विप्र के लिए सहस्त्र संख्यक धन और वीर पुत्रादि को प्रदान करनेवाला अन्न, बल प्रदान करो।

ऋग्वेद में उषस् के सम्बन्ध में उल्लेख है कि उषस् दाता को श्रेष्ठ धन देती है[१]। ऋक् ६।६५।३ में कहा है—

श्रवो वाजमिषमूर्जं वहन्तीर्नि दाशुष उषसो मर्त्याय।

उषाएँ दाता मनुष्य के लिए यश, अन्न, बल और सामर्थ्य लाती हैं। ऋक् १।४७।१ में अश्विनौ के लिए उल्लेख है कि अश्विनौ दानशील के लिए रमणीय धन-धान्य धारण करते हैं[२]।

(ई) अदीनता—

दीनता से मानव को कष्ट होता है, जिसके विषय में ऋग्वेद का उपासक सजग है। वह दीनता का कष्टमय अनुभव ऋक् ७।८९।३ में पाता है, जिसमें वरुण से प्रार्थना की गई है—हे ऐश्वर्ययुक्त वरुण! मैं दीनता के कारण सत्कर्म और सत् ज्ञान के बिल्कुल विपरीत चला गया हूँ और बड़ा शोक करता हूँ[३]। इसीलिए वह अदीनाः स्याम शरदः शतम् का पाठ प्रतिदिन पढ़ता है[४]।

(उ) उत्साह—

प्रगतिशील जीवन में उत्साह भी एक आवश्यक अंग है, उत्साहित व्यक्ति ही निराशा में आशा की किरण देखता है। ऋग्वेद में उत्साह के विषय में अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। उत्साह से महान् कार्य करने की इच्छा जाग्रत होती है। हनुमान् का बाहुओं द्वारा समुद्र तैर कर लंका में पहुँचना उत्साह का ही वीरोचित कार्य है।

ऋग्वेद में एक पूरा सूक्त ही उत्साह के मन्त्रों से युक्त है[५]। उत्साह जब व्यक्ति में आता है तब वह कह उठता है—

हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा।
कुवित्सोमस्यापामिति॥
'अहमस्मि महामहः[६]'।

मैंने सोमपान किया है, मैं महान् से महान् हूँ (जी में आता है कि) इस पृथिवी को यहाँ से उठाकर वहाँ रख दूँ। उत्साहयुक्त व्यक्ति ही मृत्यु को भी सावधान करता हुआ कहता है—हे मृत्यो! उस दूसरे मार्ग से गमन करो, जो

---

१. **व्यूर्ण्वती दाशुषे वार्याणि।** —ऋ० ५।८०।६
२. **धत्तं रत्नानि दाशुषे।**
३. **क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे।**
४. यजु० ३६।२४।
५. ऋ० १०।११९ सूक्त।
६. ऋक् १०।११९।९,१२॥

तेरा अपना है और जो देवमार्ग से भिन्न है। मैं तुझ आँखों और कानोंवाली को कहता हूँ कि हमारी सन्तान और वीरों का नाश मत कर[1]।

(ऊ) अनृणी होना—

अनृणी होना भी प्रगतिशील जीवन के लिए आवश्यक होता है। इसलिए ऋग्वेद २।२८।९ में वरुण से अनृणी होने की कामना की गई है—हे वरुण राजन्, जिन ऋणों को मैंने किया उनको उतारने की व्यवस्था करो, मैं दूसरे की कमाई से भोग न करूँ, क्योंकि हमारी बहुत सी उषाएँ ऋण की चिन्ता के कारण ऐसी होती हैं, मानो वे उषाएँ हुई ही न हों। 'तासु' उन दुःख, चिन्ता की घड़ियों में भी हम जीवों को जीवित रहने के लिए अनुशासित करो[2]।

ऋणी मनुष्य चिन्ताग्रस्त हो जाता है, उसकी प्रसन्नता समाप्त हो जाती है। उषा वेला से पहले घर छोड़कर अन्यत्र चला जाता है, उसको सन्देह रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि ऋण देनेवाला प्रातः ही द्वार खटखटाने आ जाए, इसलिए उसकी प्रातःकालीन प्रसन्नता प्रायः नष्ट हो जाती है। उसका जीना भारी हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि प्रगतिशील जीवन के लिए ऋण लेना अभिशाप है, अतः अनृणी होना ही प्रगतिशील के लिए श्रेष्ठ है।

(ए) स्वावलम्बन की भावना—

ऋग्वेद में जहाँ किसी के ऋणी न होने की कामना की गई है, वहाँ यह भी कामना की गई है कि हम किसी का दिया हुआ न खाएँ, अपितु स्वयं अर्जित धन पर ही निर्वाह करें। ऋक् २।२८।९ में वरुण से स्पष्टरूप से कामना व्यक्त की गई है कि हे राजन्! मैं किसी अन्य के किये हुए धन से भोग न करूँ—

'माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्'

ऋग्वेद में यह भावना इतनी बलवतीरूप में पाई जाती है कि किसी अन्य के धन का क्या, अपने पुत्र और पौत्र के धन को भी ग्रहण न करने का आग्रह किया गया है, जिसका उल्लेख ऋक् ५।७०।४ में किया गया है—

मा कस्याद्‌भुतक्रतू यक्षं भुजेमा तनूभिः। मा शेषसा मा तनसा।

हे आश्चर्यजनक बुद्धि और कर्म से सम्पन्न मित्र वरुण! हम किसी के धन को अपने शरीरों से उपभोग न करें, और (किसी भी अवस्था में) न ही पुत्र से न पौत्र से ग्रहण करें या उनके साथ उपभोग करें।

ऋग्वेद में स्वावलम्बी व्यक्ति अपने दोनों हाथों की महिमा के विषय में कहता है—

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥ —ऋक् १०।६०।१२

---

१. **परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।**
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्॥ —अ० १०।१८।१

२. **पर ऋणा सावीरध मत्कृतानि माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्।**
अव्युष्टा इन्नु भूयसीरुषास आ नो जीवान् वरुण तासु शाधि॥ —ऋक् २।२८।९।

यह मेरा हाथ भगवान् है तो यह दूसरा उससे भी बढ़कर है, यह सब के लिए भेषज है तो इसके स्पर्श से ही कल्याण होता है।

इस प्रकार ऋग्वेद में स्वावलम्बन की भावना का उल्लेख पाया जाता है। जो कि प्रगतिशील जीवन के लिए एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

(ऐ) आमोद–प्रमोद और दीर्घजीवन की कामना—

प्रगतिशील जीवन के लिए आवश्यक है कि उसमें निराशा न हो, उदासीनता का कोई स्थान न हो, लेकिन आमोद–प्रमोद एवम् उल्लास से वह परिपूर्ण हो, जिसमें हँसना, खेलना, नाचना, गाना आदि जीवन की चहल–पहल हो और वह सरसता एवम् आशा के प्रवाह से प्रवाहित हो। जिसमें दीर्घजीवन की चाह, पग–पग पर प्रस्फुटित हो रही हो। इस प्रकार के जीवन का उल्लेख हमें ऋग्वेद में उपलब्ध होता है।

ऋग्वेद ९।११३।११ में सोम के प्रस्रवण की प्रार्थना करते हुए सोम से कामना की गई है—जिस जीवन या स्थान पर आनन्द–प्रमोद और मुदित–प्रमुदित करनेवाली सामग्री है, जहाँ अभिलषणीय कामनाएँ प्राप्त होती हैं, वहाँ मुझको दीर्घजीवी कर[१]। ऋक् १०।१८।२ में कहा है—हे यज्ञमय जीवन बितानेवालो ! मृत्यु के आने के कारण को दूर करते हुए दीर्घजीवन को धारण करते हुए और प्रजा एवं धन से आप्लावित होते हुए शुद्ध पवित्र होकर रहो[२]।

हास्य, नृत्य, दीर्घजीवन के विषय में ऋग्वेद १०।१८।३ में उल्लेख करते हुए कहा है—

प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।

हम दीर्घजीवन को प्राप्त करते हुए नृत्य, हास्ययुक्त प्रसन्नता के साथ प्रगति करें।

उल्लेखनीय बात यह है कि इन उपर्युक्त सभी मन्त्रों में आनन्द, प्रमोद, नृत्य, हास्य आदि के साथ–साथ दीर्घजीवन की भी कामना की गई है एवम् इस दीर्घजीवन का उल्लेख ऋग्वेद में अन्य अनेक स्थानों पर हुआ है[३]। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल में तो—'**मदेम शतहिमाः सुवीराः**' को अनेक सूक्तान्तों में उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार शत शरद् वसन्तादि ऋतुओं में जीवन की कामना भी ऋग्वेद में की गई है।

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्। ऋक् १०।१६१।४ जिससे ज्ञात होता है कि आनन्द, प्रमोद, हास्य, नृत्य, दीर्घजीवन तक प्राप्त होते रहें। इस प्रकार ऋग्वेद में नैतिक जीवन का रमणीय वर्णन उपलब्ध होता है।

---

१. **यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।**
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव। —ऋ० ९।११३।११

२. **मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।**
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः॥ —ऋक् १०।१८।२

३. ऋग्वेद ६।४।८,१०।७,१२।६,१३।६,१७।१५,२४।१० आदि।

अध्याय : ८

वैवाहिक जीवन और—
काम सम्बन्धी आचरण का निरूपण

वैवाहिक जीवन—

वैवाहिक जीवन को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) पति-पत्नी का पारस्परिक सम्बन्ध एवम् आचरण।

(२) माता-पिता और सन्तानों का पारस्परिक आचरण।

(१) वैवाहिक जीवन का महत्त्व—

मनुष्य का वैवाहिक जीवन प्रतिष्ठा को बढ़ानेवाला होता है तथा साथ ही साथ उत्तरदायित्व निभाने के लिए प्रेरित करता है और सहनशीलता का संचार कर जीवन में सदाचार और त्याग की भावना का आधान करता है। आधुनिक विद्वानों का भी यही विचार है—''स्वेच्छाचारी यौन-सम्बन्धों से न तो परिवार ही अस्तित्व में आ सकता है और न आत्म बलिदान तथा संयम जैसे उच्च मानवीय भावों का ही विकास हो सकता है, जिनका कि मानवजाति की उन्नति में बहुत बड़ा हाथ रहा है[१]।''

वैवाहिक जीवन मधुर स्वप्नों को साकार सा कर देता है, उसकी मधुर कल्पनाएँ जीवन में प्रत्यक्ष होती हुई दिखाई देती हैं—'घर का मधुर तथा स्नेहमय वातावरण पत्नी के साथ विवाहित प्रेममय जीवन तथा उसके फलस्वरूप होनेवाली सन्तान का पालन-पोषण वैदिक आर्यों को अत्यन्त प्रिय थे, अतः अतिप्राचीनकाल में ही विवाह को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो चुका था[२]।'

वैवाहिक जीवन के महत्त्व को उत्तरवैदिक साहित्य में भी स्वीकार किया गया है। यज्ञ करने के अनधिकारियों की गणना में उस व्यक्ति को भी लिया गया है, जो अभी विना पत्नी के ही जीवनयापन कर रहा है, ऐसे पुरुष को 'अयज्ञीय[३]' कहा गया है जो कि निन्दनीय भाव का सूचक है। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन में विवाहित होना एक आवश्यक कार्य है, क्योंकि आधा अंग उसकी पत्नी मानी गई है[४]। इसलिए पत्नी प्राप्त होने पर ही वह पूर्ण होता है, शतपथब्राह्मण में पत्नी के विना पुरुष (असर्व) ही रहता है और पत्नी प्राप्त करने से सर्व (पूर्ण) हो जाता है[५] तथा इससे व्यक्ति तीनों ऋणों में

---

१. हिस्ट्री ऑफ मैट्रीमोनियल इन्स्टीट्यूशन—पृ० ९०।९१ (हिन्दू संस्कार, पृ० २०२ पर उद्धृत)

२. हिन्दू संस्कार—मु० १९५।

३. **अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः।** —तै०ब्रा० २।२।२।६

४. **अथो अर्द्धो वा एष आत्मनः यत् पत्नीः।** —तै० ब्रा० २।९।४।७

५. शतपथ ब्रा० ५।२।१।१०

से पितृ ऋण से मुक्ति पा लेता है[१]।

मनुस्मृतिकार ने वैवाहिक जीवन को व्यक्तिगत जीवन की सफलता के साथ-साथ सामाजिक दृष्टि से भी इसको महत्त्वपूर्ण माना है—'जिस प्रकार समस्त जन्तु अपने जीवन के लिए वायु पर आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण आश्रम गृहस्थ आश्रम पर आधारित हैं, क्योंकि गृहस्थ ज्ञान तथा अन्न से तीनों आश्रमों की पालना करता है, अतः गृहस्थ अन्य तीनों आश्रमों की अपेक्षा श्रेष्ठ (ज्येष्ठ) है। इसलिए स्वर्ग तथा इह लोक में सुखाभिलाषी व्यक्ति को गृहस्थाश्रम का पालन करना चाहिए और दुर्बलेन्द्रिय व्यक्ति गृहस्थाश्रम को धारण नहीं कर सकता[२]।' जिस वैवाहिक जीवन से इहलोक का सुख और स्वर्ग का आनन्द सुलभ हो, इससे अधिक उसकी सर्वांगीणता की महिमा क्या हो सकती है ?

२. विवाहित जीवन में प्रविष्ट होने का समय—

मनुष्य जब गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होना चाहे उस समय वह अपने अनुरूप कन्या का चुनाव करे जो युवावस्था के लक्षणों से युक्त हो[३]। कन्या भी ब्रह्मचर्य से युक्त होकर युवा पति को प्राप्त करे[४]। वैवाहिक जीवन में प्रवेश का श्रेष्ठ समय वही है जब कुमार और कुमारी से आगे बढ़कर वे युवा और युवति हो जाते हैं। ये दोनों शब्द संस्कृत में 'यु' धातु से निष्पन्न हुए हैं, जिसका अर्थ मेल करना है—अर्थात् उसी अवस्था में 'स्त्री और पुरुष' मेल करने के अधिकारी होते हैं। ऋग्वेद ने इस तथ्य को 'युवतयो युवानम्' कहकर प्रकट किया है[५]। इस प्रकार एक अन्य ऋचा के अनुसार हृष्ट-पुष्ट स्त्री जो आलिंगन आदि से उत्पन्न आनन्द को समझने लगी हो उसे ही योग्य पुरुष का साथ देना चाहिए[६]। ऋग्वेद १।८५।२२ में विश्वावसु से प्रार्थना की गई है कि पुष्टांग कन्या को पति से युक्त करे[७]।

वैवाहिक जीवन में वे ही युवा और युवति प्रवेश करें जिनकी प्रवेश करने की इच्छा हो। ऋग्वेद में इसका स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि कन्या का पिता, पति को प्राप्त करने की मन से कामना करनेवाली कन्या को ही पुरुष को प्रदान करे[८]। इससे यह सिद्ध होता है कि वैवाहिक जीवन के लिए कन्या की प्रथम स्वीकृति होनी चाहिए।

(क) कन्या की शारीरिक अवस्था—

कन्या शारीरिक दृष्टि से वैवाहिक जीवन के लिए समर्थ है या नहीं,

---

१. **जायमानो ह ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते।**
ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः॥ —तै०सं० ६।३।१०।५
२. मनु० ३।७७-७९। ३. ऋ० १०।१८३।२।
४. **ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।** —अथर्व० ११।५।१८
५. ऋ० २।३५।४।
६. **नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचैते।** —ऋ० ३।३३।१०
७. **अन्यामिच्छ प्रफर्व्यं सं जायां पत्या सृज।** —ऋ० १०।८५।२२
८. **सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादददात्।** —ऋ० १०।८५।९।

इसका भी ध्यान कन्या के अभिभावकों को होना चाहिए, क्योंकि कन्या दूसरे परिवार में जाएगी, वहाँ पर वह वधू का नाम ग्रहण करेगी ''वधू'' शब्द का अर्थ 'वहन' करना है वह गृह कार्यों को भली-भाँति तभी वहन कर सकेगी जब वह शारीरिक अवस्था से समर्थ हो एवं माँ बनने की योग्यता रखती हो। कन्या के शारीरिक क्रमिक विकास का उल्लेख ऋग्वेद के १०।८५ विवाह सूक्त में किया गया है। (वर वधू को ध्यान दिलाता हुआ कहता है) सोम ने सर्वप्रथम तुझे प्राप्त किया, तेरा दूसरा पति गन्धर्व हुआ, अग्नि तेरा तीसरा पति बना, मैं मनुष्य-जन्मा तेरा चतुर्थ पति हूँ। सोम ने तुझे गन्धर्व को दिया, गन्धर्व ने अग्नि को और अग्नि ने तुझे ऐश्वर्य (सौभाग्य) तथा पुत्रों की प्राप्ति के लिए मुझे दिया[१]।

इन रहस्यात्मक ऋचाओं की कुछ व्याख्या वसिष्ठ स्मृतिकार ने की है—''सोम ने स्त्रियों को शौच दिया, गन्धर्व ने उन्हें मधुरवाणी प्रदान की और अग्नि ने उन्हें सर्वमेधत्व[२]। अत्रि स्मृतिकार का इन ऋचाओं के विषय में विचार है—'रोम के समय में सोम[३], स्तन होने पर गन्धर्व और रजोदर्शनकाल में अग्नि कन्या का उपयोग करता है।'

एक आधुनिक विद्वान् ने इन ऋचाओं की अधिक हृदयग्राही व्याख्या प्रस्तुत की है—'सोम वनस्पति जगत् का अधि देवता है·····रोमों के सहित स्त्री का शारीरिक विकास सोमदेव की देखभाल में होता है, उसके ही निर्देशन में उसका मन भी विकसित होता है। गन्धर्व सौन्दर्य का देवता है, स्त्री के शरीर को सुन्दर बनाता है और उसकी वाणी को मधुरता प्रदान करना उसका कार्य है। उसी की देखभाल में उसके नितम्ब विकसित होते हैं और स्तन गोल तथा आकर्षक हो जाते हैं, आँखें प्रेम की भाषा को समझने लगती हैं, उसके अंग-अंग में एक विलक्षण छवि व्याप्त हो जाती है, उसका कार्य अब समाप्त हो जाता है और वह अग्नि को सौंप देता है, अग्नि कौन है ? वह वह्नि ही अग्नि तत्त्व का अधिष्ठाता है। वसन्त ऋतु में प्रकृति एक रंग और हर्ष से आप्लुत रहती है, अग्नि उसे फलभुक्त बनाता है, वही स्त्री में रजः प्रवाह लाता है। तभी स्त्रियाँ सन्तान उत्पन्न कर सकती हैं, तब अग्नि उसे अपने चतुर्थ मनुष्यज

---

१. **सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।**
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥
सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो दददग्नये।
रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्॥ —ऋक् १०।८५।४०,४१
सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादात्। —ऋ० १०।८५।९

२. **तासां सोमोऽददच्छौचं गन्धर्वः शिक्षितां गिरम्।**
अग्निश्च सर्वमेधत्वं तस्माद् निष्कल्मषा स्त्रीः॥

३. **रोमदर्शनसम्प्राप्ते सोमो भुङ्क्ते तु कन्यकाम्।**
रजो दृष्ट्वा तु गन्धर्वः कुचौ दृष्ट्वा तु पावकः॥ —अत्रिस्मृति
वैदिक सम्पत्ति पृ० ६२९ की पाद टिप्पणी में उद्धृत।

पति को सौंप देता है[1]।'

जब युवति कन्या की विवाह की आयु अधिक हो जाती है और उसकी इच्छा विवाह करने की होती है, तब वह अपने विवाह के लिए देवों से भी प्रार्थना करती है, जैसा कि ऋग्वेद १०।४०।११ में घोषा ने अश्विनौ से पति प्राप्त कराने की प्रार्थना की है—'मैं उस बात को नहीं जानती उसे तुम बतला दो, जिसे कि युवा और युवति घरों में रहकर अनुभव करते हैं, मैं स्त्रीप्रिय सुपुष्ट वीर्यवान् तरुण के घर में जाऊँ, हे अश्विनौ, (मेरी) यह कामना पूरी करो[2]। इससे कन्या की शारीरिक अवस्था की पूर्णता प्रतीत होती है।'

(ख) कन्या की मानसिक योग्यता—

कन्या के वैवाहिक जीवन के लिए शारीरिक अवस्था पर विचार कर चुकने के बाद उसकी मानसिक योग्यता का भी ध्यान होना चाहिए, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में कन्या को दहेज में दी जानेवाली वस्तुओं में हुआ है, जिसमें भौतिक वस्तुओं के साथ-साथ रूपकालंकार के द्वारा मानसिक वस्तुओं का चित्रण भी हुआ है—"जब सूर्या पति के पास गई तब चिन्तन तकिया था, चक्षु अञ्जन था, द्यावापृथिवी उसके कोश थे[3]। रैभी (ऋचाएँ) अनुदेयी (सखी) थीं, नाराशंसी (ऋचाएँ) वधू की दासी थीं, सूर्या का कल्याणकारी वस्त्र गाथा से परिष्कृत था[4]।" स्तोत्र ही रथ चक्र के दण्ड थे, कुरीर नामक छन्दन उस रथ का भीतरी भाग था[5]। मन उसका रथ था—"मनो अस्या अन आसीत्।" ऋग्वेद १०।८५।१०।

प्रशान्तकुमार वेदालंकार ने भी इन पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं, जब कन्या पति को प्राप्त होवे तब उसकी भली प्रकार सोचने समझने तथा विचारने की शक्ति तकिया या गद्दा होनी चाहिए, पदार्थों को सम्यक्रूप से देख सकने की अर्थात् समझ सकने की शक्ति सुरमा होनी चाहिए। द्युलोक तथा पितृलोक के बीच में आनेवाले सारे जगत् का ज्ञान उसमें कोष अर्थात् धन सम्पत्ति हों, अगले मन्त्र में पुनः प्रकाश डाला गया है कि धन सम्बन्धी विद्या (अर्थशास्त्र का प्रकाश करनेवाली शिक्षा) तथा नर-नारी के कर्तव्यों का ज्ञान सदा साथ रहनेवाली सम्पत्ति चाहिये, (उसका भद्र आचरण ही उसका वस्त्र होना चाहिये। साथ ही सामवेद का संगीत भी उसके साथ हो। वेद मन्त्रों के समूहों

---

१. आर्यन मैरेज—पृ० २६।२७।

२. **न तस्य विद्म तदु षु प्र वोचत युवा ह यद् युवत्या क्षेति योनिषु।**
प्रियोस्त्रियस्य वृषभस्य रेतिनो गृहं गमेमाश्विना तदुश्मसि॥ —ऋ० १०।४०।११

३. **चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्।**
द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात्सूर्या पतिम्॥ —ऋ० १०।८५।७

४. **रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी।**
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम्॥ —ऋ० १०।८५।६

५. **स्तोमा आसन्प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः।** —ऋ० १०।८५।८
कोशः ऋ० १०।८५।७ का अर्थ धन का अधिष्ठान है, जिसमें अनुदेय धन रखा जाता है—'**धनाधिष्ठाने अनुदेयं धनमास्ताम्**'—द्र० वेंकटमाधव भाष्य।

का ज्ञान ही 'खाद्यान्न' हो तथा छन्द शास्त्र का ज्ञान 'सिर पर ओढ़ने का वस्त्र अथवा आभूषण हो[१]।'

इस रूपक से इतना तो अवश्य स्पष्ट है कि जहाँ कन्या की शारीरिक अवस्था सन्तति उत्पन्न करने की हो वहाँ यह भी आवश्यक है कि वह सन्तति को भली-भाँति लालन-पालन के साथ-साथ शिक्षित भी कर सके। ऋग्वेद के वैवाहिक सूक्त १०।८५ में वधू को आशीर्वाद दिया जाता है कि वधू पति के परिवार के सदस्यों श्वसुर, श्वश्रू, ननान्दा तथा देवरों पर शासन करनेवाली हो[२]। विना मानसिक योग्यता एवं विदुषी के, गृहस्वामिनी भाव (सम्राज्ञीत्व) सम्भव नहीं।

जिस प्रकार कन्या के लिए शारीरिक एवं मानसिक अवस्था के भाव ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं, उस प्रकार के प्रत्यक्षरूप से युवक की योग्यता के भाव प्राप्त नहीं होते, लेकिन यदि विशेष विचार किया जाए तो कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है, जैसी कि घोषा ने अश्विनौ से प्रार्थना की है—जिसमें उसने स्त्रीप्रिय, सुपुष्ट वीर्यवान् तरुण पति की कामना की है[३], इससे युवक की शारीरिक अवस्था का ज्ञान अवश्य होता है और मानसिक योग्यता के लिए स्थान-स्थान पर गुणी सन्तान की कामना की गई है, जिसको आगे पुत्र-प्राप्ति के कारण एवं गुणी पुत्रों की कामना नामक शीर्षकों में विचारा जाएगा। जिससे युवक की योग्यता का अच्छा प्रकाश पड़ेगा।

३. साथी का चुनाव—

वैवाहिक जीवन में साथी का चुनाव भी महत्त्वपूर्ण कार्य है, साथी चुनते समय बहुत ही सावधानी की आवश्यकता होती है, क्योंकि भावी जीवन का दारोमदार एक-दूसरे पर निर्भर होता है। यदि साथी योग्य है, चतुर है, समझदार है तो भविष्य का जीवन सुखमय व्यतीत होता है। इसलिए साथी का चुनाव विवेकपूर्ण होना चाहिए।

ऋग्वेद के अध्ययन से यह तथ्य सामने भली-भाँति प्रकट होता है कि १९वीं शती की भाँति "युवति कन्या" घर की चहारदीवारी में बन्द नहीं रहती है। अविवाहित कन्या घर से बाहर जाने में पूर्णरूप से स्वतन्त्र प्रतीत होती है। वह समन (मेले) अथवा उत्सवों में अलंकृत एवं प्रसन्नवदन होकर भाग लिया करती है[४]। समन का उल्लेख ऋग्वेद में अनेक बार हुआ है[५]। ये समन सम्भवतः 'युवा और युवतियों को विवाह के चुनाव में बड़े सहायक

---

१. वैदिक साहित्य में नारी—पृ० ३७।

२. **सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।**
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु॥ —ऋ० १०।८५।४६

३. ऋग्वेद १०।४०।११।

४. **अभिप्रवन्तः समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्।** —ऋ० ४।५८।८
घृत की धाराएँ अग्नि की ओर इस प्रकार प्रवाहित हो रही हैं, जैसे कल्याणी 'सुन्दर वेषधारिणी' मुस्कराती हुई युवतियाँ समन की ओर जाती हैं।

५. द्रष्टव्य—ऋग्वेद १।४८।६, १।८,४।५८।८,७।९।४,१०।८६।१०।

सिद्ध होते हैं। अविवाहित युवतियाँ (अग्रुवः) सज-धज कर अपने समवयस्क युवकों को आकर्षित करने के लिए (समन में) जाती हुई चित्रित की गई हैं[1]। कन्या के अभिभावक कन्या के इस कार्य से रुष्ट नहीं होते, बल्कि माताएँ अपनी कन्याओं को अलंकृत करके समन में जाने के लिए प्रेरित करती हैं[2]। अविवाहित कन्याओं के प्रेमी 'जार[3]' होते हैं[4]। और वे अपने प्रेमी से निश्चित स्थान पर मिलती हैं[5]। अपने भावी जीवन के विषय में विचार करती हैं। इस मेल-मिलाप में जिस युवक को अपने लिए योग्य समझती हैं, उसका चयन कर लेती हैं। ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त २७ मन्त्र १२ में स्पष्टरूप से ऐसी वधू की प्रशंसा की गई है, जो अपने सौन्दर्य के कारण लोगों में से स्वयम् अपना साथी चुन लेती है[6]।'

४. साथी के चुनाव में अभिभावकों का सहयोग—

वैवाहिक जीवन में पदार्पण के समय अपने से बड़े जनों का सहयोग भी अपेक्षित है, उनके सहयोग के विना कभी-कभी चुनाव उचितरूप से नहीं हो पाता, जिसका फल यह होता है कि 'दम्पती' आजीवन दुःख वहन करते रहते हैं।

ऋग्वेद में साथी के चुनाव में मध्यम मार्ग का अनुसरण किया गया है, पूर्णरूप से कन्या भी साथी के चुनाव में स्वतन्त्र नहीं है तथा कन्या के माता-पिता अथवा भाई को भी पूर्ण अधिकार नहीं है कि वह कन्या की इच्छा के विरुद्ध जिससे चाहे उसका विवाह कर दे। कन्या के विवाह में कन्या के भाई का सहयोग विशेषरूप से होता है तथा समन में जाते समय भाई का साथ रहना उसके चरित्र की गारण्टी मानी जाती है। इस विषय पर डॉ० शिवराज शास्त्री ने लिखा है—'यदि अभ्रातृमती कन्या को कौमार्य के अभाव के कारण ही अनैतिकता का प्रतीक माना गया हो तो भी उसका कारण यह हो सकता है कि योग्य पति की खोज में 'समन' आदि में जाने के समय भाई का साहचर्य बहिन के कौमार्य की सुरक्षा की गारण्टी थी, परन्तु भाई के अभाव में पति वरण के लिए जानेवाली कन्या के असुरक्षित तथा असहाय होने के कारण विवाह से पूर्व दूषित हो चुकने की सम्भावना बनी रहती थी। ऋग्वेद ४।५।५ में झूठे तथा अनृत लोगों एवम् इधर-उधर घूमनेवाली भ्रातृहीन कुमारियों तथा पति से द्वेष करनेवाली दुराचारिणी स्त्रियों के समान अपने लिए गहन स्थान (गम्भीर-पद, नरक) बनानेवाला कहा गया है। यहाँ भ्रातृहीन

---

१. **पूर्वी शिशुं न मातरा रिहाणे समग्रुवो न समनेष्वञ्जन्।** —ऋ० ७।२।५
२. **सुसङ्काशा मातृमृष्टेव योषा विस्तन्वं कृणुषे दृशेकम्।** —ऋ० १।१२३।११
३. धर्मशास्त्रों में तथा उत्तरवर्ती साहित्य में 'जार' शब्द बुरे अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु ऋग्वेद में 'जार' शब्द शुद्ध प्रेमी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसमें दुराचार की तनिक भी गन्ध नहीं आती। द्र०ऋ०पा०स० पृ० २३१—पाद टिप्पणी ५ पर उद्धृत।
४. **अभिगावो अनूषत योषा जारमिव प्रियम्।** —ऋ० ९।३२।५
५. **युवोर्ह मक्षा पर्यश्विना मध्वासा भरत निष्कृतं न योषणा।** —ऋ० १०।४०।६
६. **भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्।** —ऋ० १०।२७।१२

कुमारियों की निन्दा का कारण उनका स्वच्छन्दता से इधर-उधर घूमने में दूषित हो जाने का भय प्रतीत होता है[१]।'' इसलिए उनकी रक्षा के लिए भाई साथ रहता है और अपने आपको बहिन के विवाह के लिए उत्तरदायी भी समझता है। ''भाई-बहिन के केवल पालन-पोषण एवं नैतिक आचार के लिए ही उत्तरदायी नहीं था, अपितु वह बहिन के लिए योग्य पति का अन्वेषण करने तथा परम्परागत विधि से सम्मानपूर्वक विवाह करने के लिए भी उत्तरदायी था[२]।''

भाई के पश्चात् माता-पिता का स्थान होता है। पिता भी अपनी कन्या के लिए योग्य वर की खोज में रहता है। यों तो माता का भी वर अन्वेषण में सहयोग होता ही है, बृहद्देवता के अनुसार रथवीति ने अपनी रानी (कन्या की माता) का परामर्श मानकर श्यावाश्व को अपनी पुत्री देना अस्वीकार कर दिया था[३]। ऋग्विधान ३।२२।९ के अनुसार कन्या के पिता को योग्य वर की प्राप्ति के लिए ऋग्वेद १०।८५।६-१३वें मन्त्र तक की ऋचाओं का पाठ करना चाहिए। कन्या के विवाह का अन्तिम निर्णय पिता ही करता है, क्योंकि कन्यादान की विधि को पिता ही सम्पन्न करता है[४]। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कन्या के योग्य वर के लिए पूरे परिवार का सहयोग होता है।

सुमंगली वधू प्राप्ति के लिए वर पक्ष के लोग भी प्रयत्नशील प्रतीत होते हैं, या यों कहना चाहिए कि ऋग्वेद के अनुसार वर पक्ष के लोग वर का पिता या मित्र ही वधू की खोज करने में पहल करते हैं, यह भी सम्भव है कि आजकल की प्रथा के विपरीत वर का पिता या मित्र वधू के लिए उसके पिता से याचना करता हो, क्योंकि बृहद्देवता की साक्षी यह है कि अर्चनास ने अपने पुत्र श्यावाश्व के लिए रथीवीति दार्भ्य की पुत्री की याचना की है[५]। सूर्यासूक्त के अनुसार वर पक्ष की ओर से कन्या पक्ष से बातचीत चलानेवाले अश्विनौ हैं तथा कन्या को चाहनेवाला सोम है। यह स्मरणीय रहे कि ऋग्वेद में वर[६] का अर्थ पुरुष पक्ष की ओर से कन्या के लिए याचना करनेवाले को कहा जाता है और 'वर' को 'वधूयु' कहा है, जो सोम है[७]। इससे यही प्रकट होता है कि उभय पक्ष के लोग वर-वधू के चुनाव में सहयोग करते हैं। जिस प्रकार कन्याएँ वर के चयन में कुछ-कुछ स्वतन्त्र हैं[८], उसी प्रकार वर भी वधू चयन में कभी-कभी स्वतन्त्रता से भी काम ले-लेता है। उसके 'वधूयु' (वधू की इच्छा करनेवाला) नाम का यही अर्थ है कि कदाचित् मित्र या अन्य जन जब

---

१. ऋ० पा०स० पृ० २५३।
२. वही पृ० ३०३।
३. बृहद्देवता ५।४९ तथा आगे।
४. ऋ० १०।८५।९।
५. बृहद्देवता ५।५४ से ५५।
६. 'वर' ऋग्वेद में विवाहेच्छु की ओर से बातचीत चलानेवाले को कहा गया है, जैसा कि अश्विनौ से सिद्ध है और जो कन्या से विवाह करने जाता है, उसको वधूयु कहा गया है, जैसा कि 'सोम' से प्रतीत होता है। लेकिन परवर्ती साहित्य में 'वर' का प्रयोग 'दूल्हे' के अर्थ में हुआ है।
७. **सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा।** —ऋ० १०।८५।९
८. ऋ० १०।२७।१२।

विश्वसनीय उपलब्ध न होने पर वह स्वयं ही वधू की माँग करने वधू के पिता के पास जाता है[१]।

५. विवाह—

ऋग्वेद में विवाह केवल सामाजिक ही नहीं, बल्कि धार्मिक विधि भी मानी गई है। ऋग्वेद १०।८५ सूक्त में सोम के साथ सूर्य की पुत्री सूर्या का आदर्श विवाह रूपक रूप में आरम्भ होता है, सम्पूर्ण दृश्य रूपकीय वर्णन का आधार बनाया गया है, जिसमें देवता भाग लेते हैं, यही रूपक बृहद्देवता के अनुसार मनुष्यों के विवाह के लिए प्रयुक्त किया गया है[२]।

अथर्व में विवाह के लिए सम्पूर्ण १४वाँ काण्ड प्रयुक्त किया गया है। जिसमें लगभग ऋग्वेद का १०।८५ सूक्त आ गया है एवम् अथर्ववेद में विवाह के लिए १३९ मन्त्रों का प्रयोग किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के १०।८५ विवाह सूक्त के ही स्पष्टीकरण ने अथर्ववेद से होते हुए गृह्यसूत्रों में विकसित होकर एक बृहदाकार रूप ग्रहण कर लिया है। क्योंकि अधिकतर ऋक् और अथर्व के मन्त्रों का विनियोग गृह्यसूत्रों में किया गया है। ऋग्वेद में विनियोग का उपयोग नहीं किया गया, केवल मन्त्र का ही चयन हुआ है, वैसे भी बहुत संक्षिप्त एवं महत्त्वपूर्ण विवाह-विधि ऋग्वेद में प्रदर्शित की गई है, जिसमें आदेश, उपदेश, प्रतिज्ञाएँ एवम् आशीर्वादात्मक मन्त्रों की बहुलता है। उनको हम संक्षेपरूप से इस विधि में भी कह सकते हैं।

सभी वर पक्ष के लोग विवाह मण्डप में उपस्थित हो जाने पर तथा स्वागत का कार्यक्रम होने के बाद वर के समीप कन्या को लाकर, कन्या का पिता वर को कन्या के दानस्वरूप कन्या का हाथ ग्रहण कराता है और वर हाथ ग्रहण करके प्रतिज्ञा तथा कामना करता है—'मैं सौभाग्य (सुहाग) के लिए तेरा हाथ, ग्रहण करता हूँ, तू मुझ पति के साथ वृद्धावस्था को प्राप्त कर, भग, अर्यमा, सविता, पुरन्धि देवों द्वारा तू मुझे गार्हपत्य कर्म के लिए प्रदान की गई है[३]। ऋग्वेद का यह मन्त्र कामना और प्रतिज्ञा से युक्त दाम्पत्य जीवन की आधारशिला है, वैवाहिक जीवन के विषय में सम्भव है इतनी उदात्त भावना अन्यत्र दुर्लभ हो।'

वर वधू को ध्यान दिलाता हुआ कहता है—प्रथम तू सोम की वधू थी, उसके पश्चात् तुझे गन्धर्व ने प्राप्त किया, अग्नि तेरा तृतीय पति था और मैं मनुष्यजन्मा तेरा चतुर्थ पति हूँ। सोम ने तुझे गन्धर्व को दिया, गन्धर्व ने अग्नि को और अग्नि ने तुझे ऐश्वर्य (भग) तथा पुत्रों की प्राप्ति के लिए मेरे हाथ सौंपा है[४]।

विवाहोपरान्त पुरोहित एवं उपस्थित जन वर-वधू को इस प्रकार आशीर्वाद देते हैं—तुम दोनों यहीं रहो, कभी वियुक्त न हो, पुत्रों और पौत्रों के साथ

१. मिलाइये—ऋ० पा०स० पृ० ३३८।
२. द्र०—**मन्त्रा वैवाहिका ह्येते निगद्यन्ते नृणामपि** —बृ० दे० ७।१३८
३. **गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।**
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥ —ऋ० १०।८५।३६
४. ऋ० १०।८५।४०-४१।

पूर्ण आयु प्राप्त करो[1]। देवों से प्रार्थना
सानन्द क्रीडा करते हुए अपने घर में
करते हैं कि इनका विवाहित जीवन स्थिर हो[2]। वधू के प्रति कामना की जाती
है कि यह वधू श्वसुर, श्वश्रू, ननद तथा देवरों पर शासन करनेवाली हो[3]।
इन्द्र से प्रार्थना की जाती है कि हे इन्द्र! इसको १० सुपुत्रोंवाली माता बनाओ[4]।

(क) कन्या की विदा वेला—

विवाहोपरान्त कन्या जिस समय अपने पिता के घर जाती है, उस समय
पिता के द्वारा दिया गया दहेज (वहतु) भी आगे-आगे ले जाया जाता है[5]।
कन्या के लिए सेमर लकड़ी से बना हुआ सुन्दर चक्रोंवाला तथा सरलता से
आगे बढ़नेवाला किंशुक के पुष्पों से सजाया हुआ रथ लाया जाता है[6]। और
देवों से कामना की जाती है—पूषा देव, वधू तुम्हारा हाथ पकड़ कर यहाँ से
ले जाएँ, अश्विनौ तुम्हें रथ के आगे ले चलें[7]। वधू के मार्ग में जाने पर कामना
की जाती है कि विवाह की सफलता के लिए हमारे सुहृद् जन जिन मार्गों पर
विचरण करते हैं वे मार्ग सरल हों और कण्टकों से विहीन हों। अर्यमा तथा
भगदेव हमें घर पहुँचा दें[8]। दोनों वर-वधू सुख मार्ग से कठिनाइयों से पार
जावें। शत्रु उनसे दूर रहें[9]।

(ख) वधू स्वागत—

वधू प्रथम बार जब अपने पितृगृह से पतिकुल में आती है तो उस समय
वर पक्ष की ओर से उसका स्वागत किया जाता है और यह भी सम्भव है कि
उस समय ही वधू का अन्य परिवार के सम्बन्धियों से परिचय भी कराया
जाता होगा तथा अपने पति के परिवार के स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध का भी ज्ञान
कराया जाता होगा। वधू स्वागतरूप उत्सव में आनेवाले मान्यजन वधू को
कुछ आशीर्वाद, उपदेश एवम् आदेश भी देते होंगे। क्योंकि आशीर्वादात्मक
मन्त्रों में 'इह' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ यहाँ पर होता है—इस
विषय में डॉ॰ शिवराज शास्त्री का विचार है, जब वधू गृह-प्रवेश करती थी,

---

१. **इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।** —ऋ० १०।८५।४२
   क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥ —ऋ० १०।८५।२३
२. **जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः।**
३. ऋ० १०।८५।४६।
४. **इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।** —ऋ० १०।८५।४५
   दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥ —ऋ० १०।८५।१३
५. **सूर्याया वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत्।**
   (१) डॉ॰ शिवराज शास्त्री ने 'वहतुः' शब्द का अर्थ दहेज किया है।
   —द्र०ऋ०पा०सा०पृ० २३९
   (२) मोनियर विलियम्स की संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी के अनुसार 'वहतुः' का
   अर्थ विवाह या विवाहोत्सव है। —ऋ० १०।८५।२०
६. **सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।** —ऋ० १०।८५।२६
७. **पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।**
८. **अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्था येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्।**
   समर्यमा सं भगो नो निनीयात्सं....। —ऋक् १०।८५।२३
९. **मा विदन्परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती।**
   सुगेभिर्दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः॥ —ऋक् १०।८५।३२

उस समय वधू को गृहपति कर्म के लिए जागरूक रहने के लिए उद्‌बोधन किया जाता था[१]। और पति-पत्नी को वृद्धावस्थापर्यन्त देवपूजा में संलग्न रहने का उपदेश दिया जाता था[२]। वधू को 'वीरसू' होने का आशीर्वाद भी दिया जाता था[३]।

६. पुत्र-प्राप्ति—

विवाह का मुख्य उद्देश्य वैध सन्तानों की प्राप्ति करना होता है, क्योंकि 'अवीरता' पुत्ररहित होना एक कष्टदायक बात है। ऋग्वेद में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि हमें अवीरता का कष्ट न दे[४]। बल्कि वह हमें 'नित्यसूनू[५]' या नित्यतनय अर्थात् औरस पुत्र प्रदान करे। अन्योदर्य पुत्र के लिए अनिच्छा व्यक्त की गई है—दूसरे का पुत्र कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए और वह अत्यन्त सुखकारी होने पर भी दूसरे की स्त्री के उदर से उत्पन्न हुए पुत्र को मन से भी नहीं सोचना चाहिए कि यह मेरा पुत्र है, क्योंकि ऐसा पुत्र फिर अपने उसी स्थान को चला जाता है, जहाँ से पहले वह आया था। अतः हमें बलवान् शत्रुओं का पराभव का करनेवाला स्तुत्य पुत्र प्राप्त हो[६]।

पुत्र-प्राप्ति के लिए वैवाहिक सूक्त १०।८५।४४ में नव वधू को वीरसू होने का आशीर्वाद दिया गया है और इन्द्र से भी प्रार्थना की गई है कि इन्द्र नव वधू को सुपुत्रा तथा सुभगा बनावे और उसमें दस पुत्रों को जन्म देवे।

७. पुत्र-प्राप्ति के कारण

पुत्र-प्राप्ति के अनेक कारण हो सकते हैं, जिनमें पहला मानसिक तृप्ति (२) सामाजिक और आर्थिक, (३) भूमा की भावना, (४) अमरता का लाभ आदि ये ही मुख्य कारण कहे जा सकते हैं।

(१) मानसिक तृप्ति—

मानव पुत्रों के विना अपने आपको अतृप्त अनुभव करता है। परिवार में पुत्र के अभाव के कारण सुख-शान्ति दिखाई नहीं देती, क्योंकि पुत्र भी पारिवारिक सुख-शान्ति का कारण होता है। इसलिए पुत्र से उत्पन्न होनेवाला सुख भी सन्तान की कामना का एक महान् कारण है। महाकवि भवभूति ने सन्तान को आनन्द की ग्रन्थि कहा है[७]। अतएव पुत्र एक अलौकिक सुख के स्रोत समझे जाते हैं।

---

१. ऋ० पा० स०, पृ० ३५९।

२. **इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।**
एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः॥ —ऋ० १०।८५।२७

३. **वीरसूर्देवृकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।** —ऋक् १०।८५।४४

४. **मा नो अग्नेऽमतये मावीरतायै रीरधः।** —ऋ० ३।१६।५

५. **मा त्वे सचा तनये नित्य आधक्।** —ऋक् ७।१।२१

६. **नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।**
अधा चिदोकः पुनरित् स एत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः॥ —ऋक् ७।४।८

७. **अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेह संश्रयात्।**
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति कथ्यते। —उत्तररामचरित ३।१७

ऋग्वेद में अग्नि की स्तुति करते हुए कहा गया है—

पुत्रो न जातो रण्वो दुरोणे वाजी न प्रीतो विशो वि तारीत्।

—ऋ० १।६९।५।

घर में उत्पन्न आनन्दित करनेवाले पुत्र के समान तथा प्रसन्न बलवान् अश्व के समान अग्नि प्रजा (विश) को धारण करता है। ऋग्वेद में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि अग्ने उसके द्वारा प्रस्तुत स्तोम (स्तुति) इस प्रकार से आनन्द ले जैसे मनुष्य अपने औरस (नित्य तनय) पुत्र में आनन्द लेता है[१]। इससे यही प्रतीत होता है कि पुत्र आनन्द और सन्तोष का स्रोत माना गया है, जिससे मानसिक तृप्ति प्राप्त होती है।

(२) सामाजिक और आर्थिक—

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, समाज में रहकर ही वह अपनी उन्नति कर सकता है, समाज मनुष्यों का समूह होता है, समाज में वह व्यक्ति अधिक सफल होता है, जिसके परिवार में अधिक व्यक्ति होते हैं, जिससे भी सन्तान की कामना होती है। दूसरी बात यह है कि मनुष्य की सदा यह इच्छा रही है कि स्वयम् अर्जित सम्पत्ति का वह स्वयं ही भोग करना चाहता है लेकिन वह अनुभव करता है कि यह सम्पत्ति मेरे न रहने के बाद, नष्ट न हो जाए इसलिए पुत्र की कामना करता है, क्योंकि पुत्र अपना ही रूप होता है[२], इसलिए उसको अपनी सम्पत्ति देने में मनुष्य किसी प्रकार का कष्ट अनुभव नहीं करता।

वृद्धावस्था में पुत्र पिता का रक्षण भी करता है, इसलिए पुत्र को बुढ़ापे की लाठी के मुहावरे में प्रयुक्त करना भी उसकी अभिलाषा की ओर संकेत है। ऋग्वेद में सोम से प्रार्थना की गई है—हे सोम! उत्तम वीर पुत्रों से युक्त हम धन जीतें[३]।

पुत्र जहाँ वंश की वृद्धि और वृद्ध पिता की रक्षा करता है, वहाँ वह अपने पिता की आर्थिक दशा को सुधारने में भी सहयोग करता है। यदि कोई शत्रु पिता की भूमि को हड़प लेता है तो उसको छुड़ा लाने का काम भी पुत्र करता है। ऋग्वेद ६।२०।१ में अग्नि से प्रार्थना की गई है—जो सहस्रों कृषि-भूमियों को लानेवाला तथा शत्रुओं का संहार करनेवाला हो[४]। ऋग्वेद ७।५६।२४ में मरुतों से ऐसे बलशाली पुत्रों की कामना की गई है, जो शत्रुओं का संहारक हो, जिसकी सहायता से निवासार्थ सुन्दर भूमि प्राप्त कर लेने के लिए जलों को पार कर सके और मरुतों के सम्मुख अपने घर (स्वमोकः) में रह सके[५]। ऋग्वेद के अन्य स्थानों पर भी गौ, अश्व

---

१. **जन्मेव नित्यं तनयं जुषस्व स्तोमं मे अग्ने तन्वा सुजात।** —ऋ० ३।१५।२

२. **आत्मा वै पुत्रनामासि सं जीव शरदः शतम्।** —शत० ब्रा० १४।९।४।२६

३. **सुवीरासो वयं धना जयेम सोम मीढ्वः।** —ऋ० ९।६१।२३

४. **तं नः सहस्रभरमुर्वरासां दद्धि सूनो सहसो वृत्रतुरम्।** —ऋ० ६।२०।१

५. **अस्मे वीरो मरुतः शुष्म्यस्तु जनानां यो असुरो विधर्ता।**
अपो येन सुक्षितये तरेमाऽध स्वमोको अभि वः स्याम॥ —ऋ० ७।५६।२४

तथा अन्न के साथ–साथ अपत्य विशेषतः वीर पुत्र–पौत्रों की कामना अग्नि[१], इन्द्र[२], सोम[३], मरुत[४], अश्विनौ[५], बृहस्पति[६], सविता[७], सूर्य[८], विश्वेदेवा[९], मित्रावरुण[१०], त्वष्टा[११], प्रजापति[१२], सरस्वान्[१३] आदि देवों, पितरों[१४], देवपत्नियों[१५], उषस्[१६] इत्यादि स्त्री देवताओं से की गई है।

(३) भूमा की भावना—

ऋग्वेद में यह भी पाया जाता है कि मनुष्य सन्तान द्वारा फिर से नया जन्म धारण कर लेता है और अनेक रूप हो जाता है। यह भावना उत्तरवैदिक साहित्य में और अधिक रूप में मुखरित हुई है[१७]। यहाँ तक कि पुत्र को आत्मस्वरूप माना गया है[१८]। ऋग्वेद २।३३।१ में रुद्र से प्रार्थना की गई है कि हम प्रजा द्वारा अनेक हो जाएँ। साथ ही साथ यह भावना भी प्रकट की गई है जो हवि प्रदान कर देवों को अपने अनुकूल कर लेता है वह मनुष्य धर्मानुसार उत्पादित सन्तान द्वारा अनेकरूप हो जाता है[१९]।

(४) अमरता की भावना—

मरणधर्मा मनुष्य की यह अभिलाषा होती है कि मैं बहुत दिनों तक जीवित रहूँ, उसकी कामना तो अमरत्व पान की है। वह पुत्र प्राप्त करना चाहता है, क्योंकि उसका विश्वास है कि पुत्र से अमरत्व का लाभ प्राप्त किया जा सकता है। इस भावना की पुष्टि तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार सन्तान उत्पादन ही अमरता है[२०]। ऋग्वेद में अग्नि से प्रार्थना की गई है—हे अग्ने! हम सन्तान द्वारा अमरत्व का उपभोग करें[२१]।

---

१. ऋ० १।१२।१, २।२।११, ४।८, ९।५, १२, ३।५।११, ६।११, ७।११, १३। १५।७, १६।३, ४।२।१२, ६।१३।६, ७।४।६, ८।७१।६, १०।३५।१२ आदि।
२. १।१०।६, २।३०।५, ४, ३।३६।१०, ६।१८।६, १९।१२, ८।९८।१०; १०।१२८।८ इत्यादि।
३. ९।९।९,३०।३,४२।६,५९।१,६०।४,६८।१०,६९।८,९७।२१,१०।१२८।५।
४. १।६४।१५,५।५३।१५,७।५६।२०,५७।६,९२।३।
५. १।११६।२५, ११७।२३,२५।१२८।२,५।४२।१८, ४३।१७
६. २।२३।१९,२४।१६,४।५०।६॥
७. ४।३।७, ५।८२।४।
८. १०।३७।७।
९. ३।५४।८।
१०. ३।६९।३।
११. ७।३४।२०।
१२. १०।८५।४३।
१३. ७।६९।६।
१४. १०।१५।११।
१५. ५।४६।७।
१६. ७।४१।७,७५।७।
१७. पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम्।
तस्यां पुनर्नवो दशमे मासि जायते। —एतरेय०ब्रा० ७।१३
तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते। —गो०ब्रा० १।२
१८. आत्मा वै पुत्रनामासि स सं जीव शरदः शतम्। —श०ब्रा० १४।९।४।२६
१९. प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि। —ऋ० ६।७०।३।१०।६३।१३
२०. प्रजामनु प्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतम्। —तै०ब्रा० १।५।५।६
२१. प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्। —ऋ० ५।४।१०

यद्यपि कुल का विस्तार कन्याओं के द्वारा भी होता है, किन्तु वंशवर्धन की दृष्टि से पुत्र, पुत्री की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह पूर्ण करता है। पिता स्वर्गवासी हो जाता है, किन्तु पुत्र द्वारा उसके वंश की अविच्छिन्नता बनी रहती है। पुत्र ही उसका नाम लेवा और पानी देवा होता है। यह मुहावरा हिन्दी भाषा में बड़ा प्रसिद्ध है। अतएव पुत्र-प्राप्ति की अभिलाषा मनुष्य में स्वाभाविक है।

८. सन्तानोत्पत्ति (गर्भाधान)

सन्तान-प्राप्ति के कारणों पर विचार किया जा चुका है। अब इसकी उत्पत्ति के विषय में विचार करना आवश्यक है। भारतीय संस्कृति में संस्कारों का बड़ा महत्त्व है। इसीलिए संस्कारों के लिए एक पृथक् साहित्य का निर्माण किया गया है, जिनमें विधि-विधानों का पूर्णरूप से विवरण मिलता है। सम्पूर्ण मानवजीवन संस्कारों पर आधारित है और मानवजीवन की आधारशिला 'गर्भाधान-संस्कार' से रखी जाती है। इसलिए संस्कारों में गर्भाधान का विशेष स्थान स्वतः सिद्ध है। धर्मशास्त्रों में इसके विषय में अशुचिता का भाव भी प्रकट नहीं किया गया है। अधिकांशतः गृह्यसूत्र गर्भाधान-संस्कार से ही आरम्भ होते हैं।

गर्भाधान का लक्षण—

पूर्वमीमांसाकार ने इसका लक्षण इस प्रकार से किया है, जिस कर्म के द्वारा पुरुष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है, उसे 'गर्भाधान' कहते हैं[१]। ऋषि दयानन्द द्वारा प्रणीत संस्कारविधि में इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है—'गर्भाधान अर्थात् वीर्य का स्थापन गर्भाशय में स्थिर करना जिस कर्म से होता है उसको गर्भाधान कहते हैं[२]।'

इन लक्षणों से इतना तो स्पष्ट है कि यह कोई काल्पनिक धार्मिक कृत्य नहीं, अपितु एक यथार्थ कर्म होता है, जो कि गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, स्मृति और अन्य परवर्ती साहित्य में मुखरित हुआ है। जिसमें इस बात पर विचार किया गया है कि गर्भाधान कब हो, इसकी स्वीकृत एवम् अस्वीकृत रात्रियाँ कौन सी हैं, किस नक्षत्र में इसको स्थापित करना चाहिए तथा सहवास के बाद पुरुष को स्नान करना चाहिए अथवा स्त्री को अथवा केवल पुरुष को ही स्नान करना चाहिए।

जिस प्रकार से ऋग्वेद में विवाह केवल सामाजिक कृत्य न होकर धार्मिक कर्म भी है। उसी प्रकार गर्भाधान भी केवल दम्पती का शारीरिक कर्म न होकर धार्मिक कृत्य भी है, इसमें भी देवों से प्रार्थना की गई है। विष्णु गर्भाशय निर्माण करें, त्वष्टा उसके रूप को गढ़े, प्रजापति बीज वपन करें, सिनीवाली और सरस्वती भ्रूण को स्थापित करें। पुष्पों से सुशोभित

---

१. **गर्भः संधार्यते येन कर्मणा, तद् गर्भाधानमित्यनुगतार्थं कर्म नामधेयम्।**
पूर्वमीमांसा अ० १ पा० ४, अधि २, हिन्द संस्कार पृ० ५९ पर उद्धृत।

२. **गर्भस्याधानं वीर्यस्थापनं स्थिरीकरणं यस्मिन् येन वा कर्मणा तद् गर्भाधानम्।**
—संस्कारविधि—पृ० ५६ पर उद्धृत।

अश्विनीकुमार तुम्हारे भ्रूण को प्रतिष्ठित करें।[१]

ऋग्वेद में ऐसा कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता है, जिससे यह भी विदित हो कि अमुक रात्रि में गर्भाधान करना चाहिए, जैसाकि मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में पत्नी के ऋतुस्नान की चतुर्थ रात्रि से १६वीं रात्रि तक का समय उपयुक्त माना गया है।[२]

परन्तु ऋग्वेद में गर्भाधान के लिए पति-पत्नी की उत्कट अभिलाषा का उल्लेख अवश्य किया गया है। पत्नी पति से कहती है—हे पुत्रकाम (पुत्र की कामना करनेवाले) मैंने तुम्हें संकल्प-विकल्प करते हुए देखा है और तुम्हें कठोर तप से व्याप्त पाया है। तुम्हें भी सन्तान की कामना है तो आओ हम गृहस्थ धर्म का पालन करें। तुम उत्तम सन्तान के रूप में स्वयम् उत्पन्न होओ।[३] इसी प्रकार पति भी पत्नी से कहता है—हे पुत्रकामे, (पुत्र की कामना करनेवाली) मैं तुम्हें मन से ध्यान करता हुआ देख चुका हूँ, तू ऋतु काल में सौभाग्य से सम्पन्न देखी गई है। तू यौवन से युक्त मेरे पास आकर सन्तान को उत्पन्न करनेवाली हो।[४]

पत्नी ऋतुस्नान के पश्चात् सुन्दर वस्त्र धारण करती है एवम् अपना प्रसाधन भी करती है और पति से मिलती है, इस प्रकार का वर्णन ऋग्वेद में विविध प्रसंगों में आया हुआ है। अग्न्याधान करने के लिए सुसज्जित भूमि के विषय में कहा है, यह वह पवित्र स्थान है जिसे हमने तुम्हारे लिए तैयार किया है जो कामना करनेवाली उस पत्नी के समान है जो पति के लिए सुन्दर वस्त्र धारण करती है।[५] वाणी की प्रशंसा करते हुए पति के प्रति पत्नी के समर्पण का भाव व्यक्त किया गया है—कोई तो वाणी को देखते हुए भी नहीं देखता, कोई उसे सुनते हुए भी नहीं सुनता और किसी के लिए (वाणी) इस प्रकार अपने शरीर को खोल देती है, जिस प्रकार सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए पत्नी पति के लिए अपने शरीर को।

सहवास का उल्लेख—

आरोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै।

—अथर्व० १४।२।३१

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति।
या न ऊरु उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम्॥

—ऋ० १०।८५।३७

आरोहोरुमुप धत्स्व हस्तं परिष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः।
प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु॥

—अथर्व० १४।२।३९

---

१. ऋग्वेद १०।१८४।२ २. मनु० ३।२, याज्ञ० १।७९

३. **अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्।**
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकाम॥ —ऋ० १०।१८३।१

४. **अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्।**
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकामे॥ —ऋ० १०।१८३।२

५. **उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।**
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ —ऋ० १०।७१।४

गर्भरक्षण—

ऋग्वेद में गर्भरक्षण का भी उल्लेख हुआ है, जिससे गर्भपात न हो बल्कि पूर्ण होकर सन्तानरूप में उत्पन्न हो। गर्भपात के जो-जो कारण हो सकते हैं, उन सब का उल्लेख ऋग्वेद १०।१६२ सूक्त में किया गया है और उनके नाश की कामना की गई है।

जब गर्भस्थ बालक कुछ बड़ा हो जाता है, उसका बहुत सुन्दर वर्णन ऋग्वेद ५।७८ सूक्त में करते हुए कहा गया है—वायु जिस प्रकार सभी ओर से सरोवर को संचालित करता है, उसी प्रकार तुम्हारा गर्भ संचालित हो और दस मास के अन्दर शिशु उत्पन्न हो[1]। जिस प्रकार वायु से वन और समुद्र कम्पित होते हैं, उसी प्रकार कम्पित होता हुआ दस मास में परिपक्व होनेवाले गर्भ तू जेर (जरायु) के साथ उत्पन्न हो[2]। गर्भस्थ कुमार, दस मास तक माता की कुक्षी में शयन करनेवाला क्षतिरहित जीवितावस्था में जीवित माता से बाहर आवे[3]। इस प्रकार की कामना यजु० ८।२८ एवं २९वें मन्त्र में भी की गई है, जिससे हर्षदायिनी सन्तान का जन्म हो।

९. सन्तानोत्पादन से वधू के गौरव में वृद्धि—

वैवाहिक जीवन का मुख्योद्देश्य वैध सन्तानों की प्राप्ति करना होता है। जिससे कुल-परम्परा अवछिन्न रहती है और सन्तान का आधार वधू होती है। इसलिए वधू का परिवार एवं समाज में सम्मान होना स्वाभाविक ही है। जिस (सन्तान) के सम्बन्ध में ऋग्वेद १०।८५ सूक्त में उल्लेख हुआ है।

विवाह सूक्त में सन्तान प्राप्ति का निर्देश किया गया है। ऋग्वेद १०।८५ मन्त्र ३७ में पूषा देव से प्रार्थना की गई है कि पूषा उस (वधू) को शिवतमा बनावें जिसमें मनुष्य बीज बोते हैं। इसी सूक्त की ४१वीं ऋचा में कहा गया है कि अग्नि ने धन दिया, पुत्र दिये और यह पत्नी प्रदान की। अगली ४२वीं ऋचा में पति और पत्नी को आशीर्वाद का विधान किया गया है कि वे पुत्र तथा पौत्रों के साथ सानन्द क्रीडा करते हुए घर में रहें। ऋक् १०।८५।४३ में दम्पती की प्रार्थना है कि प्रजापति उनके लिए सन्तान उत्पन्न करें। आगे ४४वीं ऋचा में पत्नी के लिए 'वीरसूः' की कामना की गई है। ४५वीं ऋचा में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि उदार इन्द्र इस वधू को पुत्रवाली और सौभाग्यवती बनावे तथा इसमें १० पुत्र उत्पन्न करे। २७वीं ऋचा में पत्नी से अपने प्रिय को सन्तान द्वारा समृद्ध करने की इच्छा व्यक्त की गई है। २५वीं ऋचा में भी पत्नी के लिए सुपुत्रा होने की कामना की गई है। इस प्रकार

---

१. **यथा वातः पुष्करिणी समिङ्गयति सर्वतः।**
एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः॥ —ऋ० ५।७८।७

२. **यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।**
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा॥ —ऋ० ५।७८।८

३. **दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि।**
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि॥ —ऋ० ५।७८।९

वैवाहिक मन्त्रों में विशेषकर पुत्र सन्तान की ओर विशेष निर्देश किया गया है। सन्तान की इतनी महत्ता होने पर उसके जन्मदात्री वधू का परिवार में गौरव बढ़ना स्वाभाविक ही है।

१०. वधू की शालीनता का उल्लेख—

वधू की शालीनता इसी में है कि वह सदा वस्त्रों में आवृत रहे, कभी भी बड़े जनों के समक्ष निर्लज्जता का प्रदर्शन न करे, जिसकी चर्चा ऋग्वेद ८।२६।१३ में की गई है—जैसे वधू वस्त्र से ढकी रहती है वैसे ही जो मनुष्य यज्ञ से आवृत (घिरा हुआ) रहता है, अश्विनौ उसकी परिचर्या (देख-रेख) करते हुए उसका कल्याण करते हैं[1]। ऋग्वेद में जहाँ परोक्षरूप से वधू को वस्त्रावृत रहने का उल्लेख हुआ है वहाँ स्त्री को वस्त्रों से आच्छन्न रहने का प्रत्यक्ष उल्लेख किया गया है।

अधा पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादुकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ॥ —ऋक् ८।३३।१९

नीचे की ओर देखो, ऊपर को नहीं, पैरों को मिलाकर रखो, तेरे कटि प्रदेश का भाग और ओष्ठ प्रान्त वस्त्र से ढके हों, दिखाई न दें, क्योंकि (तू) स्त्री ब्रह्मा हुई हो।

जिस प्रकार ब्रह्मा अपने यज्ञ का स्वामी होता है, जैसे उसका आदेश सभी ऋत्विज एवं यजमान पालन करते हैं और जैसा उसका आचरण होता है सभी पर उसका प्रभाव पड़ता है, उसी तरह से वधू गृहस्वामिनी होती है, पूरा परिवार उसका अनुवर्ती होता है, जैसा उसका आचरण होगा, परिवार पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा। इसलिए वधू को शालीनता के साथ परिवार में रहना चाहिए, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में स्पष्टरूप से किया गया है।

११. पति एवं पत्नी का पारस्परिक महत्त्व—

जिस प्रकार दो बैलों से चलनेवाली गाड़ी में दोनों बैलों का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा एक के न होने से उस गाड़ी का चलना रुक जाता है। ठीक इसी प्रकार वैवाहिक जीवनरूपी गाड़ी में पति और पत्नी अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। एक के विना वैवाहिक जीवन भार प्रतीत होने लगता है।

ऋग्वेद में इसके सम्बन्ध में अनेक स्थानों पर उल्लेख किया गया है—ऋक् १०।८५ की ऋचा २५ और ४५ के अनुसार पति के जीवितावस्था में पत्नी 'सुभगा' कहलाती है और इसी सूक्त में पति सौभाग्य के लिए पत्नी का हाथ ग्रहण करता है। इन्द्राणी को स्त्री जाति में सुभगा (सुहागिनी) कहा गया है, क्योंकि उसका पति वृद्धावस्था के कारण कभी मरता नहीं[2]। पति के

---

१. **यो वां यज्ञेभिरावृतोऽधिवस्त्रा वधूरिव।**
सपर्यन्ता शुभे चक्राते अश्विना॥ —ऋक् ८।२६।१३

२. **इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्।**
नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ —ऋ० १०।८६।११

जीवित होने पर ही पत्नी अलंकरण प्रसाधन कर सकती है, क्योंकि ऋग्वेद १०।१८ सूक्त में आभूषण तथा अंगराग धारण करनेवाली स्त्रियों के लिए 'अविधवा' विशेषण का प्रयोग किया गया है[1]। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि—'विधवा' इनको धारण नहीं करती, 'मृतपतिका' का नाम विधवा होता है, जो कि नारी जीवन के लिए सन्तापदायक है, अतएव नारी के जीवन में पति का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

पति भी पत्नी के वियोग में दुःखी अवश्य होता है, क्योंकि उसका तो घर ही उजड़ गया। ऋग्वेद ३।५३।४ के अनुसार पत्नी ही घर है—'जायेदस्तम्'—इसलिए इसमें इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि मघवन् पत्नी ही 'घर' है वही 'योनि' (स्थान) है इसलिए रथ में जुड़े हुए घोड़े तुम्हें वहाँ ले-जाएँ[2]।

पत्नी के कारण सन्तानों की उपलब्धि होती है जो कि पारिवारिक परम्परा को अक्षुण्ण रखती है। पत्नी की प्राप्ति के लिए विवाह में धन भी व्यय होता है। अतः पति-पत्नी के कल्याण और आयुष् की कामना करता है[3]। सायण के अनुसार ऋग्वेद १०।४।२० में पत्नी के प्राणों के लिए पतियों के रुदन करने का कथन किया गया है[4]। इससे प्रतीत होता है कि पति के जीवन में पत्नी का कम महत्त्व नहीं है।

१२. पति और पत्नी का पारस्परिक व्यवहार—

(१) प्रेम एवं सौहार्द—

पति और पत्नी का सम्बन्ध ही सौहार्द से जीवित रहता है। वैवाहिक सूक्त में पति-पत्नी दोनों देवों से प्रार्थना करते हैं—हे विश्वेदेवा! हम दोनों के हृदयों में सामञ्जस्य स्थापित करो[5]। ऋग्वेद में विविध प्रसंगों में पति और पत्नी के सौहार्दपूर्ण व्यवहारों का वर्णन हुआ है। पति-पत्नी दोनों एक दूसरे की कामना करते हैं और पत्नी पति को आनन्दित करती है। एक स्थान पर अग्निमन्थन में संलग्न अंगुलियों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—एक स्थान पर रहनेवाली (सनीडाः) अंगुलियाँ इस प्रकार आनन्दित करती हैं, जैसे कामना करनेवाली पत्नियाँ, कामना करनेवाले पति को आनन्दित करती हैं[6]। उषस् को पति चाहनेवाली सुसज्जित पत्नी के समान चित्रित किया गया है[7]। सोम के सम्बन्ध में कहा गया है कि तू इस प्रकार स्तुतिकर्त्ता को सुख

---

१. इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥　—१०।१८।७
२. जायेदस्तं मघवन् त्सेदु योनिस्तदित् त्वा युक्ता हरयो वहन्तु।　—ऋ० ३।५३।४
३. स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु।　—ऋ० १०।६३।१५
४. जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः।
रोदनेनापि जायानां जीवनमेवाशासत इत्यर्थः। द्र०सा०भा०। —ऋ० १०।४०।१०
५. समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ।　—ऋ० १०।८५।४७
६. उप प्र जिन्वन्नुशतीरुशन्तं पतिं नित्यं जनयः सनीळाः।　—ऋ० १।७१।१
७. जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्त्रेव नि रिणीते अप्सः।　—ऋ० १।१२४।७

देता है जैसे पत्नी पति को सुख देती है[1]। ऋग्वेद १०।९१।१३ में अग्नि की स्तुति करते हुए कहा गया है—अग्नि, नूतन स्तुति, सुन्दर वस्त्र धारण करनेवाली प्रेम-दीवानी पत्नी के समान उसके (अग्नि के) हृदय में प्रवेश पा लेगी[2]। ऋग्वेद के इन प्रसंगों में पत्नी का प्रेम पति के लिए प्रदर्शित किया गया है।

ऋग्वेद में अनेक स्थान ऐसे भी हैं, जहाँ पर पति का प्रेम पत्नी के लिए हुआ है। केवल पत्नी का एकांगी प्रेम हो ऐसी बात नहीं है। यह सच है कि पति प्रेम के प्रदर्शन के प्रसंग में पत्नी की अपेक्षा कम उद्घाटित हुए हैं। इन्द्र की स्तुति करते हुए ऋक् ४।२०।५ में कहा है—'अनेक व्यक्तियों द्वारा आहूत किये जानेवाले उस इन्द्र की अपनी पत्नी का ध्यान करनेवाले प्रेमी के समान मैं प्रशंसा करता हूँ[3]। एक अन्य स्थल पर कहा है—(इन्द्रः) हमारी वाणियों में आनन्द ले, जैसे पति पत्नी में आनन्द लेता है[4]। इन्द्र को अपनी पत्नी के साथ हर्षित होने की भी प्रार्थना की गई[5]।'

श्रेष्ठ पत्नी का आदर्श पति की अनुव्रता होने में है, जैसा कि अक्ष सूक्त से विदित होता है[6]। पति के द्वारा सेवित आनन्दनीय (अनवद्या) समझा गया है, क्योंकि अग्नि को पति सेवित नारी के समान अनवद्य कहा गया है[7]। पति-पत्नी के इन सम्पूर्ण प्रसंगों पर दृष्टिपात करने से यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि सामान्य रूप से इन दोनों के सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण हैं।

(२) परस्पर द्वेष तथा कलह—

जहाँ ऋग्वेद में दाम्पत्य जीवन का सुन्दर एवं मनमोहक चित्र प्रस्तुत किया गया है वहाँ जीवन के कटु सत्यों का भी वर्णन किया गया है। यह बात स्वाभाविक भी है कि इतने लम्बे जीवन में कभी-कभी थोड़ी बहुत कटुता हो ही जाती है। एक दूसरे के दोषों का कष्ट सहन करते-करते यह कहना पड़ता है कि यह हमें पसन्द नहीं है।

दाम्पत्य जीवन का सब से बड़ा अभिशाप है—'बहुपत्नी-विवाह'। जिसमें सपत्नियाँ आपस में पहले कलह करती हैं, जिसके परिणामस्वरूप पति को भी कष्ट भोगने पड़ते हैं। ऋग्वेद में दो पत्नीवाले पीड़ित पति को दो बाँसों के बीच में जुड़े हुए घोड़े के समान चित्रित किया गया है[8]। एक अन्य स्थल पर विपत्ति में पड़े उपासक ने अपने कष्टों को सपत्नियों (सौतों) से उत्पन्न होनेवाले सन्ताप के समान कहा है।

ऋग्वेद में ऐसे भी स्थल प्राप्त होते हैं जहाँ पत्नियाँ पतियों से द्वेष करती

१. **जायेव पत्यावधि शेव मंहसे।** —ऋ० ९।८२।४
२. ऋक् १०।९१।१३
३. **मर्यो न योषामभिमन्यमानोऽच्छा विवक्मि पुरुहूतमिन्द्रम्।** —ऋ० ४।२०।५
४. ......**जोषयासे गिरश्च नः। वधूयुरिव योषणाम्।** —ऋ० ४।३२।१६
५. ऋग्वेद १।८२।६।
६. ऋग्वेद ७।३४।२।
७. **अनवद्या पतिजुष्टेव नारी।** —ऋ० १।७३।३
८. **उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः।** —ऋ० १०।१०१।११

हैं और दुराचारिणी होती हैं[१]। लेकिन ऋग्वेद में पतियों द्वारा द्वेष की गई पत्नियों के विषय में भी कहा गया है[२]। कभी-कभी कलह इतनी बढ़ जाती है कि पति, पत्नी का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और पति पत्नी को छोड़ देता है तथा पत्नी दूसरा पति प्राप्त कर लेती है[३]। अक्ष सूक्त की एक ऋचा में पति को पत्नी द्वारा छोड़ दिये जाने का कथन मिलता है[४]। एक अन्य स्थान पर जो सम्भवतः दैवत आख्यान है, जिसमें बृहस्पति के द्वारा अपनी पत्नी 'जुहू' नाम की थी उसको त्याग देने का उल्लेख हुआ है[५]। जिसे सोम एवं अन्य देवों द्वारा और मनुष्यों के हस्तक्षेप करने से बृहस्पति ने सच्चरित्रा मानकर स्वीकार कर लिया है[६]।

यह स्मरणीय है कि ऋग्वेद में इस प्रकार के कलह को आचार की दृष्टि से बुरा माना गया है, क्योंकि जो दोषी होता है उसकी निन्दा की जाती है। इस बात की पुष्टि इस प्रसंग से भी होती है कि शुद्ध चरित्रा 'जुहू' नाम की अपनी पत्नी को बृहस्पति के द्वारा पुनः स्वीकार करना पड़ा, उसके बाद ही देवों ने बृहस्पति को निष्पाप (अपराधमुक्त) घोषित किया है[७]। इसी प्रकार ऋग्वेद ४।५।५ में पतियों से द्वेष करनेवाली पत्नियों को दुराचारिणी कहा गया है और असत्य एवम् अनृत आचरण करनेवाले पापियों के समान बताया गया है जो कि नैतिक दृष्टि से उचित ही है।

१३. ऋग्वेद में स्त्री के प्रति भावना—

ऋग्वेद में स्त्री जाति के प्रति सामान्य रूप से गौरवमय भावना पाई जाती है, जो इस बात से भी सिद्ध होती है कि वधू या स्त्री के लिए अनेक प्रशंसा सूचक शब्दों का प्रयोग किया गया है।

ऋग्वेद १०।८५ सूक्त में पति के समान 'दम्पती' या 'गृहपत्नी' कहा गया है और 'सम्राज्ञी' (परिवार पर शासन करनेवाली) का आशीर्वाद दिया गया है। ऋग्वेद १।७३।३ में नारी के लिए 'अनवद्या' (पवित्र नारी) विशेषण से अभिहित किया गया है तो ऋक् ४।१६।१० में 'ऋतचित् नारी' कहा गया है और ऋग्वेद ३।५३।४ में जाया ही घर है—'जायेदस्तम्' कहकर उसकी गौरवमय स्थिति का उल्लेख किया गया है।

ऋग्वेद में कुछ मन्त्र ऐसे अवश्य हैं जिनसे स्त्रियों की निन्दा की जाने की सम्भावना प्रतीत होती है, जैसे पुरुरवस् और उसकी प्रेयसी उर्वशी के प्रसंग में आया है कि जब पुरुरवस् ने अपनी प्रेयसी उर्वशी के वियोग में प्राण त्यागने की बात कही उस समय उसकी प्रेयसी उर्वशी ने कहा—स्त्रियों की

१. **सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः।** —ऋ० १।१०५।८, १०।३३।२
२. ऋ० ४।५।५
३. **कुवित् पतिद्विषो यतीरिन्द्रेण सङ्गमामहै।** —ऋ० ८।९१।४
४. **परिवृक्तेव पतिविद्यमानट्।** —ऋ० १०।१०२।११
५. ऋ० १०।३४।३।७. ऋ० १०।१०९।२,५।
६. ऋ० १०।१०९।६।
७. **पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वी देवैर्निकिल्विषम्।** —ऋ० १०।१०९।७

मित्रता स्थिर नहीं होती, क्योंकि उनके हृदय सालावृकों (भेड़ियों) के समान होते हैं[१]।

उल्लेखनीय बात यह है कि यह वचन एक स्त्री के द्वारा कहा गया है जब कि उसका पति (प्रेमी) उसके वियोग में प्राण त्याग देने की बात कह रहा है। ऐसी अवस्था में अपने प्रति हुई आसक्ति को हटाने के लिए किया गया वाक्य-प्रयोग निन्दावचन नहीं कहा जा सकता, अपितु उसकी प्राण-रक्षा के लिए किया गया यह प्रयोग, उसकी प्रशंसा किये जाने योग्य है, क्योंकि इससे उसके हृदय की दयालुता परोक्ष रूप से प्रकट होती है।

१४. पति के अधिकार तथा कर्त्तव्य—

आज भी जब पति के अधिकार एवं कर्त्तव्य पर विचार किया जाता है तब सर्वप्रथम पति का अधिकार पत्नी पर पूर्ण प्रभुत्व रखना ही माना जाता है और कर्त्तव्यों के विषय में कहा जाता है कि पत्नी की आवश्यकताओं को पूर्ण करना तथा उसकी हर प्रकार से रक्षा करना पति का कर्त्तव्य है।

डॉ० शिवराज शास्त्री का मत है कि—ऋग्वेद में प्रत्यक्ष रूप से पति के अधिकार और कर्त्तव्यों का उल्लेख नहीं हुआ है, लेकिन 'पति और भर्त्ता' नाम से ही उसके अधिकारों और कर्त्तव्यों का बोध हो जाता है। कोई पुरुष अपनी पत्नी पर पूर्ण प्रभुत्व रखने के कारण उसका पति कहलाता था तथा पालन-पोषण एवं भरण के कारण उसका भर्त्ता कहलाता था[२]। पति को पत्नी पर सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं, वह अपनी पत्नी को त्याग भी सकता है[३], तथा त्यागी हुई को पुनः ग्रहण भी कर सकता है[४]। एक पत्नी के रहते हुए सम्भवतः दूसरा विवाह तभी करने का अधिकारी होता है जब कि पहली पत्नी 'बाँझ' हो अथवा दीर्घकालीन किसी भयंकर रोग यक्ष्मा आदि से ग्रसित हो अथवा प्रसव में पुत्रियाँ ही उत्पन्न होती हों तो पुत्र सन्तान के लिए दूसरा विवाह कर सकता है, क्योंकि पुत्र सन्तान की महत्ता ऋग्वेद में बहुत बार प्रकट की गई है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

परन्तु पत्नी-त्याग के इन कारणों का वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होता है, लेकिन सपत्नियों का हवाला ऋग्वेद में दिया गया है, जिससे इन कारणों का अनुमान लगाना सहज ही प्रतीत होता है। दूसरी बात यह है कि धर्मशास्त्रों में जहाँ पति को दूसरा विवाह करने का अधिकार दिया गया है वहाँ इस बात का स्पष्ट निर्देश किया गया है कि दूसरा विवाह उसी अवस्था में हो सकता है कि जब प्रथम पत्नी बन्ध्या, मृतप्रजा, स्त्रीजननी, अप्रियवादिनी आदि दोषों से युक्त हो[५]। याज्ञ० स्मृति में सुरापान करनेवाली, रोगिणी, धूर्तिनी, अर्थनाश करनेवाली और पुरुष द्वेषी स्त्री के होने पर दूसरा विवाह करने का अधिकार दिया गया है[६]।

---

१. **न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता।** —ऋ० १०।९५।१५
२. ऋ० पा० स० पृ० ३५७।
३. ऋ० १०।१०२।११।
४. ऋ० १०।१०९।७।
५. मनु० ९।८१।
६. याज्ञ० १।७३।

पति द्वेषिणियों का उल्लेख ऋग्वेद में भी हुआ है[१]। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में धर्म तथा प्रजा से सम्पन्न पत्नी के रहते अन्य पत्नी करने का निषेध किया गया है[२] और निर्दोष पत्नी का व्यतिक्रमण करनेवाले को प्रायश्चित्त का विधान किया गया है[३] परन्तु ऋग्वेद में पति के अधिकारों पर ऐसा प्रतिबन्ध प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि राजा अनेक पत्नियों से घिरा हुआ कहा गया है[४]। और अनेक स्थलों पर एकवचन पुरुष के साथ बहुवचन 'जनि' आदि स्त्रीलिंग प्रयोग पाये जाते हैं[५]।

वैवाहिक सूक्त में पति-पत्नी का हाथ ग्रहण कर प्रतिज्ञा करता है कि मैं तेरा हाथ सुहाग के लिए ग्रहण करता हूँ और तू आजीवन हमारे साथ रह[६]। इस प्रतिज्ञा के साथ पति का नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है कि वह पत्नी का आजीवन भरण-पोषण करे और गृहकार्य की आवश्यक वस्तुएँ जुटाए, क्योंकि भरण-पोषण के कारण ही पति को 'भर्त्ता' माना जाता है[७]। जब पति अपना भरण-पोषण रूप कर्त्तव्य पूरा नहीं कर पाता तब उसको खेद होता है, जैसा कि ऋग्वेद के साक्ष्य से विदित होता है कि एक स्तोता ने इन्द्र की स्तुति करते हुए अपनी निर्धनता के कारण पत्नी के अपमान पर पश्चात्ताप प्रकट किया है[८]।

१५. पत्नी के अधिकार तथा कर्त्तव्य—

ऋग्वेद के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि पत्नी पति की सहधर्मिणी है और पत्नी को अपने पति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं, क्योंकि वह घर की स्वामिनी होती है। घर का सम्पूर्ण तन्त्र उसकी देखरेख में चलता है। यदि पुरुष बाहर के होनेवाले व्यापारों का उत्तरदायी है तो पत्नी घर के कृत्यों के लिए उत्तरदायिनी है। इस प्रकार दोनों ही अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं।

पत्नी के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों को हम १. धार्मिक, २. गृह-सम्बन्धी, ३. सम्पत्ति और ४. सामाजिक नामक उपशीर्षकों से समझ सकते हैं।

(१) धार्मिक—

पत्नी के धार्मिक अधिकारों की परवर्ती साहित्य के समान हीनावस्था नहीं है[९], अपितु ऋग्वेद में उन्नतावस्था के दर्शन होते हैं। क्योंकि पत्नी सहधर्मिणी

---

१. ऋ० ४।५।५।

२. **धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत।** —आ० ध० सू० २।५।११,१२

३. आ० ध० सू० १।१०।१८,१९

४. **राजेव हि जनिभिः क्षेष्येव...।** —ऋ० ७।१८।२

५. ऋ० ७।१८।२, २६।३, १०।४३।१।

६. ऋ० १०।८५।३६। ७. ऋ० ५।५८।७

८. ऋ० ४।१८।१३।

९. **अयज्ञिया वै पत्न्यो बहिर्वेदिहिताः।** —शाङ्खा० ब्रा० २७।४

न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न वालिशः।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा॥ —मनु० ११।३६

के रूप में उल्लिखित की गई है, जैसा कि अग्नि के विषय में कहा गया है, जब अग्नि पति-पत्नी को एक मनवाला कर देता है तो वे तुम्हें मित्र के समान घृत से अभिषुत करते हैं[१]। इसी प्रकार इन्द्र के विषय में कहा गया है कि इन्द्र इन दोनों को प्रशंसनीय वचन का विषय बना देता है जो युगल (मिथुना) स्रुवा ऊपर को उठाकर पूजा करता है[२]। ऋग्वेद १।७२।५ में देवों (विद्वानों) द्वारा अग्नि सपर्या (यज्ञ) में पत्नियों को साथ रखने का उल्लेख हुआ है[३]।

पत्नी के धार्मिक कृत्यों के विषय में ऋग्वेद के विवाह सूक्त में भी उल्लेख हुआ है। जिसमें वधू के लिए कामना की गई है कि वह पति घर में सबको अपना वशवर्ती बनाए और देवपूजा (विदथ) में भाग लेवे[४]। गृह-प्रवेश के समय वधू को गृहपति के कार्यों के लिए जागरूक रहने की प्रेरणा देते हुए कहा गया है कि पति-पत्नी वृद्धावस्था पर्यन्त देवपूजा में संलग्न रहें[५]।

ऋग्वेद में पत्नी का सहधर्मिणी के रूप में गौरवपूर्ण स्थान है, वह इससे भी प्रकट होता है कि पत्नी न केवल धार्मिक कृत्यों में ही, अपितु यातुधान तथा शत्रुओं को नष्ट करने की क्रिया में भी पति के साथ भाग लेती है, जैसा कि ऋग्वेद १०।८७।१३ में उल्लेख किया गया है—हे अग्ने! पति और पत्नी (मिथुना) आज जो शाप दे रहे हैं तथा स्तुतिकर्त्ता जो कटुवचन कह रहे हैं क्रोध के कारण मेरे मन से जो भी बाण के सदृश वचन निकल रहे हैं उनसे यातुधानों के हृदय को बींधो[६]।

ऋग्वेद के अनुसार जहाँ पत्नी पति के साथ धार्मिक कृत्यों में भाग लेती है, वहाँ वह आवश्यकता पड़ने पर पति के विना अकेली भी धार्मिक कृत्य कर सकती है। पति के युद्ध में जाने पर पति रक्षा के लिए पत्नी द्वारा इन्द्र तथा वरुण को हवि देकर प्रसन्न करने का भी ऋग्वेद में उल्लेख हुआ है[७]। अपाला को इन्द्र के लिए सोम का सवन करती हुई चित्रित किया गया है[८]। वाध्रिमती अनेक बार अश्विनौ की प्रार्थना करती तथा उन्हें प्रसन्न कर पुत्र-प्राप्ति का वर प्राप्त करती है[९]। सायण भाष्य में विश्ववारा को नमस्कार तथा हवि से देवों की पूजा करते हुए उल्लिखित किया गया है[१०]। लेकिन आगे चलकर सभी वैदिक कर्मकाण्डों से स्त्री को वंचित कर दिया गया है[११]।

---

१. **अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद् दम्पती समनसा कृणोषि।** —ऋ० ५।३।२
२. ऋग्वेद १।८३।३।
३. **संजानाना उप सीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्।**
४. **गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो विशिनी त्वं विदथमा वदासि।** —ऋ० १०।८५।२६
५. ऋग्वेद १०।८५।२७।
६. **यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः।**
मन्योर्मनसः शरव्या जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान्॥ —ऋ० १०।८७।१३
७. **पुरुकुत्सानी हि वामदाशद्धव्येभिरिन्द्रावरुणा नमोभिः।** —ऋ० ४।४२।९
८. ऋ० ८।९१।१।
९. **श्रुतं हवं वृषणा वध्रिमत्याः।** —ऋ० ६।६२।७
१०. **एति प्राची विश्ववारा नमोभिर्देवाँ ईळाना हविषा घृताची।** —ऋ० ५।२८।१
११. **अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।** —मनु० ३२।६६

(२) गृह सम्बन्धी—

ऋग्वेद में पत्नी को जिस प्रकार धार्मिक कृत्यों के करने के लिए किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है, उसी प्रकार गृह-कार्यों का स्वतन्त्रतापूर्वक संचालन करती है। वह अपने घर की स्वामिनी है जिसके कारण वह निर्बाध रूप से अपने कर्त्तव्यों का पालन करती है। ऋग्वेद में पत्नी के उन्नतावस्था सूचक अनेक शब्द पाये जाते हैं जिनमें 'दम्पती' और 'गृहपत्नी' मुख्य हैं। दम्पती शब्द से उसकी उच्च स्थिति अपने पति के समान सूचित होती है, क्योंकि यह 'दम्पती' शब्द द्विवचनान्त पति और पत्नी के लिए प्रयुक्त हुआ है, इसलिए पाश्चात्य विद्वान् मैक्डानल और कीथ ने दम्पती शब्द के आधार पर वैदिक काल में पत्नी की उच्च स्थिति को माना है[१]।

विवाह के समय ऋग्वेद के मन्त्रों से वधू को पतिगृह में जाकर गृहपत्नी होने का आशीर्वाद दिया गया है[२]। और यह कामना की गई है कि वह अपनी सास, श्वसुर, ननद और देवरों पर शासन करनेवाली हो[३]। इस आशीर्वाद से पत्नी के गृहकार्य सम्बन्धी अधिकारों के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रकाश पड़ता है।

ऋग्वेद में पत्नी के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में भी उल्लेख हुआ है जिसमें सन्तान विशेषकर पुरुष सन्तान उत्पन्न करना और धार्मिक तथा सांसारिक कार्यों में पति की सहायता करना ही मुख्य प्रतीत होता है। क्योंकि गृहप्रवेश के समय पत्नी को अपने कर्त्तव्यों के प्रति सचेष्ट रहने के लिए कहा गया है कि पतिगृह में अपने प्रिय को सन्तान से समृद्ध करो तथा गार्हपत्य के लिए जागरूक रहो[४]। ऋग्वेद के अध्ययन से यह भी प्रतीत होता है कि पत्नी सम्भवतः अपने परिवार में प्रातःकाल सर्वप्रथम जागती है और अपने परिवार के अन्य सदस्यों को जगाती है, जिसका संकेत हमें उषस् के वर्णन में उपलब्ध होता है जिसमें उसे गृहिणी (अद्मसद्) के समान सोने वालों को जगाने वाली कहा गया है[५]। परिवार के सभी सदस्यों की देखरेख करना भी पत्नी का कर्त्तव्य माना गया है[६]। पत्नी सारे परिवार का कल्याण करनेवाली होती है, क्योंकि ऋग्वेद में एक स्थान पर नदियों को पत्नी के समान क्षेम (कुशलता या कल्याण) करनेवाली कहा गया है[७]। इन सब उपयुक्त प्रमाणों से पति तथा अन्य परिवार के सदस्यों के प्रति पत्नी की कर्त्तव्यपरायणता एवं पारिवारिक जीवन के प्रति निष्ठा प्रतीत होती है।

ऋग्वेद में जहाँ परिवार के सदस्यों के प्रति कर्त्तव्यपरायणता का उल्लेख हुआ है, वहाँ सेवकों तथा पशुओं के प्रति भी पत्नी की कर्त्तव्य भावना का

---

१. वैदिक इण्डैक्स भाग १, पृ० ३४०।
२. **गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासः।** —ऋ० १०।८५।२६
३. ऋ० १०।८५।४६।
४. ऋ० १०।८५।२७।
५. **अद्मसन्न ससतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात् पुनरेयुषीणाम्।** —ऋ० १।१२४।४
६. **जायेव योनावरं विश्वस्मै।** —ऋ० १।६६।५
७. **क्षेमं कृण्वाना जनयो न सिन्धवः।** —ऋ० १०।१२४।७

वर्णन किया गया है[१]। परिवार में पत्नी का व्यवहार अत्यन्त मधुर होता है वह अपने प्रेममय व्यवहार के बल पर ही परिवार की शासिका बनी है। वह अपने मान्य वृद्ध सास-श्वसुर को सेवा-शुश्रूषा से अपना वशवर्ती बनाती है। वह उनके भोजन-छादन का विशेष ध्यान रखती है, और यदि उसका पति अपने माता-पिता से अलग रहता है तो ऐसी अवस्था में वह उनको सम्मान के साथ भोजन के लिए आमन्त्रित करती है, ऋग्वेद में वधू को अपने श्वसुर को भोजन करने के लिए प्रतीक्षा करते हुए दिखाया गया है—'अन्य सब (अरि[२]) आ गये केवल मेरे पिता (श्वसुर) ही नहीं आये। बहुत अच्छा होता यदि वह भी धाना खाते और सोमपान करते तथा अच्छी प्रकार से भोजन करके अपने घर चले जाते[३]।'

डॉ० शिवदत्त ज्ञानी ने पत्नी के विषय में लिखा है—"तत्कालीन सामाजिक जीवन में उसका स्थान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण था। उसके तीन प्रकार उत्तरदायित्व को ध्यान में रखकर ही उसके लिए तीन पद निर्धारित किये गये थे, जैसे गृहिणीपद[४], मातृपद[५], एवं सहचरी[६] पद, ये तीन पद उसके पारिवारिक जीवन से सम्बद्ध थे तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। किन्तु इसके अतिरिक्त उसे अधिकार था कि वह आत्मविकास के पथ में अग्रसर होकर व नागरिकता के उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए सांस्कृतिक विकास द्वारा समाज की सेवा में अपना हाथ बँटाये[७]"। "वह गृह के आन्तरिक जीवन की शासनकर्त्री थी[८]"। उपर्युक्त उद्धरण से भी यही प्रकट होता है कि पत्नी अपने गृहकार्य में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होकर कर्त्तव्यों का निर्वाह करती है।

(३) साम्पत्तिक अधिकार—

पत्नी के धार्मिक तथा गृह सम्बन्धी अधिकारों के विषय में ऋग्वेद की साक्षी पर्याप्त स्पष्ट है, किन्तु उसके साम्पत्तिक अधिकार के विषय में वैदिक-इण्डैक्स के लेखकों ने लिखा है—विवाह के बाद पति और पत्नी के वैधानिक सम्बन्ध को व्यक्त करनेवाले विवरण अत्यन्त अल्प मात्रा में ही उपलब्ध हैं। यह माना जा सकता है कि पत्नी के घर से यदि कुछ दहेज मिला हो अथवा

---

१. **शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।** —ऋ० १०।८५।४३,४४
२. डॉ० बेन्वेनिस्ट का विचार है कि ऋग्वैदिक आर्य विवाह के प्रयोजन के लिए दो वर्गों में विभाजित थे और ऐसे दो वर्ग जिनके व्यक्तियों का परस्पर विवाह हो सकता था, एक दूसरे की दृष्टि में 'अरि' होते थे। इसलिए यहाँ पुत्रवधू ने अपने श्वसुर के लिए सपक्षों को 'अरि' कहा है—द्र० अर्ली ब्राह्मणीकल सिस्टम आफ गोत्र एण्ड प्रवर—पृ० १३। ऋ० पा० स०, पृ० ३६३ पा० टि० ५ पर उद्धृत।
३. ऋ० १०।२८।१।
४. **जायेदस्तम्** ऋ० ३।५३।४, **गार्हपत्याय जागृहि।** ऋ० १०।८५।२७
५. ऋ० ७।८१।४, ७।५६।१६।
६. ऋ० १०।८५।३६,४२।
७. वेदकालीन समाज, पृ० १५१।
८. वही पृ० १५२।

पत्नी का अपना ही कुछ स्वार्जित धन हो तो उन दोनों पर पति का अधिकार हो जाता था[१]। यथार्थ बात यह है कि पति और पत्नी विवाह के अवसर पर दो शरीर रहते हुए भी एक हृदय होने की प्रतिज्ञा करते हैं[२]। जब दोनों मन से एक हो जाते हैं तब उनके पृथक् रूप से सम्पत्ति रखने का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरा कारण यह है कि विवाह में पाणिग्रहण के अवसर पर पति अपनी प्रिय पत्नी के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर उसकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति का वचन देता है[३]। अतः पत्नी को पति के धन पर स्वतः ही अधिकार है। यही कारण है कि परवर्ती वैदिक साहित्य में जिस प्रकार 'स्त्रीधन'[४] अथवा 'पारिणाह्य'[५] के रूप में पत्नी का पति से पृथक् धन स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता।

यद्यपि सायण के द्वारा ऋग्वेद में शशीयसी द्वारा श्यावाश्व को धन देने का उल्लेख स्वीकार किया गया है[६], किन्तु ऋग्वेद में इस विषय का स्पष्ट प्रमाण नहीं है कि शशीयसी ने श्यावाश्व को जो धन दिया है वह उसके अधिकार का धन है अथवा पति की सहमति से दिया। इसके विपरीत पाश्चात्य विद्वान् 'शशीयसी' को 'तरन्त' की पत्नी न मानकर स्त्रीलिंग विशेषण मानते हैं। इसीलिए ग्रिफिथ ने शशीयसी का अर्थ 'मोरफर्म' किया अतः यह प्रमाण पत्नी के साम्पत्तिक अधिकार को पूर्णतया पुष्ट करता हुआ प्रतीत नहीं होता।

प्रो० अविनाशचन्द्र दास[७] ने ऋग्वेद १०।१०२।११ को[८] निःसन्तान विधवा के दायाधिकार की सिद्धि में उद्धृत किया है, किन्तु कतिपय विद्वानों के अनुसार इस ऋक् में पति द्वारा परित्यक्ता अथवा उपेक्षिता पत्नी द्वारा पुनः पति के अनुग्रह-पात्र होने का उल्लेख है।[८] ग्रिफिथ ने इस ऋचा के प्रथम चरण का अनुवाद इस प्रकार किया है—परित्यक्ता पत्नी के समान उसने पति प्राप्त कर लिया[९]। इस प्रकार ऋग्वेद, पत्नी के साम्पत्तिक अधिकार के विषय में स्पष्ट संकेत नहीं करता है और तैत्तिरीय संहिता स्त्रियों को स्पष्टतया अदायादी कहती है[१०]। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में पति अपने नैतिक कर्त्तव्यों को समझकर स्त्री को समस्त सुख-सुविधा से पूर्ण रखता है तथा पत्नी भी घर में सम्राज्ञी पद प्राप्त करती है[११]। अतः उसके साम्पत्तिक

---

१. वैदिक इण्डैक्स भाग १, पृ० ४८४। २. ऋ० १०।८५।४७

३. ऋ० १०।८५।३६

४. **अध्यग्न्याध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि।**
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥ —मनु० ९।१९४

५. **पत्नी वै पारीणाह्यस्य ईशे।** —तै० सं० ६।२।१।१

६. ऋ० ५।६१।५,६।

७. ऋग्वैदिक कल्चर पृ० २५०।

८. **परिवृक्तेव पतिविद्यमानट्।** —ऋ० १०।१०२।११

९. द्र० ग्रिफिथ कृत ऋग्वेद अनुवाद। —ऋ० १०।१०२।११

१०. **तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीः।** —तै० सं० ६।५।८।२

११. ऋ० १०।८५।४६

अधिकारों का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु उत्तरवैदिक साहित्य में यह उत्तरदायित्व निभाने की प्रवृत्ति कुछ शिथिल हुई तो स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकारों के विषय में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई, क्योंकि आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है।

(४) सामाजिक—

ऋग्वेद में जहाँ पत्नी का धार्मिक एवं गृह सम्बन्धी अधिकारों का उल्लेख हुआ है वहाँ उसके सामाजिक जीवन का चित्रण भी प्राप्त होता है। ऋग्वेद के साक्ष्य से यह कहा जा सकता है कि नारी का सामाजिक जीवन उन्नतावस्था में है, किन्तु उत्तरोत्तर इसका सामाजिक दायरा संकुचित होता गया।

मध्यकालीन हिन्दू नारी के विपरीत ऋग्वेद में पुत्री के समान ही पत्नी भी घर की चारदीवारी के अन्दर बन्दी रहनेवाली नहीं है। वह मेलों तथा उत्सवों के अवसर पर उनमें उन्मुक्त हृदय से भाग लेती है। ऋग्वेद के अनुसार आर्यों के सामाजिक जीवन में उत्सवों की महत्त्वपूर्ण भूमिका से ओतप्रोत मिलते हैं। उन उत्सवों के अवसरों पर विभिन्न प्रकार के आयोजन होते हैं। कहीं घुड़दौड़[१], कहीं ज्ञानचर्चा[२], तो कहीं लक्ष्यभेद[३] आदि का पुरोगम होता है और इनके विजेता पुरस्कृत होते हैं। विवाह योग्य नवयुवक तथा नवयुवतियाँ भी इस अवसर पर अपने योग्य साथी का निर्वाचन करते हैं[४]। ऐसे समारोहों को ऋग्वेद में 'समन' नाम दिया गया है। विवाहित युवतियाँ भी इस अवसर पर नूतन वस्त्राभरणों से सुसज्जित होकर स्मित हास्य को अधर पल्लवों पर संजोए मेलों का आनन्द लेने जाती हैं[५]। अग्नि की ओर बहनेवाली घृत की धाराओं जैसी सुन्दर वसन धारण करके समन में जानेवाली स्मयमान युवतियों से तुलना की गई है[६]। सूर्य की रश्मियों से भासित उषा की उपमा समन में जानेवाली मुस्कराती अलंकृत युवतियों से दी गई है[७]। इसी प्रकार वात (वायु) के अनुगामी जलों की तुलना 'समन' में जानेवाली स्त्रियों से की गई है। ऋग्वेद के अध्ययन से प्रतीत होता है कि समन के प्रसंग में जो प्रायः मुस्कराती स्त्रियों का अधिक चित्रण है उसका यह कारण हो सकता है कि 'समन' को आकर्षक बनाने में युवति स्त्रियों का विशेष हाथ रहा हो।

---

१. **सहस्रधारः शतवाज इन्दुर्वाजी न सप्तिः समना जिगाति।** —ऋ० ९।९६।९
२. **प्र ते नावं न समने वचस्युवं।** —ऋ० २।१६।७
वसानः शर्म त्रिवरूथमप्सु होतेव याति समनेषु रेभन्। —ऋ० ९।९७।४७
३. **धन्वज्या इयं समने पारयन्ती।** —ऋ० ६।७५।३
बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगत्य।
इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः॥ —ऋ० ६।७५।५
४. **जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभगमस्त्वस्यै।** —अथर्व० २।३६।१
५. वैदिक इण्डैक्स, भाग २, पृ० ४२९।
६. **अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्।** —ऋ० ४।५८।८
७. **व्युच्छन्ती रश्मिभिः सूर्यस्याञ्ज्यङ्क्ते समनगा इव व्राः।** —ऋ० १।१२४।८

ऋग्वेद में जहाँ 'समन' में स्त्रियों को भाग लेते परोक्ष रूप में चित्रित किया गया है, वहाँ उनका प्रत्यक्ष रूप से भी उल्लेख हुआ है। जैसा कि ऋग्वेद १०।८६।१० में स्पष्ट रूप से कहा है कि पूर्वकाल में नारी 'यज्ञ' एवं 'समन' में निःसंकोच भाग लेती रही है[1]। किन्तु इतना अवश्य ध्यान रखना होगा कि इन अवसरों पर भी वह मर्यादा का व्यतिक्रमण नहीं करती। उसकी सामाजिक स्वतन्त्रता सापेक्ष है, जिसका वह स्वयं ध्यान रखती है, क्योंकि स्त्री के वसन धारण और चलने के प्रकार का उल्लेख प्रत्यक्ष रूप से ऋग्वेद में उपलब्ध होता है[2]। इसलिए कहा जा सकता है कि वह स्वतन्त्र है, पर उच्छृंखल नहीं।

ऋग्वैदिक समाज में स्त्रियों को सामाजिक स्वतन्त्रता पूर्ण रूप से प्राप्त है जिसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि ऋग्वेद में किसी दास की 'स्त्री सेना' तथा कुछ वीरांगनाओं का युद्ध में भाग लेने का उल्लेख हुआ है[3]। लेकिन नारी की इस स्वतन्त्रता के विपरीत उत्तरवैदिक साहित्य में स्त्रियों के सभा में जाने पर प्रतिबन्ध घोषित किया गया है[4], किन्तु ऋग्वेद में उन पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है[5]। यह सच है कि गृहिणी होने के नाते उसका मुख्य कार्यक्षेत्र घर का सम्भालना ही है। इसलिए ऋग्वेद में मेघों के उदर में संचरण करनेवाली विद्युत् की उपमा गृह के मध्य विचरण करनेवाली मनुष्य की स्त्री से दी गई है[6]।

ऋग्वेद के कतिपय उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि अविवाहित कन्या की अपेक्षा विवाहिता स्त्री को परिधान सम्बन्धी सावधानी अधिक बरतनी पड़ती है। अन्य पारिवारिक पुरुष सदस्यों के साथ व्यवहार करते समय वह पारिवारिक कन्याओं की अपेक्षा अधिक लज्जालु एवं संकोचशीला होती है तथा उसकी चेष्टाएँ नम्रता तथा संयम से युक्त होती हैं। विवाहिता स्त्री में लज्जा तथा संकोच को प्रशंसनीय समझा जाता है, जैसा कि ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्द्र के लिए स्रवित होनेवाले सोम को विवाहिता स्त्री के समान 'अभिसंवृत' कहा गया है[7]। नवविवाहिता वधू अपने परिधान के विषय में विशेषतया सतर्क रहती है[8]।

---

१. ऋ० १०।१६८।२।
२. **स होत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति।** —ऋ० १०।८६।१०
३. **अधः पश्यस्व मोपरि संतरां पादकौ हर।**
मा ते कशप्लकौ दृशन्स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ॥ —ऋ० ८।३३।१९
४. द्र० ऋ० पा० स० पृ० २२९।
५. **निरिन्द्रिया स्त्री पुमानिन्द्रियवाँस्तस्मात्पुमांसः सभां यन्ति न स्त्रियः।** —ऋ० ४।७।४
६. वैदिक इण्डैक्स-भाग २, पृ० ४८५। —ऋ० १।१६७।३
७. **गुहा चरन्ती मनुषो न योषा।**
८. **अयमु त्वा विचर्षणे जनीरिवाभि संवृतः। प्र सोम इन्द्र सर्पतु॥** —ऋ० ८।१७।७
९. **यो वां यज्ञेभिरावृतोऽधिवस्त्रा वधूरिव।** —ऋ० ८।२६।१३

(२) पिता–माता और सन्तानों का पारस्परिक आचरण—

पति पत्नी से जब पिता और माता बन जाते हैं तब उनका आचार-व्यवहार अपने पुत्रों एवं पुत्रियों के प्रति कैसा होता है और पुत्र–पुत्रियों का पिता–माता के साथ एवं परस्पर व्यवहार कैसा होता है। इसका उल्लेख ऋग्वेद में किस प्रकार का किया गया है उस पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

१. पिता और माता—

(क) पिता—

ऋग्वेद में पिता की प्रतिष्ठा सर्वोपरि स्थापित की गई है, वह सभी साम्पत्तिक अधिकारों से सम्पन्न है, पिता परिवार में आदरणीय होता है। ऋक् ८।९८।११ में इन्द्र को माता और पिता के रूप में स्तुति करते हुए कहा गया है—हे वसो! तुम हमारे पिता हो, हे शतक्रतो! तुम्हीं हमारी माता हो, इसलिए हम तुम्हारे सौमनस्य की कामना करते हैं[१]। पुत्र, पिता के वचनों को पालन करने में सदा उत्सुक रहते हैं, अग्नि की प्रशंसा में कहा है—'अग्नि के आदेशों को श्रवण करनेवाले उन्हें ऐसे ही शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण कर देते हैं। जैसे पुत्र पिता के वचनों को पालन करते हैं[२]। ऋक् २।१।९ में अग्नि की स्तुति है—हे अग्ने! मनुष्य तुम्हारी उस प्रकार प्रार्थना करते हैं, जैसे कि पिता की प्रार्थना की जाती है[३]।' ऋग्वेद में पिता को ज्ञान एवं शारीरिक शक्ति से सम्पन्न समझा गया है। इसलिए जो गूढ़ पहेलियों को सुलझा लेता है उसको 'पितुष्पिता' कहा गया है[४]। पिता का व्यवहार बहुत ही स्नेहपूर्ण होता है जिसके कारण पुत्र पिता को अधिक आदर देता है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त में ही अग्नि से पिता के समान सुगम होने की प्रार्थना की है—हे अग्ने! तुम हमारे पिता के समान सुगम हो[५]। पुत्र पिता का पूजन सत्कार भी करता है जैसा कि अग्नि को पिता के समान सत्कार करने योग्य कहा गया है[६]। पिता से भूख–प्यास निवारण की भी प्रार्थना पुत्र करते हैं जिसका उल्लेख ऋग्वेद १०।४८।१ में इन्द्र के द्वारा प्रतिपादन किया गया है। मुझे प्राणी (सन्तान) पिता के समान पुकारते हैं[७]। ऋक् १०।३३।३ में पिता के समान बनने की भी इन्द्र से प्रार्थना की गई है—हे इन्द्र! तेरी स्तुति करनेवालों को व्याधियाँ सता रही हैं। हे मघवन्! तुम एक बार हमें आनन्दित कर दो। हे इन्द्र! तुम हमारे पिता के समान बनो[८]।

१. **त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे।**
२. **पितुर्न पुत्राः क्रतुं जुषन्त श्रोषन् ये अस्य शासं तुरासः।** —ऋ० १।६८।९
३. **त्वामग्ने पितरमिष्टिभिर्नरस्त्वां भ्रात्राय शम्या तनूरुचम्।**
४. **कविर्यः पुत्रः स इमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत्।**
५. **स नः पितेव सूनवे अग्ने सूपायनो भव।** —ऋ० १।१।९
६. **जोहूत्रो अग्निः प्रथमः पितेवेळस्पदे मनुषा यत्समिद्धः।** —ऋ० २।१०।१
७. **मां हवन्ते पितरं न जन्तवो।** —ऋ० १०।४८।१
८. **सुकृत्सु नो मघवन्निन्द्र मृळयाधा पितेव नो भव।** —ऋ० १०।३३।३

ऋग्वेद में पिता का गौरवपूर्ण उल्लेख हुआ है वह इससे और स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश देवों के साथ पिता के रूप में प्रार्थनाएँ उपलब्ध होती हैं। ऋग्वेद के उपासकों ने स्वयं को पुत्र स्थानीय माना है और पिता के गौरवपूर्ण स्थान को देवों को दिया है तथा धन, पशु एवं पुत्रों आदि की याचनाएँ की हैं जैसा कि अग्नि[१], वरुण[२], इन्द्र[३], सोम[४], त्वष्टा[५], बृहस्पति[६], पर्जन्य[७], विश्वकर्मा[८] एवं देवों तथा मनुष्यों के पिता द्यावा[९] के साथ पिता शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है।

(ख) माता—

ऋग्वेद में माता की स्थिति का पत्नी से भी अधिक उन्नतावस्था में उल्लेख हुआ है, क्योंकि ऋग्वेद में वीर सन्तानों की कामना अनेक स्थानों पर देवों से की गई है। पत्नी को भी 'वीरसूः' का आशीर्वाद ऋग्वेद १०।८५ सूक्त में दिया गया है इसलिए वीर पुत्रों को जन्म देनेवाली माता का गौरवमय स्थान होना स्वाभाविक ही है।

ऋग्वेद में माता की महत्ता इससे भी स्पष्ट प्रतीत होती है कि जिस प्रकार स्तोताओं ने अपने को पुत्र स्थान में और देवों को पितृस्थानीय मानकर प्रार्थनाएँ की हैं, उसी प्रकार अनेक स्थानों पर देवों को माता के रूप में स्वीकार किया गया है और उनसे माता द्वारा प्राप्त सुख-शान्ति एवं पालन-पोषण की इच्छा प्रकट की गई है, जैसा कि ऋग्वेद के साक्ष्य से स्पष्ट है, द्यौ को पिता कहा गया है तो पृथ्वी को माता मानकर अनेक स्थानों पर ऋग्वेद में उल्लेख हुआ है[१०]। ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्द्र को पिता के साथ माता भी माना गया है[११] एवं अग्नि का भी पिता और माता दोनों रूपों में उल्लेख हुआ है[१२]। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर उषस्[१३], अदिति[१४], रसा[१५], इडा[१६], पृश्नि[१७], आपः[१८] एवं बृहद्दिवा[१९] को माता के रूप में चित्रित किया गया है।

---

१. ऋ० १।३१।१०,१६, २।५।१, ८, १०।७।३
२. ऋ० ७।५२।२, १०।१२४।४, ५
३. ऋ० ४।१७।१८, ८।५२।५
४. ऋ० ९।६९।८, ७३।३
५. ऋ० १०।६४।१०
६. ऋ० ४।५०।६, २।२६।३
७. ऋ० ५।८३।६
८. ऋ० १०।८३।३।
९. ऋ० १।१६४।३३, १८५।१०, ४।१।१०, ६।५१।५, १०।१२५।७
१०. ऋ० १।१६४।३३, १८५।१०, ५।४२।१६, ४३।१५, ६।५१।५ इत्यादि।
११. ऋ० ८।९८।११
१२. **पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्।** —ऋ० ६।१।५
१३. ऋ० ४।२।१५, ५।५।६, ४५।१
१४. ऋ० १।७२।९, ८।२५।३
१५. ऋ० ५।४१।१५
१६. ऋ० ५।४१।१९
१७. **पृश्निं वोचन्त मातरम्।** —ऋ० ५।५२।१६, ६।६६।३
१८. ऋ० १०।६४।९
१९. **उत माता बृहद्दिवा शृणोतु नः।** —ऋ० १०।६४।१०

ऋग्वेद में माता की स्तुति महत्त्वपूर्ण एवं गौरव से युक्त है। वह इससे भी प्रकट होती है कि माता और पिता दोनों के लिए 'पितरौ' शब्द का प्रयोग हुआ है। वैसे ही 'मातरा[१]' शब्द का उल्लेख पाया जाता है जिससे पिता-माता दोनों का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। सन्तान सर्वप्रथम माता से ही उपकृत होती है। शिशु के लिए माता ही जीवन होती है इसलिए पिता से भी अधिक माता उनके लिए गौरवशालिनी एवं महत्त्वपूर्ण होना स्वाभाविक है। अतएव ऋग्वेद में कहीं-कहीं 'पिता' शब्द से पूर्व 'माता' शब्द का समासयुक्त प्रयोग पाया जाता है[२]। जिससे माता का गौरव स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है।

२. माता-पिता द्वारा पुत्री की अपेक्षा पुत्र की अधिक आकांक्षा—

ऋग्वेद में सामान्यतया 'प्रजा' या 'अपत्य' की कामना की गई है जिसका सामान्य अर्थ पुत्र और पुत्री दोनों होता है, लेकिन ऋग्वेद में ऐसे साक्ष्यों की बहुलता है जिसमें पुरुष सन्तान की कामना परिलक्षित होती है, क्योंकि वंश को चलानेवाला पुत्र ही माना गया है। संरक्षण तथा धनार्जन के लिए पुत्र ही अधिक उपयोगी हो सकता है पुत्री नहीं, इसीलिए पुत्र की विशेष रूप से कामना की गई है और पुत्र प्राप्ति के लिए ही ऋग्वेद में आशीर्वाद पाया जाता है जबकि पुत्री के लिए सम्पूर्ण ऋग्वेद में एक स्थान पर भी कोई आशीर्वादात्मक शब्द नहीं पाया जाता, लेकिन ऋग्वेद में पुत्री के लिए 'घृणा' भी नहीं पाई जाती। यह भी सत्य है जैसा कि उत्तर वैदिक साहित्य में पुत्री को 'कृपण' (कष्ट) कहा गया है और पुत्र को 'ज्योतिः' कहकर प्रशंसा की गई है[३]।

३. गुणी पुत्रों की कामना—

ऋग्वेद में देवों से वीर, पराक्रमी, परिश्रमी, शक्तिसम्पन्न, योद्धा, कर्मनिष्ठ और कर्त्तव्यपरायण पुत्रों की अभिलाषा एवं प्रार्थनाएँ की गई हैं। जैसा कि ऋग्वेद के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा।

ऋग्वेद में अग्नि के उपासक के सम्बन्ध में कहा गया है कि अग्नि अपने उपासक को विशाल कीर्तियुक्त, भक्त, अजेय और पिता के यश को बढ़ानेवाला पुत्र प्रदान करता है[४]। ऋक् ७।४।८ में शत्रुञ्जयी पुत्र की कामना करते हुए अग्नि से प्रार्थना की गई है, हमारे लिए बलशाली (वाजी) एवं शत्रुञ्जय (अभिषाड्) नवीन पुत्र प्राप्त हो[५]। ऋक् ६।१४।४ में उल्लेख है कि अग्नि अपने उपासक को जलों को प्राप्त करनेवाला (अप्सा) आक्रमण का प्रतिरोध करनेवाला, शत्रु को कम्पानेवाला (ऋतीषह) और शत पुरुषों का स्वामी पुत्र

---

१. ऋ० १।१५९।३, २।२, ५।७, ७।३।९, ८।९९।६, ९।९।३, ६८।४
द्यावा नो अद्य पृथिवी अनागसो मही त्रायेतां सुविताय मातरा। —ऋ० १०।३५।३
२. न यस्य सातुर्जनितोरवारि न मातरापितरा नू चिदिष्टौ। —ऋ० ४।६।७
३. कृपणं ह दुहिता ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्। —ऐ० ब्रा० ७।१३
४. अग्निस्तुविश्रवस्तमं तुविब्रह्माणमुत्तमम्।
अतूर्तं श्रावयत्पतिं पुत्रं ददाति दाशुषे॥ —ऋ० ५।२५।५
५. नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः। —ऋ० ७।४।८

प्रदान करता है[१]। ऋक् ८।१०३।४ में कहा है हे अग्ने! सत्कार करने वाला, स्वयं सहस्रों का पालक और मन्त्र गायक पुत्र को प्राप्त करता है[२]। ऋग्वेद १०।८०।१ में उल्लेख किया गया है कि अग्निस्तोता को वीर यशस्वी एवं कर्मनिष्ठ पुत्र देता है[३]। ऋग्वेद ३।१।२३ में अग्नि से प्रार्थना करते हुए कहा गया है, हमारे वंश का विस्तारक, सन्तति को उत्पन्न करनेवाला पुत्र उत्पन्न हो[४]। हे अग्ने हमारे प्रति तुम्हारी यही सुमति या अनुग्रह हो।

ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्द्र से सूर्य के समान प्रतापी सहस्र भूमियों का विजेता और शत्रुओं का संहार करनेवाले पुत्र की कामना की गई है[५]। इसी प्रकार ऋग्वेद ८।९८।१० में सेना का प्रतिरोध करनेवाले पुत्र की कामना इन्द्र से की गई है[६]। ऋग्वेद १।९१।२० में सोम के विषय में कहा गया है— जो सोम का सत्कार करता है, सोमदेव उसे कर्मनिष्ठ गृहकार्य में दक्ष, यज्ञानुष्ठान तत्पर, सभा के योग्य और पिता की कीर्ति बढ़ानेवाला पुत्र देता है[७]। इस प्रकार पुत्रों की कामना ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से पाई जाती है।

ङ. पुत्री की प्रशंसा—

उत्तरवैदिक साहित्य के समान[८] ऋग्वेद में पुत्री के सम्बन्ध में हीनता के भाव प्रकट करनेवाला, एक भी उदाहरण नहीं है। लेकिन इसके विपरीत यज्ञ करनेवाले की यह कहकर प्रशंसा की गई है कि वे पुत्र और पुत्रीवाले होकर पूर्ण आयु का उपभोग करते हैं[९]। यदि किसी व्यक्ति के पास पुत्रियाँ अधिक हों तो उस व्यक्ति की ऋग्वेद में निन्दा नहीं की गई है, अपितु ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में प्रशंसात्मक उद्गार प्रकट किये गये हैं। जैसा कि ऋग्वेद ६।७५।५ में बहुत संख्या में बाणों को धारण करनेवाले 'इषुधि' की प्रशंसा 'अनेक पुत्रियों के पिता' कहकर की गई है[१०]।

ऋग्वेद में पुत्री की प्रशंसा परोक्ष रूप से ही नहीं की गई है, अपितु प्रत्यक्ष रूप से भी ऋग्वेद १०।१५९।३ में पुत्री के लिए प्रशंसात्मक वाक्य का प्रयोग पुत्रों की अपेक्षा भी अधिक सम्मान के साथ किया गया है—

---

१. अग्निरप्सामृतीषहं वीरं ददाति सत्पतिम्।
यस्य त्रसन्ति शवसः सञ्चक्षि शत्रवो भिया॥ —ऋ० ६।१४।४
२. स वीरं धत्ते अग्न उक्थशंसिनं त्मना सहस्रपोषिणम्।
३. अग्निः सप्तिं वाजंभरं ददात्यग्निर्वीरं श्रुत्यं कर्मनिष्ठम्।
४. स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे।
५. ऋ० ६।२०।१
६. आ वीरं पृतनाषहम्। —ऋ० ८।९८।१०
७. ———सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति।
सादन्यं विदथ्यं सभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै। —ऋ० १।९१।२०
८. ऐतरेय ब्राह्मण ७।१२।
तस्मात् स्त्रियं जातां पराऽस्यन्त्युत पुमांसं हरन्ति। —तै० सं० ६।५।१०।३
९. पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतः। —ऋ० ८।३१।८
१०. बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रः।

की प्रेरणा करें।

(९) पापमुक्ति एवं ऋणमुक्त करना—पिता को पापों से भी पुत्र मुक्ति दिलाता है, तथा पुत्र भी अपने आप कर्मों के साथ-साथ पिता के पापकर्मों के लिए भी देवों से क्षमायाचना करता है। ऋग्वेद ७।८६।५ में पापमुक्ति की प्रार्थना करते हुए कहा गया है—जो पाप हमारे पिता ने किये तथा जो हमने स्वयं किये हैं उनसे हमारी रक्षा करो।

पुत्र को पिता के ऋणों का उतारनेवाला माना गया है, क्योंकि ऋग्वेद ६।६१।१ में 'ऋणच्युत' विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जिससे प्रतीत होता है कि पुत्र पिता के ऋण चुकाने का उत्तरदायी होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्टतया कहा गया है कि पिता अपने ऋण को, पुत्र को उत्तरदायी बनाकर अमरत्व को प्राप्त कर लेता है[१]।

(१०) वंश-वृद्धि करना—पुत्र का पिता के प्रति एक अत्यन्त आवश्यक तथा पवित्र कर्त्तव्य भी है जो पुत्रों का पिता होना मनुष्यों के लिए धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में भी माना जा सकता है। क्योंकि उत्तरवैदिक साहित्य में तीन ऋणों में एक पितृ ऋण भी है जो सन्तान उत्पन्न करके ही चुकाया जा सकता है, तैत्तिरीयोपनिषद्[२] में आचार्य का आदेश भी ब्रह्मचारी को यही है कि प्रजातन्तु का विच्छेद न करें, अर्थात् सन्तानोत्पत्ति कर प्रजातन्तु को जारी रखे। ऋग्वेद १०।३२।३ में भी इसको स्पष्ट रूप से कहा गया है यह मुझे सुन्दर से सुन्दरतर प्रतीत होता है कि जो पुत्र विवाह करके पिता बनकर माता-पिता के वंश का उचित रूप में ध्यान रखता है। इस प्रकार पिता के प्रति पुत्र के कर्त्तव्यों का ऋग्वेद में सुन्दर रूप में वर्णन हुआ है।

(आ) पुत्र के अधिकार—

ऋग्वेद के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि जो अधिकार पिता के होते हैं वे युवा पुत्र को प्राप्त हो जाते हैं। उस अवस्था में वृद्ध पिता अपने पुत्र द्वारा शासित होने लगता है। इस बात का शतपथब्राह्मण में स्पष्ट रूप से उल्लेख करते हुए कहा गया है[३] कि पूर्ववय (बालकपन) में पुत्र पिता के आश्रित होता है और उत्तरवय (वृद्धावस्था) में पिता पुत्र के आश्रित होता है। यह बात ऋग्वेद १०।८५।४६ से भी प्रकट होती है जिसमें नववधू को आशीर्वाद देते हुए कामना की गई है कि तू ससुर, सास, ननद तथा देव की साम्राज्ञी (शासयित्री) हो। इस मन्त्र के आधार पर यह भी सम्भावना की जा सकती है कि विवाहित पुत्र का परिवार में लगभग वही स्थान होता है जो उसके पिता का पहले रहा है।

(१) पैतृक सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार—ऋग्वेद में सम्पत्ति के

---

१. ऐ०ब्रा० ७।१३।

२. **प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।**—तै० उ० १।११

३. **उत्तरवयसे पुत्रान् पितोपजीवत्युप ह वा एनं पूर्ववयसे पुत्रा जीवन्ति।**
—शत०ब्रा० १२।२।३।४

उत्तराधिकार के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ कुछ आनुषंगिक वर्णन अवश्य हुआ है जिससे यह कहा जा सकता है कि पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसका पुत्र ही होता है। ऋग्वेद १।७३।१ में अग्नि की स्तुति करते हुए कहा गया है कि अग्नि ऐसे ही बलदायक हैं जैसे पिता का धन पुत्र के लिए बलदायक होता है[१]। ऋग्वेद ८।४८।७ में सोम के विषय में कहा गया है कि (सोम की) अभिलाषा युक्त मन से अभिषुत सोम का पान हम पैतृक धन के समान करें[२]। ऋग्वेद में एक स्थान पर अग्नि से प्रार्थना की गई है कि हमारे विद्वान् पुत्र पैतृक धन के स्वामी हों और सौ वर्ष जीवन का उपभोग करें[३]। ऋग्वेद ३।३१।२ की यास्क और सायण की व्याख्या के अनुसार तो इस ऋचा में पैतृक सम्पत्ति पर पुत्र का ही अधिकार है पुत्री का नहीं[४]।

पैतृक सम्पत्ति को पुत्र कभी-कभी पिता की जीवितावस्था में ही बाँट लिया करते हैं, जैसा कि ऋग्वेद १।७०।५ में अग्नि की स्तुति करते हुए कहा गया है कि मनुष्य तुम्हारी अनेक प्रकार से अर्चना करके ऐसे ही धन प्राप्त करते हैं जैसे वृद्ध पिता से पुत्र धन प्राप्त करते हैं।

यह बात उल्लेखनीय है कि युवा पुत्र जब व्यवहार कुशल हो जाते हैं, तभी वे पैतृक धन के भागीदार होने के अधिकारी होते हैं। ऋग्वेद ३।४५।४ में इन्द्र की स्तुति करते हुए कहा गया है—हे इन्द्र! जैसे व्यवहारज्ञ पुत्र को पिता अपने धन का भाग दे देता है वैसे हमें शत्रुओं का वध करनेवाला धनरूप पुत्र दो।

९. पिता-माता के पुत्री के प्रति कर्त्तव्य और अधिकार—

जिस प्रकार पिता-माता अपने पुत्र का लालन-पालन, शिक्षादि का प्रबन्ध करना अपना नैतिक कर्त्तव्य समझते हैं उसी प्रकार पुत्री का लालन-पालन के साथ शिक्षा एवं विवाह का प्रबन्ध करना अपना नैतिक कर्त्तव्य मानते हैं। इसलिए पुत्र के समान पुत्रियों को भी शिक्षित किया जाता है, उनके साथ किसी प्रकार का भेद-भाव का व्यवहार नहीं किया गया है। पुत्री शास्त्रीय शिक्षा पाने में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है, उस पर उत्तरवर्ती समाज जैसा सामाजिक प्रतिबन्ध नहीं है। यदि वह चाहे तो युद्ध कौशल भी प्राप्त कर सकती है। अतः ऋग्वेद के साक्ष्य से हम पुत्री की शिक्षा को—(१) गृहविज्ञान, (२) शास्त्रीय ज्ञान और (३) युद्धकौशल प्राप्त करना, इन तीन विभागों में

---

१. **रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः।** —ऋ० १।७३।१
२. **इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः।**
३. **ईशानासः पितृवित्तस्य रायो वि सूरयः शतहिमा नो अश्युः॥** —ऋ० १।७३।९
४. **न जामयो तान्वो रिक्थमारैक्।** —ऋ० ३।३१।२
तान्व (औरस पुत्र) जामि-बहिन के लिए पित्र्य धन नहीं छोड़ता। सायण और यास्क ने जामि का अर्थ बहिन किया। प्रो० मैक्डानल और कीथ ने भी जामि का अर्थ बहिन किया। दे० वैदिक इण्डैक्स भाग १, पृ० ३०६। जामिशब्द। परन्तु लुडविंग और ग्रिफिथ ने इसका अर्थ भाई किया। दे० ३।३१।२ का ग्रिफिथ अनुवाद तथा पाद टिप्पणी।

समझ सकते हैं।

(१) गृहविज्ञान—सामान्यतया पुत्री की शिक्षा गृहकार्य में कुशलता प्राप्त करने की होती है, गृहकार्य में दक्षता प्राप्त करना पुत्री के लिए अनिवार्य है[१]। क्योंकि पुत्री ही भावी पत्नी एवं माता होती है। ऋग्वेद में पत्नी के जो कर्त्तव्य उल्लिखित हैं वे तभी पूर्ण हो सकते हैं जब विवाह से पूर्व पुत्री उन कार्यों में दक्षता प्राप्त करले, वधू को विवाह सूक्त में 'साम्राज्ञी' होने का आशीर्वाद दिया गया है[२]। 'सम्राज्ञी' (शासयित्री) वह तभी बन सकती है जब अपने ब्रह्मचर्य काल में उसने आचार-व्यवहार की शिक्षा प्राप्त की हो[३]। इस गृहविज्ञान की शिक्षा में विशेषकर माता के द्वारा ही शिक्षण दिया जाता है इसलिए जो माता अपने कर्त्तव्य का पूर्ण रूप से पालन करती है, उसकी पुत्री गृहकार्य में दक्षता प्राप्त करके पितृकुल को प्रशंसित कराती है।

(२) शास्त्रीय ज्ञान—शास्त्रीय ज्ञान भी पुत्री की शिक्षा का एक अंग है। सामान्य रूप से धार्मिक शिक्षा हरएक के लिए आवश्यक प्रतीत होती है, क्योंकि विवाह सूक्त में पत्नी को यज्ञादि कार्य करने का निर्देश किया गया है[४]। लेकिन यदि किसी पुत्री की इच्छा उच्च शिक्षा पाने की होती है तो उसका भी समुचित प्रबन्ध करना माता-पिता अपना कर्त्तव्य समझते हैं, क्योंकि ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर स्त्रियों का मन्त्रद्रष्टा के रूप में उल्लेख किया गया है। जिनमें विश्ववारा, आत्रेयी ऋग्वेद म० ५, सूक्त २८, अपाला आत्रेयी, ऋग्वेद मण्डल ८ सूक्त ९१, घोषा काक्षीवती ऋग्वेद मं० १०, सूक्त ८५, इन्द्राणी ऋ० मं० १०, सू० १४५, शची पौलोमी ऋग्वेद मं० १०, सू० १५९, सार्पराज्ञी ऋ० मं० १०, सू० १८९ मुख्य हैं। जिन्होंने पूर्ण सूक्तों में ऋषित्व प्राप्त किया। कुछ स्त्रियों ने पूरे सूक्त की ऋषि न होकर सूक्तों में एक दो ऋचाओं का ही मन्त्र-द्रष्टृत्व प्राप्त किया, जिनमें अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा ऋ० मं० १, सू० १७९ की ऋचा प्रथम और द्वितीय, अगस्त्य की बहिन ऋग्वेद १०।६०।६, भावयव्य की पत्नी लोमशा ऋग्वेद १।१२६।७ की ऋषि मानी गई हैं।

डॉ० शिवदत्त ज्ञानी ने ऋग्वेद १।१२६।७ की ऋषि ममता को माना है, तथा विश्ववारा के विषय में लिखा है कि विश्ववारा ने अग्नि की स्तुति में न केवल अनेक मन्त्र बनाये बल्कि यज्ञ के अवसर पर ऋत्विक् का भी कार्य किया[५]। लेकिन डॉ० शिवराज शास्त्री का विचार है—यद्यपि ऋग्वेद में किसी

---

१. आज भी कन्यापाठशालाओं में दशमी श्रेणी तक गृहविज्ञान-शिक्षा अनिवार्य है।
२. ऋ० १०।८५।४६।
३. **ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।** —अ० १।१५।१८
४. ऋ० १०।८५।२६,२७।
५. वेदकालीन समाज, पृ० १६१।
समिद्धो अग्निर्दिवि शोचिरश्रेत् प्रत्यङ्ङुषसमुर्विया वि भाति।
एति प्राची विश्ववारा नमोभिर्देवाँ ईळाना हविषा घृताची॥ —ऋ० ५।२८।१
देखिये इस ऋचा का सायण और मुद्गल भाष्य।

सोमपान के लिए आह्वान किया करती थीं[१]।

(३) युद्धकौशल—ऋग्वेद के साक्ष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि जो कन्या सैनिक शिक्षा लेना चाहती है उसके लिए उसका प्रबन्ध किया जाता है, क्योंकि ऋग्वेद में स्त्री सेना एवं सेनापति का उल्लेख पाया जाता है, जैसा कि अनार्य सेना का ऋग्वेद में उल्लेख हुआ है[२]। किन्तु आर्य नारियाँ तो सेना में भरती होकर युद्धकौशल में इतनी प्रवीण हो गईं कि सेनापति का कार्य भी करती रहीं, जिनमें विश्पला[३] और मुद्गलानी[४] विशेष उल्लेखनीय हैं।

(४) वैवाहिक—पुत्री को योग्य वर प्राप्त कराना माता-पिता अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं। इसलिए योग्य वर की प्राप्ति के लिए माताएँ अपनी पुत्रियों को वस्त्र एवं आभूषण से सुसज्जित कर मेलों (समन) के लिए प्रेरित करती हैं। श्रेष्ठ वर चयन के लिए मेलों में पिता या भाई अवश्य ही जाता है, जिससे वे भावुकतावश अयोग्य युवक को पति के रूप में वरण न कर लें, बल्कि योग्य पति का चयन करें, जिससे उनका भावी जीवन सुख-शान्ति से व्यतीत हो।

पुत्री का योग्य एवं कुलीन वर के साथ विवाह करना पिता अपना परम कर्त्तव्य मानता है। इसलिए योग्य पुरुष की ओर से याचना करनेवाले मध्यस्थ का अत्यन्त आभारी होता है। जैसा कि ऋग्वेद १०।८५।१४ में पूषा के सत्कार का उल्लेख किया गया है कि पूषा सोम की ओर से सूर्या की याचना करनेवाले अश्विनौ को अपने पिता के रूप में वरण करता है[५]।

पिता अपनी पुत्री को विवाह में यौतक (वहतु-दहेज) भी देना अपना परम कर्त्तव्य समझता है। ऋग्वेद में दो दिव्य कन्याओं के विवाह में दहेज देने का उल्लेख हुआ है। एक का पिता त्वष्टा है जिसके विषय में ऋग्वेद १०।१७।१ में उल्लेख किया गया है। त्वष्टा ने अपनी पुत्री के लिए वहतु दिया, जिसे देखने के लिए सारा भुवन आ गया[६]। दूसरी पुत्री सूर्या है जिसके पिता सविता हैं जिसके दहेज के विषय में ऋग्वेद १०।८५।१३,३८ में कहा गया है कि सूर्या का वहतु आगे चला जिसे सविता ने दिया। यों तो विवाह में दहेज के रूप में देनेवाली वस्तुओं का भी नामोल्लेख पाया जाता है। ऋग्वेद १०।८५ सूक्त की ऋचा ६ और ७ में तकिया, सुरमा, ओढ़नी, वस्त्र तथा रुपया पैसा (कोश) का उल्लेख है और अथर्ववेद में सुवर्ण, हवन के लिए गुग्गुल आदि सामग्री औक्ष गाय या बैल तथा भग (ऐश्वर्य) का उल्लेख किया गया है[७] तथा इसी सूक्त में इससे पहले मन्त्र में पिता के लिए 'धनपते'

१. ऋ० पा० स० पृ० २२७ तथा इसका आधार। —ऋ० ८।९१।१
२. ऋ० ५।३०।९
३. ऋ० १।११२।१०, ११६।१५।
४. ऋ० १०।१०२।२,६,११।
५. ऋ० ७।२।५, १।१२३।११।
६. पूषा सविता का ही दूसरा नाम है जो कि सूर्या का पिता है।
७. **इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः।**
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे॥ —अथर्व० २।३६।७

कहकर सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि—हे धनपते! (पिता) तू वर को बुला और उसे अनुकूल मनवाला बनाकर वह सब कुछ, जो तू विवाह में भेंट करना चाहता है उसे उत्कृष्ट रूप में प्रदान कर[१]।

(आ) अधिकार—

उपर्युक्त कर्त्तव्यों के विषय में कहा जा चुका है अब अधिकारों के विषय में उल्लेख किया जाएगा, जो कि ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से पिता के अधिकार पुत्री पर कहे गये हैं—

(क) अविवाहित कन्या पर अधिकार—विवाह में कन्यादान का अधिकार पिता का ही होता है, क्योंकि विवाह सूक्त के अनुसार कन्यादान करनेवाला सूर्या का पिता है जिसका कि ऋग्वेद १०।८५।९ में उल्लेख हुआ है। जब मन से पति की कामना करती हुई सूर्या को सविता ने दिया उसमें सोम वधूयु (वधू की कामना करनेवाला) हुआ तथा दोनों अश्विनौ उसकी याचना करनेवाले वर हुए[२]। गृह्यसूत्रों में कन्या के विवाह में कन्यादान का अधिकारी पिता ही माना गया है[३]।

पुत्री पर पिता के अधिकार को सूचित करनेवाली विवाह सूक्त में एक और भी ऋचा है जिसका कि गृह्यसूत्रों में केशमुञ्चन विधि में विनियोग किया गया है कि केशमुञ्चन की क्रिया को करता हुआ वर-वधू से कहता है—

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवः।

—ऋ० १०।८५।२४

मैं तुझे वरुण के पाश से मुक्त करता हूँ, सुशेव (सुखकारी) सविता ने जिससे तुझे बाँध रखा था।

पिता का अधिकार पुत्री पर इस बात से भी सूचित होता है कि कन्या शुल्क लेकर पिता अपनी सुन्दरी तथा गुणवती कन्या का ऐसे पुरुष के साथ विवाह कर देता है जो किसी अंग विकारादि दोष से दूषित होता है। ऋग्वेद में ऐसे पुरुष को 'विजामाता' कहा गया है[४]।

(ख) विवाहित पुत्री पर पिता के अधिकार—

सामान्य रूप से पिता के अधिकार पुत्री पर उसकी अविवाहितावस्था तक ही सीमित रहते हैं। जब पुत्री का विवाह संस्कार में इस बात की घोषणा कर दी जाती है कि आज से पूर्व जो पुत्री पर अधिकार थे वे समाप्त हो गये हैं और आज से पति का अधिकार हो गया है, जिसका स्पष्ट उल्लेख विवाह

---

१. **आक्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु।**
सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः॥ —अथर्व० २।३६।६

२. **सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा।**
सूर्या यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताददात्॥ —ऋ० १०।८५।९

३. **पित्रा प्रत्तामादाय गृहीत्वा निष्क्रामति।** —पा०गृ०सू० १।४।१५

४. **अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात्।** —ऋ० १।१०९।२
यास्क ने 'विजामातुः' का अर्थ 'असमाप्ताज्जामातुः' करते हुए सूचित किया है कि दक्षिणाज क्रीतापति को विजामाता कहते हैं। —निरुक्त ६।९

विधि में दो ऋचाओं के द्वारा किया गया है[१], परन्तु जिस पुत्री का कोई भाई नहीं होता और उसका पिता अपनी पुत्री को पुत्र रूप ही मानता है ऐसी पुत्री का विवाह हो जाने के बाद भी पिता का अधिकार रहता है। क्योंकि पुत्री का पुत्र पुत्री के पिता का दौहित्र न होकर प्रपौत्र माना जाता है। ऐसी पुत्री पिता के घर पर रहती है और उस पर उसके पति एवं पति कुल का अधिकार केवल नाममात्र को ही माना जा सकता है।

(अ) पुत्री के कर्त्तव्य—

पुत्रियाँ सामान्य रूप से अपने घर पर ही माता के साथ रहती हैं और अपनी माता के कार्यों में सहायता करती हैं। इसलिए सामान्य रूप से पुत्री के कर्त्तव्य गृहकार्य तक ही सीमित माने जा सकते हैं। लेकिन ऋग्वेद में कुछ जरती अविवाहित कन्याओं का भी उल्लेख हुआ है और उनका कार्य घर से बाहर पुत्र के समान पिता की सहायता करना भी प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त अभ्रातृमती पुत्री का अपने पिता की वंश परम्परा को भी अविच्छिन्न रखना भी नैतिक कर्त्तव्य कहा जा सकता है। इस प्रकार माता के साथ कार्य करना, (२) पिता के साथ बाहर जाकर कार्य करना, (३) भाई के अभाव में पिता की वंश परम्परा को अविच्छिन्न रखना।

(१) पुत्री के गृह कर्त्तव्य—

सामान्य रूप से पुत्री का कार्य करने का क्षेत्र घर ही होता है। वह अपनी माता के कार्यों में सहायता करती है, नदी या कुओं से जल ले जाकर घर पर पहुँचाना अविवाहित पुत्रियों का मुख्य कार्य प्रतीत होता है। ऋग्वेद के एक स्थान पर घड़ों में जल ले जाने वालियों का उल्लेख पाया जाता है[२]। ऋग्वेद ८।९१।१ में जलाशय पर जाने वाली कन्या का स्पष्ट रूप से वर्णन हुआ है[३]। ऋग्वेद के साक्ष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि वस्त्र बुनाई और सिलाई घर की स्त्रियों का कार्य है[४]। जिससे अविवाहित पुत्रियाँ अवश्यमेव ही सीखती हैं, क्योंकि अविवाहित पुत्रियाँ ही विवाह के बाद वधुएँ बन जाती हैं। वधू द्वारा अपने हाथ से बुना हुआ एवं सिला हुआ वस्त्र पति को प्रेम के साथ धारण कराने का भी उल्लेख पाया जाता है[५]। विवाह सूक्त में भी वधू को वस्त्र से अलंकृत करने का उल्लेख हुआ है[६]।

अविवाहित पुत्रियाँ अपने छोटे भाई बहिनों के पालन-पोषण में अपनी माता का हाथ बँटाती हैं। ऋग्वेद में एक स्थान पर आया है कि माता और पुत्री दोनों मिलकर पोषण करती हैं[७]। इसकी पुष्टि वैदिक इण्डैक्स के लेखकों ने रमणीय कल्पना के साथ उल्लेख किया है कि दुहितर शब्द 'दुह्' 'दोहना'

---

१. ऋ० १०।८५।२४,२५ २. ऋ० १।१९१।१४।
३. **कन्या वारवायती सोममपि सुताविदत्।** —ऋ० ८।९१।१
४. **तन्तुं ततं संवयन्ती समीची।** —ऋ० २।३।६, ३८।४।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया। —ऋ० २।३२।४
५. **अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा।** —अथर्व० ७।३७।१
६. ऋ० १०।८५।६। ७. ऋ० ३।५५।१२।

धातु से निष्पन्न प्रतीत होता है और इसका अभिप्राय आदिम अवस्था के परिवार की 'दूध दोहनेवाली या दूध पिलानेवाली' न होकर बच्चे का पालन करनेवाली है[१]।

दूध दोहन का कार्य भी पुत्री के कर्त्तव्य कर्मों में से एक है। यद्यपि वैदिक इण्डैक्स के लेखकों ने दुहितर शब्द की व्युत्पत्ति दुह् (दोहन) अर्थ रखनेवाली धातु से मानी है फिर भी दूध दोहन के कार्य से असहमति प्रकट की है, लेकिन ऋग्वेद के साक्ष्य से स्पष्ट ही है कि पुरुषों के साथ स्त्रियों का भी दूध दोहन का कार्य रहा है, क्योंकि ऋग्वेद में दोनों प्रकार के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद ८।७०।१५ में परिवार के प्रधान पुरुष का उपमान से वर्णन करते हुए कहा गया है—धनी सूर देव का पुत्र हम तीनों के लिए बछड़े का कान पकड़ कर ले आया। जिस प्रकार प्रधान पुरुष (सूरि) बकरी को दोहन के लिए ले आता है[२]। ऋग्वेद १।२३।१६ में जलों के विषय में उल्लेख हुआ है कि माताएँ और पुरोहित की बहिनें दूध में मधु मिलाती हुई अपने मार्ग पर गति करती हैं। ऋग्वेद में एक अन्य स्थान पर उल्लेख किया गया है कि जहाँ घृत बहता है वहाँ पर प्रसन्नतायुक्त कुमारी देखी जाती है[३]। इन दोनों उदाहरणों में दिव्य कन्याएँ ही प्रतीत होती हैं तो भी दूध दोहन का कार्य पुत्रियाँ करती हैं यह निश्चित है।

(२) घर के बाहर के कार्य—घर से बाहर के कर्त्तव्य कर्म दो प्रधान रूप से प्रतीत होते हैं—(१) जल को घर पर ले आना और (२) खेती के कार्यों में सहायता करना। इन दोनों कार्यों के विषय में ऐसा प्रतीत होता है कि यह कार्य जरती कन्याएँ किया करती हैं जो कन्या आजन्म अपने पिता के घर रहती हैं, उन्हीं के ये कार्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि अपाला को ही हम जलाशय पर देखते हैं और उसी को अपने पिता की कृषि की सम्पन्नता में प्रयत्नशील पाते हैं[४]।

(३) वंश अविच्छिन्नता का कार्य—अभ्रातृमती कन्या का पिता जहाँ उसके पुत्र को अपना प्रपौत्र बनाने का अधिकार रखता है वहाँ कन्या का भी नैतिक कर्त्तव्य है कि वह अपने पितृकुल की वंश परम्परा को अविच्छिन्न बनाने के लिए एक सुयोग्य पुत्र उत्पन्न करके अपने पिता को अर्पण करे। जिसके सम्बन्ध में निरुक्तकार यास्क के अनुसार ऋग्वेद ३।३१।१ में उल्लेख हुआ है।

---

१. वैदिक इण्डैक्स, प्रथम भाग, पृ० ३७१।

२. **कर्णगृह्या मघवा शौरदेव्यो वत्सं नस्त्रिभ्य आनयत्। अजां सूरिर्न धातवे॥**
—ऋ० ८।७०।१५
—ऋ० १।१३५।७

३. **वि सूनृता ददृशेरीयते घृतम्।**

४. द्र० ऋ० मं० ८, सूक्त ९१।७
इमानि त्रीणि विष्टमा तानीन्द्र वि रोहय।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥
—ऋ० ८।९१।५

(आ) पुत्री के अधिकार—

ऋग्वेद के अध्ययन से पुत्री के अधिकारों के विषय में जो ज्ञान होता है वह दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) स्वयं पति-चयन का अधिकार, और (२) साम्पत्तिक अधिकार।

(१) स्वयं पति-चयन करने का अधिकार—

ऋग्वेद में पुत्री को स्वयं वर चयन करने की स्वतन्त्रता का उल्लेख हुआ है। वे अपने इस अधिकार का प्रयोग समन में जाकर कर सकती हैं। परिवार के अन्य जन इस व्यवहार से क्षुब्ध नहीं होते, अपितु माताएँ अपनी पुत्रियों को वस्त्र एवं आभूषण से सजाकर मेलों में जाने के लिए प्रेरित करती हैं[1], क्योंकि जो पुत्री अपना वर स्वयं चयन कर लेती है उसको अच्छा माना जाता है[2]। इन मेलों में जानेवाली पुत्रियों के साथ पिता या भाई अवश्य होता है जिससे भावुकता वश विवाह की कामनावाली पुत्रियाँ किसी अयोग्य युवक का पति के रूप में चयन न कर लें। इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि ऋग्वेद ४।५।५ में भाई विहीन पुत्रियों को इधर-उधर घूमनेवाली कहा गया है और उन्हें असत्य तथा अनृत पापी लोगों की उपमा देकर उनकी निन्दा की गई है। जिससे यह स्पष्ट है कि भ्रातृमती कन्याएँ अपने भाई के साथ ही मेलों में वर चयन के लिए जाया करती हैं।

(२) साम्पत्तिक अधिकार—

पुत्री के साम्पत्तिक अधिकारों को हमें तीन विभाग करके समझने में सरलता होगी—(क) भ्रातृमती, (ख) विवाहित पुत्री, (ग) अभ्रातृमती विवाहित पुत्री, (घ) जरती अविवाहित पुत्री।

(क) भ्रातृमती विवाहित पुत्री—

पुत्री के साम्पत्तिक अधिकारों के विषय का उल्लेख करते हुए आचार्य यास्क ने ऋग्वेद ३।३१।१ की ऋचा को पूर्व पक्ष के रूप में उद्धृत किया है और कहा है कि कोई-कोई आचार्य इसको पुत्री के साम्पत्तिक अधिकार में प्रस्तुत करते हैं। जिसका अर्थ निरुक्तकार के अनुसार पहले दिया जा चुका है, जो आचार्य पुत्री के दाय अधिकार में प्रस्तुत करते हैं उनका कथन यह है कि पुत्र और पुत्री दोनों के लिए किया जानेवाला प्रजनन यज्ञ (गर्भाधान) एक-सा ही होता है एवं दोनों की उत्पत्ति में अंग-अंग से उत्पन्न हुए वीर्य ही कारण है और दोनों के लिए माता के गर्भ में एक समान ही वीर्य का सिंचन किया जाता है। इसलिए विद्वान् पुत्र और पुत्री की उत्पत्ति की समानता को ध्यान में रखकर पुत्र और पुत्री में दाय के अधिकार में भेद नहीं करता है[3]। इस प्रकार के उद्धरण से इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुछ आचार्य पुत्र और पुत्री के साम्पत्तिक अधिकार को समान रूप से मानते हैं। परन्तु स्वयं यास्क

---

१. ऋ० ७।२।५, ऋ० १।१२३।११।
२. **भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्।** —ऋ० १०।२७।१२
३. द्र० निरुक्त ३।४।

भ्रातृमती पुत्री के साम्पत्तिक अधिकार से सहमत प्रतीत नहीं होते हैं, क्योंकि आचार्य यास्क के विचार में दाय का अधिकारी वही है जो पिण्डदान और सन्तान उत्पन्न करके पिता का उपकार करता है, इसलिए भ्रातृमती पुत्री के दाय अधिकार के खण्डन के लिए यास्क ने ऋग्वेद के ३।३१।२ की ऋचा को प्रस्तुत किया है—

न जामये तान्वोरिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम्।
यदि मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्त्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्॥

औरस पुत्र अपनी बहिन के लिए रिक्थ (दाय) नहीं देता (परन्तु) उसको पति का गर्भ धारण करनेवाली बनाता है। यदि माता, पिता, पुत्र (वह्नि) और पुत्री (अवह्नि) को उत्पन्न करते हैं तो उनमें से पुमान् सन्तान (कुल वृद्धि करनेवाला होता है) तथा दाय अधिकारी होता है। दूसरी पुत्री आदर करके विवाह में अन्य कुल को दे दी जाती है। यास्क की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि वे भ्रातृमती पुत्री का दाय अधिकार स्वीकार नहीं करते, सम्भवतया इस व्याख्या के आधार पर डॉ० अल्तेकर ने लिखा है—"एक वैदिक ऋषि स्पष्ट रूप से भाई को सूचित करता है कि उसे बहिन को कोई भाग नहीं देना चाहिए, क्योंकि अन्ततः उसे दूसरे कुल में चला जाना है[१]।"

लेकिन यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन दोनों ऋचाओं (ऋक् ३।३१।१,२) को विद्वानों ने पुत्री के अधिकार के विषय में स्पष्ट प्रमाण नहीं माना। प्रो० विल्सन ने इन दोनों के अर्थों में जटिलता तथा अस्पष्टता का दोष लगाया है[२]। इस प्रकार ये दोनों ऋचाएँ असन्दिग्ध प्रमाण के रूप में प्रस्तुत नहीं की जा सकतीं।

पुत्री के दाय अधिकार की सिद्धि में डॉ० शिवराज शास्त्री ने एक अन्य ऋचा को भी उद्धृत किया है—

परिष्कृतास इन्दवो योषेव पित्र्यावती। वायुं सोमा असृक्षता॥

—ऋ० ९।४६।२

अपने पिता के दाय को प्राप्त वधू के समान अलंकृत सोम विन्दु वायु की ओर जायें[३]। प्रो० ग्रिफिथ ने इस ऋचा का भिन्न ही अर्थ करते हुए पाद टिप्पणी में दाय अर्थ की सम्भावना भी की है। लेकिन आचार्य सायण ने इसमें आये शब्द 'पित्र्यावती' का अर्थ 'पितृमती' किया है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पर यह शब्द 'दाय' अर्थ में न होकर केवल विवाह में पुत्री को मिलनेवाले उपहाररूप आभूषण और वस्त्र ही हों। इस बात की सम्भावना इससे और बढ़ जाती है कि पुत्री के दाय अधिकार पक्ष में किसी प्राचीन टीकाकार ने इसको उद्धृत नहीं किया है। स्त्री दाय के सबसे अधिक पक्षपाती जैमिनीय सूत्रों के भाष्यकार शवर स्वामी ने भी इस ऋचा की

१. पोजीशन आफ वूमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ० २८६।
२. ऋग्वेद ट्रान्स् नोट्स आन वोल्यूम ३, पृ० ३०३।
३. ऋ० पा० स० पृ० २६२,२६३।

अवहेलना करके तैत्तिरीय संहिता ६।२।१।१ '**पत्नी हि पारीणाह्यस्येशे**' को ही स्त्री धन स्वामित्व की सिद्धि में श्रुतिप्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है, इसलिए ऋ० ९।४६।२ की ऋचा भी भ्रातृमती पुत्री दाय अधिकार में असन्दिग्ध रूप में प्रमाण नहीं मानी जा सकती।

(ख) अभ्रातृमती विवाहित पुत्री—औरस पुत्र के अभाव में पुत्री के पुत्र (दौहित्र) को पौत्र मान लिया जाता है। निरुक्तकार के अनुसार ऋग्वेद ३।३१।१ में ऐसा संकेत है कि जिसको पहले कहा जा चुका है। अभ्रातृमती पुत्री के पुत्र को अपने पिता के घर दौहित्र के स्थान पर जब पौत्र मान लिया जाता है, उस अवस्था में जो अधिकार औरस पुत्र को होते हैं वे अधिकार उसकी पुत्री को प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि ऐसे पिता के लिए वह पुत्री ही पुत्र है। पुत्री को पुत्र भाव मानने का कारण यह है कि पिण्डदान और सन्तान कर्म औरस पुत्र के मुख्य कर्त्तव्य हैं जिससे पिता उपकृत होता है, यही कार्य अभ्रातृमती पुत्री के भी होते हैं। जिसकी पुष्टि में यास्क ने ऋग्वेद १।१२४।७ को प्रस्तुत किया है—

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।

अभ्रातृका स्त्री पिण्डदान तथा सन्तान कर्म के लिए पितृकुल में आ जाती है, इसलिए वह पिता के दाय की अधिकारिणी होती है[१]।

इस मन्त्र में ध्यान देने योग्य बात यह है कि पिण्डदान और सन्तान कर्म का उल्लेख नहीं है। जिससे यह भी कहा जा सकता है कि अभ्रातृमती कन्या को पिता की सम्पत्ति को पाने के लिए जन्मतः यह अधिकार प्राप्त है। जैसा धर्मसूत्रकारों[२] एवं स्मृतिकारों[३] का विधान है।

(ग) जरती अविवाहित पुत्री—जरती अविवाहित पुत्रियों के लिए ऋग्वेद में दाय अधिकार के विषय में कोई असन्दिग्ध प्रमाण का उल्लेख नहीं हुआ है। कुछ विद्वान् ऋग्वेद २।१७।७ को अविवाहित पुत्री के दाय अधिकार में प्रमाण मानते हुए प्रस्तुत करते हैं—

अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्।
कृधि प्रकेतमुप मास्या भर दद्धि भागं तन्वो येन मामहः॥

माता-पिता के साथ रहनेवाली जरती कुमारी के समान मैं सबके साधारण स्थान से भग के समान तुम से माँगता हूँ। ज्ञान दो इसे नापो और यहाँ ले आओ, तुम हमें वह भग दो जिससे लोगों को आनन्दित करते हो[४]।

सायण ने दो चरणों का अर्थ इस प्रकार से किया है, हे इन्द्र! जीवनपर्यन्त गृह में ही वृद्धा होती हुई माता-पिता के साथ रहनेवाली सेवा में तत्पर पति को न प्राप्त करनेवाली सती दुहिता अपने और पिता के साधारण घर में रहकर

---

१. निरुक्त ३।५। २. व०ध०सू० १७।१५।
३. **अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथञ्चन।**
धनं तत्पुत्रिका भर्त्ता हरेतैवाविचारयन्॥ —मनुस्मृति ९।१३५
४. इस ऋचा का अनुवाद ग्रिफिथ के अनुसार किया गया है।

ही जिस प्रकार भाग की याचना करती है उसी प्रकार मैं स्तोता भजनीय धन तुम से माँगता हूँ। इस अर्थ में सायण ने 'यथा भागं याचति' का अध्याहार किया है[१], परन्तु मूल ऋचा में ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसका अर्थ भाग किया जा सके। इसलिए इस ऋचा से यह स्पष्ट प्रकट नहीं होता कि पिता के घर वास करनेवाली जरती अविवाहित पुत्री को दाय का अधिकार है। डॉ० अल्तेकर[२] और डॉ० द्वारकानाथ[३] मित्तर ने इस ऋचा को अविवाहित कन्या के दाय अधिकार में स्पष्ट उल्लेख माना है। परन्तु इन दोनों विद्वानों ने दाय और भरण-पोषण में अन्तर नहीं किया। इस ऋचा से इतना स्पष्ट है कि वह अपने माता, पिता और भाई से अपने भरण-पोषण की माँग कर सकती है और भाई या माता पिता का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वह इसका अच्छी प्रकार से पालन-पोषण करें।

१०. भाई-बहिन—

(अ) भाई—ऋग्वेद में क्रम के अनुसार माता-पिता के बाद भाई-बहिन आते हैं[४]। ऋग्वेद के अक्ष सूक्त में भी पिता और माता के बाद भाई का उल्लेख हुआ है[५]। इससे माता-पिता के बाद भाई का महत्त्व परिलक्षित होता है।

ऋग्वेद में भाई की महत्ता एवं गौरव इससे भी प्रकट होता है जिस प्रकार देवों को पिता-माता मानकर सुख-शान्ति एवं रक्षण की याचनाएँ की गई हैं उसी प्रकार भाई का सम्बन्ध स्थापित करके भाई से मिलनेवाले सुख-शान्ति और रक्षण की कामनाएँ देवों से की गई है। वात, आरोग्य एवं आयु का देनेवाला है उससे प्रार्थना की है—

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा।
स नो जीवातवे कृधि॥ —ऋ० १०।१८६।२

हे वात! तुम हमारे पिता हो, हमारे भाई हो और हमारे सखा हो, अतः तुम हमें जीवित रहने दो। ऋग्वेद में जहाँ अग्नि को मनुष्यों का पिता और माता बताया गया है[६] वहाँ भ्राता मानकर भी स्तुति की गई है[७]। जिस प्रकार—इन्द्र को पिता-माता मानकर स्तुति की गई है उसी प्रकार ऋग्वेद ३।५३।५ में इन्द्र को भ्राता कहा गया है—

परायाहि मघवन्ना च याहीन्द्र भ्रातरुभयत्रा ते अर्थम्।
—ऋ० ३।५३।५

अपाः सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते॥
—ऋ० ३।५३।६

---

१. द्र० सायण भाष्य।
२. पोजीशन आफ वूमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन-पृ० २८६।
३. पोजीशन आफ वूमैन इन हिन्दू ला०-पृ० ४५२।
४. **द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा।** —ऋ० १।१९१।६
५. **पिता माता भ्रातर एनमाहुः।** —ऋ० १०।३४।४
६. **पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्।** —ऋ० ६।१।५
७. **अग्ने भ्रातः सहस्कृत रोहिदश्व शुचिव्रत। इमं स्तोमं जुषस्व मे।** —ऋ० ८।४३।१६

हे मघवन्! तुम स्वकीय गृहाभिमुख होओ अथवा हमारे इस यज्ञ में आगमन करो, हे भ्राता इन्द्र! दोनों स्थानों में तुम्हारा प्रयोजन है, क्योंकि वहाँ गृह में स्त्री है और यहाँ सोम है।

ऋग्वेद में भाई की महत्ता एवं गौरव इससे भी प्रकट होता है कि इन देवों के साथ भाई के प्रसंगों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ मनुष्य के भाइयों और बहनों का उल्लेख हुआ है, जैसा कि ऋग्वेद में एक स्थल पर कहा गया है। हे अग्ने! हम अनृजु भ्राता का ऋण प्राप्त न करें[१]। अग्नि को ऋग्वेद में नदियों का जामि बताते हुए कहा गया है—अग्नि नदियों का ऐसे ही जामि है जैसे भाई बहिन का होता है[२]। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर देवों को परस्पर भाई कहा गया है[३]। जिससे भी भाई की महत्ता प्रकट होती है।

(आ) बहिन—ऋग्वेद में बहिन की स्थिति भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि बहिन शब्द का वाचक स्वसर् शब्द ऋग्वेद में देवों और मनुष्यों के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ है। सिनीवाली को देवों की स्वसा कहा गया है[४]। जल औषधि, सूर्य के साथ अदिति को स्वसा बताते हुए कहा गया है—तुम्हारा द्यौ पिता, तुम्हारी माता पृथिवी तुम्हारा भाई सोम और तुम्हारी अदिति स्वसा है[५]। गौ को आदित्यों की स्वसा कहा गया है[६]। उषस् और रात्रि स्त्री देवता हैं, इसलिए इन दोनों को परस्पर स्वसा के रूप में ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर चित्रित किया गया है[७]। ऋग्वेद में स्वसा शब्द अनेक स्थलों पर मनुष्य की बहिन के रूप में भी प्रयोग हुआ है, जैसा कि ऋग्वेद १।६५।४ में अग्नि नदियों का ऐसे ही जामि है जैसे भाई बहनों का होता है। ऋग्वेद के यम-यमी सूक्त में मनुष्य भाई-बहिन के आचार-व्यवहार का स्पष्ट रूप से उल्लेख हुआ है[८]।

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर कार्य सिद्ध करने के लिए बहिन के सम्बन्ध को स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के लिए विश्वामित्र को लिया जा सकता है, जिन्होंने नदियों को 'स्वसारः' करके कार्य सिद्ध किया है[९]। वहाँ पणियों ने कार्य सिद्ध करने के लिए 'सरमा' को बहिन बनाने का प्रस्ताव किया है[१०]। इस प्रकार ऋग्वेद में बहिन की स्थिति महत्त्वपूर्ण एवं गौरवमय है।

---

१. **मा भ्रातुरग्ने अनृजोर्ऋणं वेः।** —ऋ० ४।३।१३
२. **जामिः सिन्धूनां भ्रातेव स्वस्राम्।** —ऋ० १।६५।४
३. ऋ० १।१७०।३, ३।५३।५, ८।४३।१६।
४. ......**या देवानामसि स्वसा।** ऋ० २।३२।६
५. ऋ० १।१९१।६।
६. ऋ० ८।१०१।१५।
७. ऋ० १।११३।७, १२४।८, ३।५५।११।
८. ऋ० १०।१०।१२।
९. ऋ० ३।३३।९।
१०. ऋ० १०।१०८।९।

११. भाई-बहिन का पारस्परिक व्यवहार—ऋग्वेद में भाई और बहिन के पारस्परिक व्यवहार का चित्र माता-पिता और सन्तान के समान विशेष रूप से उल्लिखित नहीं हुआ है, फिर भी जो इस विषय की सामग्री उपलब्ध हुई है उसके आधार पर वर्णन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

ऋग्वेद में प्राप्त साक्ष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि भाई और बहिन का परस्पर व्यवहार घनिष्ठ एवं प्रेमपूर्ण है। उषाकाल में यज्ञवेदी पर आहुत करने के लिए घृत रखा जाता है, इस घटना को ऋग्वेद में काव्यमयी भाषा में चित्रित किया गया है जिससे भाई-बहिन का परस्पर प्रेम आदर एवम् उत्सुकता प्रकट होती है।

यदी मातुरुप स्वसा घृतं भरन्त्यस्थित।
तासामध्वर्युरागतौ यवो वृष्टीव मोदते॥ —ऋ० २।५।६

जब बहिन (उषस्) माता (वेदी) के समीप घृत लिये खड़ी रहती है तो (मातृस्थानीय) अध्वर्यु उन (उषाओं) के आने पर ऐसे ही हर्षित होता है जैसे वृष्टि के आने पर यव हर्षित होता है।

ऋग्वेद में कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ अग्नि और जलों के बीच भाई-बहिन का सम्बन्ध स्थापित किया गया है और भाई द्वारा बहिनों की सेवा की भावना को व्यक्त किया गया है—

अविन्दन्नु दर्शतमप्स्वन्तर्देवासो अग्निमपसि स्वसॄणाम्॥

देवों ने दर्शनीय अग्नि को जलों के मध्य बहिनों की सेवा में पाया[१]।

प्रो० लुडविंग ने इस ऋचा में 'अपसि' के स्थान पर 'उपसि' पाठ सुझाया है। इस पर डॉ० शिवराज शास्त्री का विचार है कि यदि प्रो० लुडविंग का यह संशोधन स्वीकार कर लिया जाए तो इस ऋक् में पारस्परिक जीवन का वह दृश्य प्रतिबिम्बित होता है जिनमें माता को घर के कामकाजों में लगे रहना पड़ता है और घर के छोटे बच्चों की देखभाल किशोरावस्था की लड़कियों को करनी पड़ती है[२]।

ऋग्वेद में एक अन्य स्थान पर अश्विनौ को अन्न और शक्ति के लिए बहिन उषस् के द्वारा लाने की स्तुति करते हुए कहा गया है, सभी से स्तुत्य और मधुपान करनेवाले अश्विनौ—मैं प्रार्थना करता हूँ कि बहिन उषस् तुमको अन्न और शक्ति के लिए लाये[३]। इससे स्पष्ट है कि भाई बहिन को प्रेरणा का स्थान मानता है और बहिन की प्रेरणाओं से कठिनतर कार्य भी कर लेता है।

भाई और बहिन के पारस्परिक जीवन में पवित्रता, स्नेह एवं हित भावनाएँ निहित हैं जिनका ज्ञान ऋग्वेद में उल्लिखित उन प्रसंगों से होता है जिनमें अपरिचित स्त्री-पुरुष अपने कुल से भिन्न होते हुए भी अनुकूल देखे

---

१. द्र० ग्रिफिथ अनुवाद वोल्यूम १, पृ० ४०६, पादटि० ३।
२. ऋ० पा० स० पृ० ३१०।
३. **स्वसा यद्वां विश्वगूर्ती भराति वाजायेट्टे मधुपाविषे च।** —ऋ० १।१८०।२

गये हैं। जिनसे यह भाव स्पष्ट रूप से प्रस्फुटित होता है कि अपने परिवार से अलग स्त्री को भी निर्दोष भावना से बहिन बनाया जा सकता है और वह स्त्री पवित्र भाई के सम्बन्ध से सम्बन्धित होने पर अपने धर्म भाई की हितसाधना कर सकती है जिसका स्पष्ट उल्लेख हमें आलंकारिक वर्णन के रूप में विश्वामित्र और नदियों के कथन में उपलब्ध होता है।

ऋषि विश्वामित्र को रथ के सहित नदियों के संगम पर पहुँचने पर उन्हें पार करने का साहस नहीं हो रहा है, क्योंकि नदियाँ इन्द्र के आदेश से उफनती हुई बह रही हैं इस पर विश्वामित्र ने नदियों को सम्बोधन करते हुए कहा है—हे बहिनो! तुम ऋषि की बात सुनो वह तुम्हारे पास दूर देश से रथ सहित आया है। हे सिन्धुओ! तुम नीची हो जाओ, अपनी वेगवती धाराओं के साथ धुरी से नीची होकर पार होने योग्य बन जाओ[१]। बहिन के सम्बोधन ने जादू जैसा प्रभाव नदियों पर किया और नदियों ने शीघ्र ऋषि के वचन का पालन करते हुए कहा—

हे कवि हम तुम्हारे वचन स्वीकार करती हैं तुम दूर देश से रथ सहित आये हो[२]। ऋग्वेद में एक आख्यान 'सरमा और पणियों' का भी है जिसमें पणि लोग सरमा को बहिन बनाने का प्रस्ताव करते हैं। किन्तु सरमा ने इन्द्र और अंगिरसों के भय से इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वह इनकी गुप्तचर रूप में पणियों के यहाँ छिपी गायों का पता लगाने आई हुई है[३]। यदि वह पणियों की बहिन बनना स्वीकार कर लेती तो अवश्य ही धर्म भाई पणियों का पक्ष लेती, बृहद्देवता के अनुसार तो सरमा ने पणियों के यहाँ दूध पी लिया और उसके बदले में इन्द्र को पणियों द्वारा चुराई हुई गायों का भेद नहीं बताया है[४]।

ऋषि विश्वामित्र और पणियों के इन प्रसंगों से यह बात स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है कि भाई और बहिन के व्यवहार में आत्मीयता है, जहाँ भाई-बहिन का पालन-पोषण और रक्षण करता है वहाँ बहिन भी उसके सुख-शान्ति का ध्यान रखती है, क्योंकि भाई के लिए संकट (निर्ऋति) पैदा करनेवाली बहिन की ऋग्वेद में निन्दा की गई है। (ऋ० १०।१०।११)

१२. बहिन के प्रति भाई के कर्त्तव्य—

ऋग्वेद में बहिन के प्रति भाई के—

(क) पालन-पोषण एवं रक्षण करना, (ख) अनाचार से बचाना और (ग) विवाह में दहेज (योतक) देकर योग्य पति प्राप्त कराना मुख्य कर्त्तव्य परिलक्षित होते हैं।

---

१. **ओ षु स्वसारः कारवे शृणोत ययौ वो दूरादनसा रथेन।**
ओ षु स्वसारः ... सिन्धवः स्त्रोत्याभिः॥ —ऋ० ३।३३।९
नि षू नमध्वं भवता सुपारा अधो अक्षाः सिन्धवः स्त्रोत्याभिः॥ —ऋ० ३।३३।९
आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन। —ऋ० ३।३३।१०

३. ऋक् मण्डल १०। सूक्त १०८।९।

४. बृ० दे० ८।२४।३६।

(क) पालन-पोषण एवं रक्षण करना—पालन-पोषण एवं रक्षण भाई का कर्त्तव्य है, यह बात आचार्य यास्क के द्वारा उद्धृत ऋचा से तथा उनके द्वारा की गई भाई की निरुक्ति से प्रतीत होती है[१]। भाई के रक्षण कार्य को प्रो० मैक्डानल, कीथ और ग्रासमान ने भी स्वीकार किया है[२]। इस विषय में डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का विचार है कि भाई विशेषकर बहिन की रक्षा करने के कारण भाई कहलाता था, एक पिता की दो पुरुष सन्तान केवल गौण वृत्ति से परस्पर भाई कहलाते थे। इसलिए भाई बहिन के पालन और रक्षण कार्य के लिए अपने पिता से भी अधिक उत्तरदायी था[३]। इन उपर्युक्त उद्धरणों से भाई द्वारा बहिन के पालन-पोषण एवं रक्षण का कार्य स्पष्ट है।

(ख) आचार की रक्षा—बहिन के आचार की रक्षा करना भी भाई का उत्तरदायित्व पिता की अपेक्षा अधिक प्रतीत होता है, क्योंकि ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर भाई विहीन कन्याओं के अनैतिक आचरण करने तथा पथभ्रष्ट हो जाने का वर्णन हुआ है।

यह बात भी उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में अनैतिक साधनों द्वारा जीविका प्राप्त करनेवाली तथा धन प्राप्ति के लिए अपने रूप का प्रदर्शन करनेवाली लड़कियाँ और अपने पतियों के साथ द्वेष करनेवाली पत्नियाँ, भाई विहीन कही गई हैं। ऐसी स्त्रियों को एक बार भी पितृविहीन नहीं कहा गया है[४]। ऋग्वेद में उषस् के आलंकारिक वर्णन से यह स्पष्ट है—

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः॥

—ऋ० १।१२४।७

अभ्रातृमती कन्या के समान देवी उषस् अपने रथ पर सवार होकर धन के लिए पुरुषों के पास जाती है। (वह) पति की इच्छा करनेवाली, सुन्दर वस्त्रों से युक्त पत्नी के समान मुस्कराती हुई अपने रूप का प्रदर्शन करती है[५]। ऋग्वेद ४।५।५ में पापी जनों के विषय में वर्णन करके अभ्रातृमती कन्या के आचरण से तुलना करते हुए कहा गया है—

अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्॥

---

१. भ्राता भरते……भर्तव्यो भवतीति वा। नि० ४।२६
२. वैदिक इण्डैक्स, भाग २, पृ० ११३।
ग्रासमान वार्टर बुक जम ऋग्वेद 'भ्रातर' शब्द।
३. 'दि ऋग्वेद कन्सिप्शन आफ ए ब्रदर' नामक लेख जो कि प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रांसेक्शन्स आफ आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेन्स, फिफ्थ सेशन, बम्बई नवम्बर १९४९ में प्रकाशित हो चुका है।
४. डी० एन० शास्त्रीकृत —पूर्व निर्दिष्ट पृ० २६१।
५. आचार्य यास्क ने इस ऋचा का अर्थ भिन्न करते हुए अभ्रातृमती कन्या के विवाह निषेध में उद्धृत किया है—अपने अर्थ में उन्होंने चारों उपमावाची शब्दों का प्रयोग किया है, परन्तु वह उतना बोधगम्य नहीं है।

भाई रहित और पतिद्वेषी दुराचारिणी स्त्रियों के समान इधर-उधर घूमनेवाले, असत्य और अनृत आचरण करनेवाले पापी व्यक्तियों ने इस गहन (नरक) पद को पैदा किया है। इस ऋचा के अर्थ से यह प्रकट होता है कि भाई विहीन कन्याएँ केवल अनैतिकतापूर्ण जीवन ही नहीं बिताती थीं अपितु भाई के अभाव में पतिद्वेषिणी भी होती थीं, इसका तो अर्थ यह हुआ कि ऐसी कन्याएँ या तो विवाह ही नहीं करती थी और यदि किसी कारणवश विवाह कर भी लेती थीं तो पति के प्रति सच्ची नहीं होती थीं। यदि इस ऋचा में आए हुए '**पतिरिपो न जनयो दुरेवाः**' का भाव यह हो कि भ्रातृहीन विवाहित स्त्री अपने पति के प्रति सच्ची नहीं रहती थी, तो ऋग्वैदिक लोगों का यह विश्वास प्रकट होता है कि भाई का सान्निध्य बहिन को उच्च नैतिक जीवन व्यतीत करने और अपने पति के प्रति सच्ची रहने में सहायक होता था[१]। इससे भाई के सान्निध्य की महत्ता एवम् उसकी कर्त्तव्यभावना प्रकट होती है।

(ग) विवाह में दहेज (योतक) देकर योग्य पति प्राप्त कराना—

जहाँ भाई अपनी बहन का पालन-पोषण और नैतिक आचार का उत्तरदायी है वहाँ वह अपनी बहिन के लिए उपहार रूप (योतक) देकर योग्य पति को प्राप्त करवाना भी अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता है। यह बात ऋग्वेद के साक्ष्य से प्रकट होती है। ऋग्वेद में इन्द्र और अग्नि की उदारता के प्रसंग में उल्लेख है—

अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात्।

—ऋ० १।१०९।२

मैंने सुना है कि तुम दोनों 'विजामाता[२]' और यहाँ तक कि साले 'पत्नी के भाई' से भी अधिक देनेवाले हो।

इससे यह स्पष्ट है कि रूपवती एवं गुणशीला कन्या को प्राप्त करने के लिए 'विजामाता' (अयोग्य व्यक्ति) अपने श्वसुर को धन देने में प्रसिद्ध है और उससे भी अधिक प्रसिद्ध वह व्यक्ति है जो अपनी बहिन का सम्मानपूर्वक परम्परा विधि से विवाह करता है और अपनी बहिन के पति को उपहार स्वरूप पर्याप्त धन देता है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहाँ कन्या पर धन लिया जाता है वहाँ जमाता से धन लेनेवाला कन्या का पिता कहा गया है और जहाँ धन दहेज रूप में कन्या के पति को दिया जाता है वहाँ कन्या का भाई कहा गया है न कि पिता[३]।

ऋग्वेद के प्रसिद्ध यम-यमी संवाद सूक्त से भी ऐसा ही प्रतीत होता है कि बहिन के लिए पति प्राप्त कराना भाई का कर्त्तव्य है—'**किं भ्रातासद्यदनाथं भवाति**' ऋ० १०।१०।११। क्या भाई हुआ जो बहिन अनाथ (अ+नाथ=बिना पति) रहे। यद्यपि वह काम पीड़ित बहिन की उक्ति है फिर भी इससे स्पष्ट

---

१. डॉ० डी०एन० शास्त्रीकृत पूर्व निर्दिष्ट पृ० २६३।
२. यास्क ने 'विजामातुः' का अर्थ असमासाज्जामातुः करते हुए सूचित किया है कि दक्षिणाज क्रीता पति को विजामाता कहते हैं। निरुक्त ६।९
३. डॉ० डी०एन० शास्त्रीकृत पूर्व निर्दिष्ट पृ० २६२।

रूप से यह संकेत पाया जाता है कि ऋग्वेद में बहिन के लिए नाथ (रक्षक या पति) प्राप्त कराना भाई का कर्त्तव्य है[१]। ऋग्वेद ३।३१।२ में यास्क की व्याख्या के अनुसार बहिन का विवाह करना भाई का कर्त्तव्य परिलक्षित होता है[२]।

ऋग्वेद के साक्ष्य से यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि बहिन के पालन-पोषण एवं रक्षण तथा नैतिक आचरणों के साथ-साथ विवाह के विषय में मुख्य रूप से भाई का कर्त्तव्य है। क्योंकि यदि कन्या के प्रति ये कर्त्तव्य मुख्य रूप से पिता के होते और भाई का उत्तरदायित्व केवल पिता के पश्चात् होता तो दुराचारिणी कन्याओं को पितृविहीन कहना अधिक स्वाभाविक होता न कि भ्रातृविहीन। वैदिक इण्डैक्स के लेखकों ने भाई-बहिन के सम्बन्धों की चर्चा करते हुए बिना आधार के यह मान लिया है कि भाई पितृहीन बहिनों के पालन-पोषण का भार वहन करता था[३]। इसी प्रकार डॉ० अविनाशचन्द्र दास ने भी ऋग्वेद की उन ऋचाओं का निर्देश करते हुए जिनमें भ्रातृहीन कन्याओं के भाग्यहीन होने का उल्लेख हुआ है उनके पितृहीन होने की कल्पना भी निराधार ही कर ली है[४]।

१३. भाइयों का पारस्परिक व्यवहार—

बड़ा भाई अपने छोटे भाइयों के पालन-पोषण तथा रक्षण के विषय में सावधान रहता है। भाई आपस में एक दूसरे के कार्यों में सहायता करते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर आर्थिक सहायता भी करते हैं। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि उनका आपस का व्यवहार मधुर एवं सौहार्दपूर्ण होता है। इस मधुरता एवं सौहार्दपूर्ण व्यवहार की झलक हमें ऋग्वेद के उन प्रसंगों में भी मिलती है जिनमें देवों के साथ भाई का सम्बन्ध स्थापित करके सुख-शान्ति एवं समृद्धि की कामना की गई है।

एक भाई दूसरे भाई के पास आर्थिक सहायता के लिए जाता है और आपस में वे एक दूसरे की सहायता भी स्वीकार करते हैं, जैसा कि इन्द्र और अग्नि की स्तुति करते हुए जाति और बन्धु की भाँति मानकर धन प्राप्ति की इच्छा व्यक्त की गई है[५]। एक भाई दूसरे भाई से ऋण भी लिया करते हैं, परन्तु ऋण देनेवाला भाई सरल हो—**'मा भ्रातुरग्ने अनृजो ऋणं वेः'** ऋ० ४।३।१३। ऋग्वेद ४।५०।७ में इन्द्र द्वारा भाई बृहस्पति के पालन करने और हवि में भागी बनाने का कथन किया गया है[६]।

---

१. मिलाइये—ऋ० पा० सं पृ० ३०४।

२. **न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम्।** 'चकार गर्भं सनितुर्निधानम्' का अर्थ यास्क ने 'चकारैनां गर्भनिधानीं सनितुर्हस्तग्राभस्य' किया है। नि० ३।६

३. वैदिक इण्डैक्स, भाग २, पृ० ११३ ४. ऋग्वैदिक कल्चर, पृ० ३६८

५. ऋक् १।१०९।१।

६. **बृहस्पतिं यः सुभृतं बिभर्ति वल्गूयति वन्दते पूर्वभाजम्।** इस मन्त्र में इन्द्र पद का प्रयोग नहीं हुआ है लेकिन इसी सूक्त की अगली ऋचा १०,११ में इन्द्र का ही उल्लेख होने से इन्द्र की सम्भावना की गई है।

भाई आपस में स्पर्धा नहीं करते हैं और यदि स्पर्धा की कहीं सम्भावना होती है तो उससे बचने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं। यदि एक भाई किसी कार्य में असफल हो जाता है तो उसी कार्य को करने में दूसरा भाई हिचकिचाता है। इसका संकेत हमें ऋग् १०।९१ की ऋचाओं के कथानक में मिलता है। इसी सूक्त की चौथी ऋचा में अग्नि ने देवों के लिए हवि वहन के कार्य से स्पष्ट रूप से मना कर दिया। पाँचवीं ऋचा में वरुण ने आग्रह के साथ अग्नि से प्रार्थना की है, हे अग्नि, प्रसन्नचित होकर—(सुमनस्यमानः) हवियों का वहन करो और देवयान मार्ग को सुगम बनाओ[1]। इस पर अग्नि ने उत्तर दिया, जिस प्रकार रथ-चालक मार्ग का अनुसरण करता है, उसी प्रकार अग्नि के बड़े भाइयों ने इस कार्य का अनुसरण किया (लेकिन वे सफल नहीं हुए) इसलिए हे वरुण! मैं भय से दूर आ गया हूँ और ऐसे भय से कम्पित होता हूँ जैसे धनुर्धारी की प्रत्यंचा से श्वेत हरिण या साण्ड डरता है[2]।

सायण ने अग्नि के नष्ट हुए भाइयों के नाम भूपति, भुवनपति और भूतपति गिनाए हैं जबकि बृहद्देवता के इस आख्यान में अग्नि के नष्ट हुए भाइयों के नाम वैश्वानर, गृहपति और पावक दिये गये हैं[3]।

भाई के वध का प्रतिशोध लेना भाई का कर्त्तव्य है[4] और मिलकर भाई शत्रु का प्रतिरोध भी करते हैं। इन्द्र के विषय में यह उल्लेख पाया जाता है कि वह अपने भाई (विष्णु) के बिना और अपने परम साथी मरुतों के साथ सातवें असुर (वृत्र) की मायाओं को अभिभूत नहीं करता[5] जिसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि इन्द्र मरुत् की सहायता से अभिभूत करता है। ऋग्वेद के प्रमुख मित्र और सहायक मरुद्गण हैं। इसलिए 'मरुत्वत्' विशेषण इन्द्र के लिए प्रयुक्त हुआ है[6]।

घनिष्ठता की दृष्टि से ऋग्वेद का संकेत यह है कि तयेरे, चचेरे, ममेरे, फुफेरे और मौसेरे भाइयों की अपेक्षा सगे भाइयों में अधिक घनिष्ठता होती है[7] और इनमें भी यदि युगल भाई उत्पन्न हुए हों तो उनमें अधिक घनिष्ठता पाई जाती है[8]।

ऋग्वेद में भाइयों के पारस्परिक नैतिक आचार अत्यन्त उच्चता के

---

१. **सुगान् पथः कृणुहि देवयानान् वह हव्यानि सुमनस्यमानः।** —ऋ० १०।५१।५
२. **अग्नेः पूर्वे भ्रातरो अर्थमेतं रथीवाध्वानम् अन्वावरीषुः।**
तस्माद् भिया वरुण दूरमायं गौरो न क्षेप्नोरविजे ज्यायाः॥ —ऋ० १०।५१।६
'गौरः' पद का अर्थ सायण-गौर मृग ग्रिफिथ ने साण्ड किया है।
३. ऋ० १०।५१।६ सा०भा०, तैत्ति० सं० २।६।६, बृ०दे० ७।६१ से ८०।
४. ऋ० ५।३४।४।
५. **स सनीळेभिः प्रसहानो अस्य भ्रातुर्न ऋते सप्तथस्य मायाः॥** —ऋ० १०।९९।२
इसका अर्थ ग्रिफिथकृत अंग्रेजी अनुवाद के अनुसार किया गया है।
६. ऋ० ५।४२।६, ९।६५।१०।
७. ऋ० ८।७३।१२।
८. **प्र भ्रातृत्वं सुदानवोऽध द्विता समान्या। मातुर्गर्भे भरामहे॥** —ऋ० ८।८३।८

धरातल पर स्थित हैं क्योंकि भाई के प्रति किये गये अपराध या पाप का प्रायश्चित्त करने का विधान किया गया है—

हे वरुण! हमारे हितकर्त्ता, स्नेहीजन, (मित्र) समान योग्यतावाले (सखा) भाई एवम् अपने और पराये पड़ौसी के प्रति जो कोई अपराध या पाप किया हो हमें उससे मुक्त करो[१]। इस मन्त्र से यह भी स्पष्ट है कि एक परिवार के दूसरे पारिवारिक व्यक्तियों में अपराध या पाप होने पर प्रायश्चित्त किया जाता है जो कि नैतिक आचार की उच्चता का सूचक है।

ज्येष्ठ भाई के कुछ विशेष अधिकार—

लगभग विश्व की सारे मानव समुदाय में अग्रज के लिए मान एवं प्रतिष्ठा पाई जाती है। साथ ही साथ कुछ अधिकार भी निश्चित होते हैं। धर्मशास्त्रों एवं धर्मसूत्रों में अग्रज (ज्येष्ठ भाई) के लिए विशेष अधिकार एवं सम्मान का उल्लेख हुआ है[२]।

ऋग्वेद में ज्येष्ठ भाई के लिए कुछ न कुछ विशेष अधिकार अवश्य ही कहे गये हैं, ऐसा उसके साक्ष्य से प्रतीत होता है। ऋग्वेद में ज्येष्ठ और कनिष्ठ शब्द[३] भाइयों के लिए प्रयोग हुए हैं। जैसा कि ऋभुओं के वर्णन से स्पष्ट होता है कि ज्येष्ठ भाई अपने छोटे भाई को कार्य करने के लिए अधिकारपूर्वक आदेश देता है और छोटे भाई उसका पालन करते हैं[४]। ऋग्वेद में एक अन्य स्थान पर सायण के अनुसार यह वर्णन किया गया है कि अग्नि ने देवों का सन्देश लेकर ऋभुओं के समीप पहुँचकर ऋभुओं के समान रूप बना लिया। तब ऋभुओं को अपने जैसा रूप देखकर सन्देह हुआ कि यह क्या हमारे पास ज्येष्ठ (श्रेष्ठ) आया अथवा कनिष्ठ (यविष्ठ) आया है[५]? इस साक्षी से भी ऐसा प्रतीत होता है कि भाइयों में बड़े और छोटे के प्रति अलग-अलग नैतिक आचार के आदर्श स्वीकार किये गये हैं।

देवों में इन्द्र का ज्येष्ठ भाई के रूप में, उल्लेख भी इसकी पुष्टि करता है। ऋग्वेद ८।२।२३ में इन्द्र को देवों का ज्येष्ठ भाई कहा गया है[६]। इसीलिए सोम सवन करनेवाले के लिए विधान किया गया है कि वह ज्येष्ठ क्रम से इन्द्र के लिए सोम सवन करे। ऋषि अगस्त्य द्वारा मरुतों को हवि दिये जाने पर इन्द्र का अगस्त्य पर कुपित होने का कारण यह प्रतीत होता है कि अगस्त्य ने आचार परम्परा का उल्लंघन किया है। क्योंकि इन्द्र ज्येष्ठ है इसलिए उसको ही सम्बोधन करके हवि प्रदान करनी चाहिए। ऋग्वेद

---

१. ....**वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद् भ्रातरं वा।**
वेशं वा नित्यं वरुणारणं वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत्॥ —ऋ० ५।८५।७

२. द्र० ऋ० पा० स० पृ० ३२४।

३. ऋ० १०।११।२।

४. ऋ० ४।३३।५।

५. **किमु श्रेष्ठः किं यविष्ठो न आजगन्।** —ऋ० १।१६१।१

६. **ज्येष्ठेन सोतरिन्द्राय सोमं वीराय शक्राय। भरा पिबन्नर्याय॥** —ऋ० ८।२।२३

१।१७०।२ में अगस्त्य ने इन्द्र की स्तुति करते हुए इन्द्र को प्रसन्न करने की चेष्टा की है—हे इन्द्र! तुम हमें क्यों मारना चाहते हो, मरुत् तो तुम्हारे भाई हैं, उनके साथ अच्छी प्रकार यज्ञ भाग का सेवन करो, हमें युद्ध में न मारो[१]।

ऋग्वेद ५।६०।५ में मरुतों की समानता के सम्बन्ध में कहा गया है—इन मरुतों में न कोई ज्येष्ठ है और न कोई कनिष्ठ है। ये भाई सौभाग्य की वृद्धि को प्राप्त हुए हैं[२]। इस कथन से ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि आपस में यह अवश्य ही छोटे-बड़े हैं, तभी इनकी प्रशंसा में इनको समान कहने की आवश्यकता अनुभव हुई है।

यद्यपि ऋग्वेद में देवों के विषय में विशेष रूप से ज्येष्ठ और कनिष्ठ की चर्चा की गई है लेकिन ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर मनुष्य भाइयों में भी ज्येष्ठ-कनिष्ठ का प्रयोग हुआ है। यथा ऋग्वेद १०।११।२ में प्रार्थना की गई है—अदिति हमें इष्ट के मध्य में स्थापित करें, हमारा मुख्य ज्येष्ठ भाई स्तुति करता है। इस ऋचा से ऐसा प्रतीत होता है कि धार्मिक कृत्यों और भोज आदि में बड़े भाई को प्राथमिकता देकर प्रतिष्ठित किया गया हो[३]।

(३) काम सम्बन्धी आचार का निरूपण—

कामाचार वंश-परम्परा को अविच्छिन्न बनाए रखने के लिए किया जाता है जिसके आचरण से सन्तान की प्राप्ति होती है जो वंश परम्परा को अविच्छिन्न रखती है। सन्तानों में भी पुत्री की अपेक्षा पुत्र वंश की परम्परा को भली-भाँति सुरक्षित रख सकता है, क्योंकि वह अपने पिता के घर पर आजीवन रहता है। इसलिए विशेषकर पुत्र प्राप्ति के लिए काम का आचरण किया जाता है। ऋग्वेद में पुत्र-प्राप्ति के लिए अनेक स्थानों पर देवों से प्रार्थनाएँ की गई हैं। वैध सन्तान की प्राप्ति अपनी विवाहित पत्नी में ही हो सकती है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

---

१. **किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव।**

२. **ज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।** —ऋ० ५।६०।५

३. **इष्टस्य मध्ये अदितिर्निधातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि वोचति॥**

अध्याय-९
सामाजिक कुरीतियाँ

सभी सभ्य समाजों में आचार की प्रशंसा और अनाचार की निन्दा की गई है। यह बात आर्यों की संस्कृति एवं सभ्यता की उच्चता का सूचक, ऋग्वेद में भी पाई जाती है, क्योंकि इसमें भी जुआ, चोरी, व्यभिचार आदि अनाचार की निन्दा की गई है।

सभी समाजों में उद्भूत होनेवाली प्रवृत्तियाँ कालान्तर में रीति-रिवाजों का रूप धारण कर लेती हैं। इनमें जो कुप्रवृत्तियों से उत्पन्न होनेवाली कुरीतियाँ और सुप्रवृत्तियों से जन्म लेनेवाली सुरीतियाँ कही जाती हैं अथवा नैतिक आधार से चलनेवाली सुरीतियाँ और अनैतिक आधार से उद्भूत होनेवाली कुरीतियाँ कहलाती हैं। लगभग सभी सुप्रवृत्तियों से उद्भूत होनेवाली सुरीतियों—सत्य, अहिंसा, दान आदि का उल्लेख पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। अब कुरीतियों के विषय में विचार करेंगे। जिनका स्पष्ट रूप से संकेत ऋग्वेद में उपलब्ध हुआ है।

कुरीतियों में हम (अ) जुआ, (आ) चोरी, (इ) व्यभिचार और (ई) ऋण को ग्रहण कर सकते हैं।

(अ) जुआ—

१. ऋग्वेद में जुए से होनेवाली हानियों का उल्लेख—

लोभी मनुष्य थोड़ी पूँजी लगाकर अधिक लाभ पाने की आशा से जुए में प्रवृत्त होता है जो कि उसके अपमान एवं परिवार की दुर्दशा का कारण बनता है। जिसका बहुत ही सूक्ष्मता के साथ ऋग्वेद में चित्रण किया गया है।

ऋग्वेद १०।३४।१ में जुआरी के मनोभावों को व्यक्त करते हुए कहा गया है—'द्यूतक्रीडा-स्थान पर ये बड़े-बड़े पासे इधर-उधर लुढ़कते हुए मुझे बड़ा आनन्द दे रहे हैं। जैसे मौञ्जवत सोम के पान से प्रसन्नता होती है वैसे ही बहेड़े (वृक्ष) से बना अक्ष (पासा) मेरे लिए प्रीतिप्रद और उत्साह दाता है[१]।'

(क) हारे हुए जुआरी की मानसिक व्यथा—

हारा हुआ जुआरी कहता है कि कभी-कभी वही पासा बेहाथ हो जाता है और अंकुश के समान चुभता है। बाण के सदृश छेदता है, छुरे के समान काटता है, तप्त पदार्थ के समान सन्ताप देता है, जो जुआरी विजयी होता है उसके लिए वही पासा पुत्र जन्म के समान आनन्द देता है, मधुरिमा से युक्त होता है और मानो मीठे वचनों से सम्भाषण करता है, लेकिन हारे हुए जुआरी

---

१. **प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।**
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्॥ —ऋ० १०।३४।१

को तो प्राय: पीट ही डालता है[१]।

हारा हुआ जुआरी न चाहते हुए भी दुर्व्यसनी होने के कारण जुआ स्थल पर चला ही जाता है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद १०।३४।५ में किया गया है। जिस समय मैं यह निश्चय करता हूँ कि अब पासा नहीं खेलूँगा उस समय अपने साथी जुआरियों के पास से हट जाता हूँ, किन्तु द्यूत पट पर पड़े हुए पीले पासों को देखकर रुका नहीं जाता। मैं उनके संकेत स्थान पर उसी तरह जाता हूँ जिस तरह जारिणी स्त्री अपने जार के संकेत स्थान पर जाती है[२]।

जुआरी जीतने की आशा से द्यूत स्थान पर फिर जाता है। उसका सुन्दर चित्रण ऋग्वेद १०।३४।६ में किया गया है—'जुआरी पूछता हुआ द्यूत स्थान पर आता है और (बड़े गर्व के साथ) छाती फुलाकर कहता है—आज मैं जीतूँगा, परन्तु ये जुए के पास उसके प्रतिस्पर्धी को ही कृतकार्य करके उस 'गर्वीले' की अभिलाषा को मिट्टी में मिला देते हैं[३]। ऋक् १०।३४।८ में जुआरी अपनी हार का कारण पासों की महती शक्ति का अनुभव करता हुआ कहता है—सविता देव की तरह जिनके नियम अनुल्लंघनीय हैं, ऐसे ये त्रेपन (५३) अक्षों का समूह क्रीडा करता है। अति उग्र (वीर) के सामने भी वे कभी विनम्र नहीं होते, साक्षात् सम्राट् भी उनको नमस्कार करता है[४]। इसीलिए ये पासे कभी नीचे होते हैं तो कभी ऊपर उठते हैं, इनके हाथ नहीं हैं, परन्तु जिनके हाथ हैं वे इनसे हार जाते हैं। ये द्यूत पट पर (इरिणे) जलते हुए दिव्य अंगारों के समान पड़े हैं। ये शीतल होते हुए भी (जुआरी के) हृदय को जलाते हैं[५]। इस प्रकार जुआरी की मानसिक व्यथा का चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

(ख) जुए से पारिवारिक दुर्दशा—

जुआरी इस मानसिक सन्ताप के साथ-साथ जब अपने परिवार पर विचार करता है। उस समय उसका एकाएक ध्यान अपनी निर्दोष पत्नी पर जाता है जिसका उल्लेख ऋग्वेद १०।३४।२ में किया गया है—यह मेरी पत्नी मुझे दु:ख नहीं देती न अनादर करती है, मेरे मित्रों और मेरे लिए मंगलकारिणी रही है, केवल अक्ष (पासे) का भक्त होने के कारण मैंने

---

१. **अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः।**
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा सम्पृक्ताः कितवस्य बर्हणा॥
—ऋ० १०।३४।७

२. **यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः।**
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव॥ —ऋ० १०।३४।५

३. **सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा शूशुजानः।**
अक्षासो अस्य वि तिरन्ति कामं प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि॥ —ऋ० १०।३४।६

४. **त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां देव इव सविता सत्यधर्मा।**
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति॥ —ऋ० १०।३४।८

५. **नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।**
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति॥ —ऋ० १०।३४।९

अनुकूल व्रत पालन करनेवाली (अनुव्रता) स्त्री को छोड़ दिया है[१]। इसी सूक्त की एक ऋचा से प्रतीत होता है कि जुआरी के अत्याचार सहते-सहते तंग आकर उसकी पतिव्रता पत्नी अपने पिता के घर चली गई है। जुए का दुर्व्यसनी जुआरी कुछ पाने की आशा से अपनी ससुराल पहुँचता है, जहाँ पर उसका सम्मान नहीं होता। जिसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—सास द्वेष करती है, जाया (पत्नी) उसे छोड़ देती है, याचना करने पर भी वह (किसी को) पसन्द करनेवाला या सुखी करनेवाला नहीं पाता। जैसे बूढ़े घोड़े को कोई नहीं खरीदता वैसे ही जुआरी के भोग को मैं (कहीं) नहीं पाता[२]। जुए के कारण ससुराल वालों ने उसका तिरस्कार कर दिया है और अपने परिवार के लोग भी उसको धता बता रहे हैं, जिसका उल्लेख ऋग्वेद १०।३४।४ में किया गया है—जिसके धन पर बलवान् जुए का व्यसन ललचा जाता है, उसकी स्त्री को दूसरे हथियाते हैं। पिता, माता और भाई इसके लिए कहते हैं—हम इसको नहीं जानते, इसे (जुआरियो) बाँध कर ले-जाओ[३]।

किसी दूसरे जुआरी के परिवार के विषय में कहा गया है कि जुआरी की पत्नी दीनहीन दशा से सन्तप्त रहती है। आवारा घूमनेवाले जुआरी की माता दुःखी होकर—'पुत्र कहाँ है ? पूछती है'। जुआरी ऋणी हो धन के तकाजे से डरता हुआ वह दूसरों के घर रात्रि व्यतीत करता है। अथवा (सिर पर) दूसरों के ऋण का बोझ होने से धन की अभिलाषा रखनेवाला वह डरते डरते रात्रि के समय (छिपकर चोरी के लिए) दूसरों के घर जाता है[४]।

जुए में प्रवृत्त होनेवाला व्यक्ति यह सोचता है कि मैं थोड़ी पूंजी लगाकर मालामाल हो जाऊँगा, लेकिन ऋक् १०।३४।११ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जुआरी अपनी स्त्री की दशा को देखकर दुःखी होता है तथा दूसरों की (सुखी) जाया और अच्छे बने घरों को देखकर भी सन्तप्त होता है। पूर्वाह्न में उसने (शान) से लाल घोड़ों का रथ जोड़ा था और दिन के अन्त में वृषल (अकिञ्चन, निर्धन) होकर सर्दी के डर से अग्नि के पास बैठता है[५]। इस प्रकार जुए के कारण होनेवाली पारिवारिक दुर्दशा का चित्रण ऋग्वेद में किया गया है।

---

१. **न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।**
अक्षस्याहम् एकपरस्य हेतोरनुव्रताम् अप जायामरोधम्॥ —ऋ० १०।३४।२

२. **द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।**
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्॥ —ऋ० १०।३४।३

३. **अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्यक्षः।**
पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्॥ —ऋ० १०।३४।४

४. **जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।**
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति॥ —ऋ० १०।३४।१०

५. ऋ० १०।३४।११।

२. जुआ खेलने का निषेध—

जुआरी धनिक बनने के उद्देश्य से जुए में प्रवृत्त होता है, लेकिन उसका वह उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। अपितु अपने और अपने परिवार की दुर्दशा को ही पाता है। अतएव जुआ खेलना छोड़कर खेती करना चाहिए इसी में सुख शान्ति मिलेगी। इस विषय का प्रतिपादन ऋक् १०।३४।१३ में स्पष्ट रूप से किया गया है—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥

—ऋक् १०।३४।१३

अक्षों से जुआ मत खेलो, खेती को ही करो। उसी को बहुत मानते हुए धन में रमण करो। हे जुआरी! उसी में गाय और स्त्री का सुख प्राप्त होता है। स्वामी सविता ने ऐसा मुझसे कहा है।

३. द्यूत सूक्त का जुआरियों की पारिवारिक दुर्दशा के बाद अन्तिम सन्देश—

इस अक्ष सूक्त के विषय में उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें किसी एक जुआरी की दशा एवं परिवार की दुर्दशा का चित्रण नहीं है, बल्कि अनेक जुआरियों एवं उनके परिवारों की दशा का चित्रण किया गया है, जो जुआ खेलने से हानियाँ सम्भावित हो सकती हैं, उनका उल्लेख किया गया है। इसीलिए कहीं अनुव्रता भार्या को जुआरी छोड़ देता है[1] तो कहीं जुआरी की पत्नी उसे छोड़ देती है[2], कहीं उसकी पत्नी को अन्य लोग परिमर्षण करते हैं[3], तो कहीं दीनहीन पत्नी घर में सन्तप्त होती है[4]। दुःखी माता जुआरी के विषय में पूछती है कि मेरा बेटा कहाँ गया है[5]? कहीं पिता जुआरी पुत्र को दण्डित करता है[6] तो कहीं जुआरी के पिता-माता और भाई कहते हैं हम इसको नहीं जानते, जुआरियो, बाँधकर ले जाओ[7]। इस प्रकार अनेक जुआरियों एवं जुआरियों के सन्तप्त परिवारों का मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया गया है और अन्त में जुआ न खेलकर खेती करने का सन्देश दिया गया है[8], जिसमें सभी प्रकार की सुख-शान्ति का लाभ हो सकता है।

(आ) चोरी—

चौर्य कर्म को प्रायः सभी मानव समाजों में अनैतिक कार्य माना गया है, क्योंकि परिश्रम से अर्जित की हुई सम्पत्ति को चोर बिना परिश्रम से उसको

---

१. **अनुव्रतामप जायामरोधम्।** —ऋ० १०।३४।२
२. **द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि।** —ऋ० १०।३४।३
३. **अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य।** —ऋ० १०।३४।४
४. **जाया तप्यते कितवस्य हीना।** —ऋ० १०।३४।१०
५. **माता पुत्रस्य चरतः क्वस्वित्।** —ऋ० १०।३४।१०
६. **यन्मा पितेव कितवे शशास।** —ऋ० २।२९।५
७. **पिता माता भ्राता एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्।** —ऋ० १०।३४।४
८. **अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व।** —ऋ० १०।३४।१३

अपना बना लेता है इसलिए परिश्रमशील सदाचारी व्यक्तियों के द्वारा चोरी और चोर को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है।

ऋग्वेद में चौर्य कार्य के प्रति घृणा व्यक्त की गई है और चोरी करनेवाले व्यक्ति को दण्डित करने का विधान है। ऋग्वेद में उपलब्ध सामग्री से ऐसा प्रतीत होता है कि चोरी करनेवाले व्यक्तियों के अनेक प्रकार के नाम हैं, जो सम्भवतः उनके कार्यों के आधार पर किये गये हो सकते हैं।

१. ऋग्वेद में चोरवाचक शब्द—

आचार्य यास्क ने अपने निघण्टु में चोरवाचक शब्दों की सूची दी है[१]। वे सभी शब्द ऋग्वेद में नहीं पाये जाते, लेकिन ऋग्वेद में चोरवाचक शब्द—तक्वा[२], रिपुः[३], तायुः[४], तस्कर[५], वनर्गुः[६], हुरश्चित्[७], मुषीवान्[८], अघशंसः[९], वृकः[१०], स्तेनः[११], पाये जाते हैं।

२. ऋग्वेद में चोरों के विषय में विशेष उल्लेखनीय शब्द—

(क) रिपु और अघशंस—

ऋग्वेद में जहाँ रिपु शब्द शत्रु के लिए और अघशंस पाप कर्म के लिए प्रयुक्त हुआ है वहाँ ये दोनों शब्द ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर चोर के विशेषण के रूप में भी उल्लिखित हुए हैं। इसीलिए यास्क ने अपने निघण्टु में इन दोनों शब्दों को 'स्तेन' नामों में पढ़ा है। ऋग्वेद ७।१०४।१० में अग्नि से प्रार्थना की गई है—

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम्।
रिपुः स्तेनः स्तेयकृद्दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा तना च॥

हे अग्ने! जो हमारे अन्न के रस को नष्ट करना चाहता है जो अश्वों और गौओं के शरीरों को नष्ट करना चाहता है वह हिंसक (रिपुः) चोर (स्तेनः) चौर्यकृत्य से कष्ट को प्राप्त हो और वह अपने शरीर एवं पुत्र से हीन हो जाय[१२]। इसी प्रकार 'अघशंस' शब्द चोरवाचक अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

---

१. **तृपुः, तक्वा, रिभ्वा, रिपुः, रिक्वा, रिहायाः, तायुः, तस्करः, वनर्गुः, हुरश्चित्, मुषीवान्, मलिम्लुचः, अघशंसः, वृकः, स्तेनः। क्वचित् त्रिपुः, रितक्वा, त्रिक्वा, तृक्वा।** —नि० ३।२४
२. ऋ० १।६६।२।
३. ऋ० २।२३।१६, ५।३।११, ८।६०।८, २।३४।९, ७।१०४।१०, १०।१८५।२, ५।७९।९, ६।५१।१३।
४. ऋ० १।५०।२, ४।३८।५, ५।१५।५, ५२।१२, ६।१२।५, ७।८६।५।
५. ऋ० १।१९१।५, ६।२८।३, ७।५५।३, ८।२९।६, १०।४।६।
६. ऋ० १०।४।६।
७. ऋ० १।४२।३, ९।९८।११।
८. ऋ० १।४२।३।
९. ऋ० १।४२।४, २।४२।३, ६।२८।७, ८।६०।८, १०।१८५।२।
१०. ऋ० १।४२।२, २।२८।१०, ६।५१।१४।
११. ऋ० २।२३।१६, २८।१०, ४२।३, ५।३।११, ७९।९, ६।२८।७, ५१।१३, ७।५५।३, १०४।१०, १०।९७।१०।
१२. रिपुः शब्द का स्तेन के साथ ऋग्वेद में अन्य स्थानों पर भी उल्लेख हुआ है। द्र० २।२३।१६, ५।३।११, ६।५१।१३

ऋग्वेद १०।१८५।२ में कहा है—आदित्य जिनकी रक्षा करता है उनके घर में और मार्ग में किसी द्वेषी हिंसक चोर की नहीं चलती[1]।

ऋग्वेद में जहाँ 'अघशंसः' शब्द 'रिपु' के साथ प्रयुक्त हुआ है वहाँ 'स्तेन' के साथ भी पाया जाता है। ऋग्वेद २।४२।३ में शकुन्त से प्रार्थना की गई है—'शकुन्त, सुमंगल सूचक और प्रियवादी होकर घरों की दक्षिण दिशा की ओर बोलो जिससे चोर और दुष्ट व्यक्ति हमारे ऊपर प्रभुत्व न करे। हम पुत्र और पौत्र वाले होकर सभा में प्रभूत स्तुति करनेवाले हों[2]।' ऋग्वेद ६।२८।७ में गौओं के लिए कामना की गई है—हे गौओ! तुम सन्तानयुक्त होओ, शोभन तृण का भक्षण करो और सुख से प्राप्त होने योग्य तडागादि का निर्मल जल पियो, तुम्हारा शासक पापी चोर न हो।

(ख) वृकः—

'वृकः' शब्द भी 'स्तेन' के साथ आया है, इससे प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर अवश्य ही स्तेन के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है—

स्तेनो वा यो दिप्सति नो वृको वा त्वं तस्माद्वरुण पाह्यस्मान्।

—ऋ० २।२८।१०

जो चोर, डाकू (वृक) हमें मारना चाहता है, हे वरुण! उससे हमें बचाओ। इसी प्रकार ऋग्वेद ६।५१।१३ में अग्नि से प्रार्थना की गई है—हे अग्ने! कुटिल पापी दुष्ट चोर को दूर करो[3]।

जही न्यत्रिणं पणिं वृको हि षः॥ —ऋ० ६।५१।१४

(हे सोम!) अदानशील पणि का संहार करो, क्योंकि वह वास्तविक दस्यु है। पणि लोग गौओं को चुरानेवाले चोर होते हैं, यह बात तो सरमा-पणि संवाद से भी स्पष्ट है[4]।

ऋग्वेद में एक स्थान पर वृक का अर्थ 'ठग' भी प्रतीत होता है। ठग लोग पथिकों को मार्ग से भटकाकर ऐसे मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं जिस पर ठगों के लोग पहले से विद्यमान हैं। वे लोग अपने मार्ग से भटके हुए मनुष्यों को लूट लेते हैं। इसलिए ऋग्वेद १।४२।२ में पूषन् देव से प्रार्थना की गई है—

यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति।
अप स्म तं पथो जहि॥ —ऋ० १।४२।२

हे पूषन्! जो हमको पापी अन्याय से धन हरण करके सुखी होनेवाला छिपकर धन हरण करनेवाला चोर (वृक) आदेश दे, उसको मार्ग से दूर

---

१. **नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु। ईशे रिपुरघशंसः।**
इस मन्त्र का अनुवाद वेंकटमाधव के भाष्य के अनुसार किया गया है।

२. **प्रजावतीः सूयवसं रिशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।**
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः.......................।

३. **अपत्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम्।** —ऋ० ६।५१।१३

४. सरमा पणि संवाद ऋ० १०।१०८ पूरा सूक्त।

करो। इसी सूक्त की अगली ऋचा में इनके विषय में कहा गया है—हे पूषन्! उस (ठग) मार्ग रोकनेवाले कुटिलगामी धन हरण करते हुए को मार्ग से दूर करो[1]। ऋग्वेद १।४२।४ में ऐसे दुरात्मा कपटी (द्वयाविन्) जन को पैरों से रौंदने की प्रार्थना पूषन् देव से की गई है।

उपर्युक्त शब्दों के उल्लेख से ऋग्वेद में अनाचार करनेवाले पाप के प्रशंसक चोरों और ठगों के विषय में प्रकाश पड़ता है जिनसे रक्षा के लिए देवों से प्रार्थना की गई है और कामना की गई है कि हमारी गौओं और हम पर इनका शासन न हो।

३. चोरों की टोलियाँ—

ऋग्वेद में तायु, स्तेन और तस्कर नामवाली चोरों की अति प्रसिद्ध (गिरोह) टोलियाँ हैं ऐसा ऋग्वेद के साक्ष्य से प्रतीत होता है।

(अ) तायुः—

चोरों की यह टोली रात्रि में चोरी करने निकला करती है और प्रातः होते ही अपने निवास स्थान पर चली जाती है। ऋग्वेद १।५०।२ में कहा है 'चोर (तायुः) और नक्षत्रगण रात्रि के साथ, सूर्य आ जाने के भय से भाग जाते हैं[2]।' ये तायुः नामक चोर अधिकतर वन की भयंकर गुफाओं में निवास करते हैं, जैसा कि ऋग्वेद १।६५।१ में अग्नि के विषय में कहा गया है—'पशु चुरानेवाले चोर (तायुः) की तरह तुम भी गुहा में अवस्थान करो[3]।' ये चोर प्रजा से धन लेकर गुहा में छिपा दिया करते हैं[4] और उस धन की वहीं पर रक्षा करते हैं[5]। पशु वस्त्रादि सम्पत्ति को हरण करके चोर (तायु) वन में भाग जाते हैं। चोरी का धन ले जाते समय यदि मनुष्यों को ज्ञान हो जाता है तब उन चोरों का पीछा मनुष्य चीत्कार करते हुए करते हैं, जैसा ऋग्वेद ४।३८।५ में उल्लेख किया गया है, जैसे वस्त्र हरण करनेवाले चोर (तायु) को देखकर लोग चीत्कार करते हैं वैसे ही युद्धों में 'दधिक्रा' को देखकर चीत्कार करते हैं[6]।

(आ) स्तेन—

स्तेन नामक चोरों का गिरोह भी रात्रि में ही छिपकर चोरी करने आया करता है, क्योंकि ऋ० ७।५५।३ में कुत्ते को स्तेन के पीछे दौड़ाने का उल्लेख हुआ है[7] और इसी सूक्त में परिवार के सभी जनों के सोने की कामना

---

१. **अप त्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितम्। दूरमधि स्रुते रज॥** —ऋ० १।४२।३
२. **अपत्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः। सूराय विश्वचक्षसे॥** —ऋ० १।५०।२
तस्करा नक्षत्राणि च रात्रिभिः सह सूर्य आगमिष्यतीति भीत्या पलायन्त इत्यर्थः।
—उद्गल भाष्य
३. **पश्वा न तायुं गुहा चतन्तम्।** —ऋ० १।६५।१
४. **धवीयानृणो न तायुरति धन्वा राट्।** —ऋ० ६।१२।५
५. **पदं न तायुर्गुहा दधानो महो राये चितयन्नत्रिमस्पः।** —ऋ० ५।१५।५
६. **उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु।**
७. **स्तेनं राय सारमेय तस्करं वा पुनः सर।**

की गई है जो सम्भवतया चोरी करनेवाले चोर की प्रतीत होती है[१]। ऋग्वेद के साक्ष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि इन चोरों की टोली 'तायु' नामक चोरों की टोली से अधिक भयंकर होती है। ऋग्वेद २।२३।१६ में बृहस्पति से प्रार्थना की गई है—'हे बृहस्पति हमको चोरों के लिए न दें, ये चोर प्राण संकटापन्न स्थानों पर विचरण करते हैं[२]।' ऋग्वेद ५।३।११ में कामना की गई है, ये चोर हमसे अलग हों। ऋग्वेद ६।५१।१३ में अग्नि से कुटिल, पापी और दुष्ट चोर को दूर करने की प्रार्थना की गई है[३]। ऋग्वेद ७।१०४।१० में अग्नि से प्रार्थना की गई है जो हमारे अन्नों के रसों को नष्ट करना चाहता है, जो हमारे अश्वों, गौओं के शरीरों को नष्ट करना चाहता है, हे अग्निदेव! वह हिंसक चोर चौर्य कार्य से लघुता को प्राप्त हो और अपने शरीर तथा पुत्र से हीन हो जाय। इससे स्पष्ट है कि तायु से स्तेन अधिक दुःखदायी होता है। ऋग्वेद १०।९७।१० के अनुसार चोर पशुधन या गोधन की चोरी करते समय गोस्वामी के जागृत हो जाने पर व्रज (गौओं के रहने का स्थान) को लाँघकर भाग जाता है[४]। कभी-कभी पकड़ में आ जाने पर चोर रस्सी से बाँध भी लिया जाता है[५]। इसके अतिरिक्त राजा भी चोर को दण्डित करता है। जैसा कि उषस् की स्तुति में कहा गया है, हे सुजाता! अश्वसूनृती उषस् राजा स्तेन हिंसक को जिस प्रकार सन्तप्त करता है उस प्रकार सूर्य तुम्हें रश्मि द्वारा सन्तप्त न करे[६]।

(इ) तस्कर—

ऋग्वेद में सबसे अधिक भयंकर तस्कर नामक चोरों की टोली है जिसके सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है कि वे वन में निवास करते हैं और पथिक को रस्सी से बाँधकर धन हरण कर लिया करते हैं जिसका उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है—

तनूत्यजेव तस्करा वनर्गूरशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्।

—ऋ० १०।४।६

जैसे शरीर को त्यागने वाले, वन में विचरनेवाले दो चोर रस्सियों से पथिक को बाँधकर खींचते हैं वैसे हम दोनों हाथ की दशों अंगुलियों के द्वारा यज्ञ काष्ठ से अग्नि को मथते हैं। ये तस्कर भी रात्रि में ही चोरी करते हैं, क्योंकि ये भी रात्रि में ही दिखाई देते हैं[७]। इनके पीछे भी कुत्ते दौड़ाने का

---

१. **सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः।**
ससन्तु सर्वे ज्ञातयः सस्त्वयमभितो जनः॥ —ऋ० ७।५५।५

२. **मा नः स्तेनेभ्यो ये अभि द्रुहस्पदे निरामिणो रिपवोऽन्नेषु जागृधुः।** —ऋ० २।२३।१६

३. **अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम्।**

४. **अति विश्वाः परिष्ठाः स्तेन इव व्रजमक्रमुः॥** —ऋ० १०।९७।१०

५. **स्तेनं बद्धमिवादिते।** —ऋ० ८।६७।१४

६. **नेत् त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति सूरो अर्चिषा सुजाते अश्वसूनृते॥** —ऋ० ५।७९।९

७. **एत उ त्ये प्रत्यदृशन् प्रदोषं तस्करा इव।** —ऋ० १।१९१।५

उल्लेख हुआ है। आचार्य सायण के अनुसार छिपकर धन हरण करनेवाले 'स्तेन' नामक चोर होते हैं और प्रकट रूप से धनहारी तस्कर[१]। तस्कर भी गौओं की चोरी करते हैं इसीलिए गौओं के विषय में यह कामना की गई है कि गौएँ हमसे न बिछुड़ें और कोई तस्कर उन्हें पीड़ा न पहुँचाये[२]। तस्करों के विषय में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वे छिपे हुए धन को भी जानने में समर्थ होते हैं, जैसा कि पूषन् देव की स्तुति में कहा गया है—

पथ एकः पीपाय तस्करो यथाँ एष वेद निधीनाम्। —ऋ० ८।२९।६

पूषा मार्गों की रक्षा करता है और गुप्त धनों को जानता है। जैसे तस्कर गुप्त धन को जानता है।

४. दण्ड-विधान—

ऋग्वेद में चोरों के लिए दण्ड विधान का उल्लेख किया गया है। चोरों के पीछे कुत्ते दौड़ा दिये जाते हैं[३]। चोर का पीछा करते हुए लोग अनुक्रोश के साथ दौड़ते हैं[४]। जो चोर चोरी करके वन में भाग जाता है उसके पदचिह्नों का अनुगमन करके पकड़ने का प्रयत्न किया जाता है। चोर को रस्सी से बाँध लिया जाता है[५]। शासन की ओर से भी दण्डित किया जाता है[६]। कभी-कभी चोर का धन लेकर प्रजा में वितरण भी कर दिया जाता है[७] और यदि चोर चोरी किये हुए धन को देने में आनाकानी करता है तो उसको कारागार (दुर्ग-जेल) में डाल दिया जाता है। जैसा कि इन्द्र के विषय में उल्लेख किया गया है—

समीं पणेरजति भोजनं मुषे वि दाशुषे भजति सूनरं वसु।
दुर्गे चन ध्रियते विश्व आ पुरु जनो यो अस्य तविषीमचुक्रुधत्॥
—ऋ० ५।३४।७

पणि के पास से पशुओं को इन्द्र बल पूर्वक हरण करने के लिए जाता है और आहरण करके दानशील को शोभन धन विभक्त कर देता है। किन्तु जो जन इसके बल पर क्रोधित होता है, वे सब कष्ट-स्थान पर (दुर्ग अर्थात् जेल में) रखे जाते हैं[८]।

(इ) व्यभिचार—

१. व्यभिचारी स्त्री-पुरुषों के प्रति घृणा का भाव—

ऋग्वेद में जिस प्रकार से जुआ और चोरी को अनैतिक कार्य माना जाता है, उसी प्रकार व्यभिचार को भी अनैतिक आचरण में गिना गया है। व्यभिचारी स्त्री-पुरुषों के प्रति घृणा व्यक्त की गई है, जैसा ऋग्वेद ४।५।५ में कहा है—

---

१. **प्रच्छन्नधनापहारी स्तेनः प्रत्यक्षधनापहारी तस्करः।**
द्रष्टव्य—सायण भाष्य ऋ० ७।५५।३ पर उद्धृत।

२. **न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासाममित्रो व्यथिरा दधर्षति॥** —ऋ० ६।२८।३

३. ऋ० ७।५५।३।

४. ऋ० ४।३८।५।

५. ऋ० १।६५।१।

६. ऋ० ८।६७।१४।

७. ऋ० ५।७९।९।

८. इस ऋचा का अनुवाद वेंकटमाधव के अनुसार किया गया है।

अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्॥

भ्रातृहीन और पति से द्वेष करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्रियों के समान इधर-ऊधर घूमनेवाले असत्य तथा अनृत आचरण करनेवाले पापी (व्यभिचारी) जनों ने इस गहन पद (नरक स्थान) को उत्पन्न किया है।

समाज में व्यभिचार से उत्पन्न सन्तान एवं उसको उत्पन्न करनेवाली स्त्री को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। इसलिए यदि कोई स्त्री अनैतिक आचरण से गर्भवती हो जाती है तो वह उस गर्भ को एकान्त स्थान पर गिरा देती है। इसी भावना को ऋग्वेद में आदित्यों से पाप को दूर कर देने की प्रार्थना में कहा है—

धृतव्रता आदित्या इषिरा आरे मत् कर्त रहसूरिवागः।

—ऋ० २।२९।१

हे व्रत को धारण करनेवाले बलशाली आदित्यो! तुम एकान्त में प्रसव करने वाली स्त्री के समान पाप को मुझसे दूर फेंक दो। इस ऋचा में पापों को दूर कर देने की उपमा छिपकर प्रसव करनेवाली स्त्री से दी गई है। 'रहसूरिव' की व्याख्या में सायण ने लिखा है—'जो स्त्री अन्यों के द्वारा किये हुए गर्भ के कारण एकान्त अज्ञात प्रदेश में सन्तान उत्पन्न करती है, वह व्यभिचारिणी होती है। वह जिस प्रकार गर्भ को गिराकर दूर स्थान पर छोड़ती है'। इस ऋचा के आधार पर वैस्टरमार्क ने प्राचीन भारत में कन्या वध का प्रचलन माना है, परन्तु निःसन्देह यह ऋचा (२।२९।१) कन्या वध की ओर संकेत नहीं करती है, लेकिन अवैध सन्तान के वध की ओर स्पष्ट रूप से संकेत है[१]। जिसका उल्लेख ऋग्वेद में अन्य स्थानों पर भी किया गया है[२]। ऋग्वेद की इन साक्षियों से जहाँ अवैध सन्तान के प्रति घृणा प्रकट होती है वहाँ वैध सन्तान तथा सदाचार के प्रति सम्मान भी ध्वनित होता है। अवैध सन्तानों के प्रति दया का भाव हमें धर्मशास्त्रों में उपलब्ध होता है जिसमें ऐसी सन्तानों को भी दायाद का अधिकारी माना गया है[३]।

२. व्यभिचारियों का त्याग—

ऋग्वेद में जहाँ व्यभिचारी स्त्री-पुरुषों के प्रति घृणा की गई है। वहाँ उनके परिवार के लोग भी उनसे अपना नाता तोड़ लेते हैं। ऋग्वेद मण्डल १० के सूक्त १०९ में दैवत कथानक का उल्लेख हुआ है, जिसमें कहा गया है कि बृहस्पति ने अपनी 'जुहू' नामक पत्नी को व्यभिचारिणी समझकर त्याग दिया

---

१. ओरिजन एण्ड डैवलपमेण्ट आफ मोरल आइडियाज—पृ० ३९३-४१३।
(वेदालंकार हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० २४४, पा० टि० ४ में निर्दिष्ट तथा ऋ० पा० स० पृ० २३६)

२. ऋ० १।११२।८, २।१३।१२, १५।७, ४।१९।९, ३०।१६,१९, १०।६१।८

३. **औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च। गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट्॥** —मनु० ९।१५९, बो० ध० सू० २।३।३१

है, लेकिन वह वास्तव में शुद्धचरित्रा है, इसलिए सोम, देवों और मनुष्यों ने हस्तक्षेप किया, जिससे बृहस्पति ने अपनी पत्नी को पुनः ग्रहण कर लिया[१]। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि विवाहित एवं शुद्धचरित्रा पत्नी को त्यागना समाज में पाप समझा जाता है। क्योंकि छोड़ी गई 'जुहू' नामक पत्नी को बृहस्पति के द्वारा स्वीकार कर लेने पर ही देवों द्वारा बृहस्पति को निष्पाप करने का उल्लेख हुआ है[२]। इस आलंकारिक वर्णन से इतना स्पष्ट है कि मनुष्य ही नहीं यदि देवता भी निर्दोष पत्नी का त्याग करे तो इस कार्य का देवता और मनुष्य मिलकर हस्तक्षेप करें तथा उसको पुनः पति के घर स्थापित करें। तभी पत्नी का त्याग करनेवाले को निष्पाप मानें। इससे भी चारित्रिक उच्चता एवं न्यायप्रियता ही प्रकट होती है।

३. 'जार' शब्द की ऋग्वेद में स्थिति—

ऋग्वेद के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है 'जार' शब्द शुद्ध प्रेमी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि अधिकतर इसका उल्लेख 'उषस्' और आदित्य[३], अग्नि[४], इन्द्र[५] और सोम[६] आदि के कार्यों को स्पष्ट करने के लिए हुआ है। जिससे यह विश्वास दृढ़ होता है कि ऋग्वेद में 'जार' शब्द प्रेमी का वह अर्थ नहीं है जो कि उत्तरवैदिक साहित्य एवं धर्मशास्त्रों में पाया जाता है।

इस 'जार' शब्द के विषय में डॉ० शिवराज शास्त्री ने ठीक ही लिखा है—धर्मशास्त्रों में तथा उत्तरवर्ती साहित्य में 'जार' शब्द बुरे अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु ऋग्वेद में 'जार' विशुद्ध प्रेमी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसमें नैतिक दुराचार की तनिक भी गन्ध नहीं है[७]।

ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि अविवाहित लड़कियों के जार होते हैं[८] और वे उनसे एकान्त स्थान पर निःसंकोच मिल सकती हैं[९], तथा कभी-कभी अपने घर आने का भी आमन्त्रण देती हैं[१०], क्योंकि इनके पवित्र हृदय में किसी प्रकार के पाप या दुराचार की भावना नहीं होती। प्रो० कीथ और मैक्डानल का भी यही विचार है—"जार (प्रेमी) का आरम्भिक (ऋग्वेदादि) ग्रन्थों में कोई गर्हित आशय नहीं है और उनमें यह शब्द किसी भी प्रेमी के लिए व्यवहृत हुआ है। किन्तु यह सम्भव प्रतीत होता

---

१. ऋ० १०।१०९।२, ५, ६।
२. ऋ० १०।१०९।७
३. ऋ० ७।७६।३।
४. ऋ० १।६९।१, ५।७।९, १।१०।१, १०।३।३, ११।६।
५. ऋ० १०।११।९, ४२।२।
६. ऋ० ९।९६।२३, १०१।१४।
७. ऋ० पा० स० पृ० २३१ की पाद टिप्पणी ५ में उद्धृत।
८. **अभिगावो अनूषत योषा जारमिव प्रियम्।** —ऋ० ९।३२।५
९. **युवोर्ह मक्षा पर्यश्विना मध्वासा भरत निष्कृतं न योषणा।** —ऋ० १०।४०।६
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव। —ऋ० १०।३४।५
१०. **प्र बोधया पुरन्धिं जार आ ससतीमिव।** —ऋ० १।१३४।३

है कि पुरुषमेध के समय 'जार' को अवैध प्रेमी समझा गया हो, बृहदारण्यक उपनिषद् में भी यही आशय मिलता है और इन्द्र को गौतम की पत्नी अहल्या का प्रेमी (जार) कहा गया है[१]।'' इससे यह स्पष्ट है कि सदाचार का इतिहास उन्नतावस्था से ह्रास की ओर है।

(ई) ऋण—

सामाजिक रीतियों में 'ऋण' की प्रथा भी हो सकती है वस्तुतः इसका सम्बन्ध समाज की अपेक्षा व्यक्ति से अधिक है, लेकिन व्यक्ति समाज का ही एक घटक है और अनेक व्यक्ति ही समाज का रूप धारण कर लेते हैं। इसलिए ऋण की प्रथा भी सामाजिक कुरीतियों में आती है, क्योंकि एक 'ऋणी' व्यक्ति को समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता है और अनृणी व्यक्ति समाज में सम्मान का पात्र होता है।

१. ऋण ग्रहण के प्रकार—

वर्तमान समाज में ऋण लेने की प्रथा यह है कि जब कोई ऋण लेता है तब उसको ऋणदाता यथेच्छ 'सूद' तय करता है और यदि ऋण लेनेवाले को स्वीकार हुआ तब वह उस व्यक्ति को नियत समय पर देने के लिए रुपये उसको दे देता है। हर मास उससे सूद लेता रहता है, कहीं-कहीं पर मित्रगण बिना सूद के भी रुपया ऋण के रूप में दे देते हैं और कहीं-कहीं रुपया देने से पूर्व ऋणदाता सरकारी पत्र (मुद्रांक पत्र) पर ऋण लेनेवाले की मकान, दुकान या अन्य कोई अचल सम्पत्ति को गिरवी लिखकर रुपया दे देते हैं। कहीं-कहीं किसी धनाढ्य व्यक्ति की साक्षी लेकर भी रुपया देते हैं। इस प्रकार अनेक स्थानों पर ऋण देने की अनेक रीतियाँ प्रचलित हैं।

२. ऋणी व्यक्ति कष्टमय जीवन व्यतीत करता है—

ऋणी व्यक्ति के जीवन में चिन्ता व्याप्त हो जाती है जो उसके सुख-शान्ति का दहन कर देती है। ऋणी व्यक्ति चिन्ता से इतना सन्तप्त हो जाता है कि उसको यह अनुभव ही नहीं होता कि प्रातःकाल की उषा वेला आ गई है, जिसका कि अपना आनन्द तथा स्वारस्य है, जिससे वह वंचित रहता है। वह तो चिन्ता में घुलता हुआ शीघ्र ही मृत्यु का ग्रास हो जाता है।

जैसा कि ऋग्वेद २।२८।९ में वरुण से प्रार्थना करते हुए कहा है—हे वरुण राजन्! मेरे द्वारा किये ऋणों को दूर करो, मैं दूसरे की कमाई का भोग न करूँ, ऋण के कारण ऋणकर्त्ताओं के लिए मानो अनेक उषाओं का उदय ही न हुआ हो। वरुणदेव, हम उन उषाओं में भी जीवित रहें, ऐसी व्यवस्था करो[२]।

३. ऋण मुक्ति के लिए देवों से प्रार्थनाएँ—

ऋग्वेद में अनेक देवों से ऋण मुक्त या शोध करने की भी प्रार्थनाएँ की

---

१. वैदिक इण्डैक्स—'जार' शब्द।

२. **पर ऋणा सावीरध मत्कृतानि माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्।**
अव्युष्टा इन्नु भूयसीरुषास आ नो जीवान् वरुण तासु शाधि॥ —ऋ० २।२८।९

गई हैं जिनमें वरुण, बृहस्पति[१], सोम[२], इन्द्र[३] और उषस्[४] को प्रधानता प्रदान दी गई है। इससे स्पष्ट है कि नैतिक दृष्टि से मानव को अनृणी होना ही श्रेष्ठ है।

४. ऋण सरल व्यक्तियों से ही ग्रहण करे—

यदि कभी जीवन में ऋण लेना ही पड़े तो वह सरल सदाचारियों से ऋण ग्रहण करे, कुटिल दुष्ट व्यक्तियों से ऋण न ले, क्योंकि वह एक देकर अनेक प्राप्त करने की चेष्टा करेगा। इसलिए कुटिल भाई से भी ऋण न ले। जैसी कि ऋग्वेद में अग्नि से प्रार्थना की गई है—

मा भ्रातुरग्ने अनृजोर्ऋणं वेः। —ऋ० ४।३।१३

हे अग्निदेव! हम अनृजु (कुटिल) भाई का ऋण प्राप्त न करें।

५. अपने जीवन में ही ऋण चुका देना चाहिए—

ऋण लेकर अपने जीवन में अवश्य ही चुकता कर देना चाहिए, चाहे वह ऋण रुपयों के रूप में हो अथवा अन्न के रूप में। इसी भाव को अथर्ववेद में अग्नि से प्रार्थना करते हुए कहा है—जो भी ऋण अन्य जीवों से लिया हो उसको हम अपने जीवन में ही चुका दिया करें। जो भी धान्य आदि लेकर खाऊँ उसको भी लौटाकर ही हे अग्ने! मैं अनृणी होऊँ[५]। क्योंकि ऋण लेकर न देनेवाले को ऋणदाता रस्सी से बाँधकर यमलोक (न्यायालय) में ले जाता है[६]। इसी भय से ऋणी जुआरी भयभीत हुआ-हुआ अपना घर छोड़कर अन्यों के घर रात्रि व्यतीत करता है तथा दूसरों के यहाँ चोरी से धन प्राप्त करने की भी इच्छा करता है। जैसा कि ऋग्वेद १०।३४।१० में उल्लेख किया गया है—

ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति॥

जुआरी ऋणवाला होकर धन की इच्छा करता हुआ भयभीत होता हुआ दूसरों के घर रात्रि में (चोरी करने) जाता है।

ऋग्वेद के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जुआ ही सब अनैतिक आचरणों का जन्मदाता है, क्योंकि द्यूत सूक्त में ही व्यभिचार, चोरी और ऋण का उल्लेख हुआ है।

यह बात स्मरणीय रहे कि ऋग्वेद में कोई व्यवस्थित रूप से सामाजिक कुरीतियों का उल्लेख नहीं हुआ। लेकिन उससे उपलब्ध सामग्री से इस विषय में कुछ-कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है और जिनका आज भारतीय समाज में प्रचलन पाया जाता है।

इन सामाजिक कुरीतियों की ऋग्वेद में निन्दा तथा घृणा व्यक्त की गई है जिससे व्यक्ति इनसे विरत होकर सदाचार का अनुसरण करे जिसका उल्लेख इससे पूर्व के अध्यायों में किया गया है। यही ऋग्वेद की भावना है।

---

१. ऋ० २।२३।११, १७। २. ऋ० ९।११०।२।
३. ऋ० १०।८९।८। ४. ऋ० १०।१२७।७।
५. **इहैव सन्तः प्रतिदद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो निहराम एनत्।**
अपमित्य धान्यं यज्जघासाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि॥ —अथर्व० ६।११७।२
६. **ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत्।** —अथर्व० ६।११८।२

अध्याय-१०
उपसंहार

इस अध्याय में पूर्व अध्यायों के प्रतिपादित विषय का संक्षेप में पुनरावलोकन करते हुए आचार सामग्री का एक संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया जाएगा।

ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि सत्य अहिंसा दानादि आचार-सामग्री की बहुलता है। जिसका आचरण अधिकांश रूप से भारतीय समाज में पाया जाता है। जो सम्भवत: वंशानुक्रम से उपलब्ध हुआ है।

आचार की उत्कृष्टता के कारण मानव, पशुवर्ग से श्रेष्ठ माना गया है। जिसकी उत्कृष्टता को सभी मानव समुदायों ने स्वीकार किया है। जहाँ हमारे सच्छास्त्रों में आचार की महत्ता को स्वीकार किया गया है वहाँ आधुनिक समाजशास्त्रियों के द्वारा भी उसकी महत्ता को स्वीकारा है तथा समाज की उत्कृष्टता को जानने के लिए आचार को मापदण्ड माना है।

ऋग्वेद में आचार सामग्री का उद्भव देवों के आचरण से होता है। जिसको शतपथकार याज्ञवल्क्य एवं बृहद्देवताकार ने भी स्वीकार किया है।

आचार सामग्री का वर्गीकरण—

(१) आचरणीय तथा (२) अनाचरणीय।

(१) आचरणीय सामग्री के भी दो विभाग किये जा सकते हैं—

(क) सत्य, श्रद्धा, अहिंसा और दान, जिनका सम्बन्ध व्यक्तिगत अधिक है, लेकिन जिनके आचरण से समाज उपकृत होता है।

(ख) समाज में सामञ्जस्य की भावना, प्रगतिशील जीवन और वैवाहिक जीवन आते हैं, जिनके आचरण से व्यक्ति उपकृत होता है। लेकिन समाज के सहयोग की अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है।

(२) अनाचरणीय सामग्री में जुआ, चोरी, व्यभिचार एवं ऋण को लिया गया है। जिनके आचरण से व्यक्ति आचारहीन हो जाता है। अत: एक भद्र व्यक्ति को इनसे सावधान रहना चाहिए।

आचार सामग्री की सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में प्रचुरता है, जिसकी साक्षी हमें वैदिक साहित्य से होती है और जिसका स्पष्ट चित्र प्राप्त होने के कारण—वेदों में कोई विशेष आचार सम्बन्धी सामग्री नहीं है यह भ्रान्त धारणा भी निर्मूल हो जाती है। अतएव ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं वैदिक कर्मकाण्डीय ग्रन्थों से आचार सामग्री का संक्षेप में सप्रमाण चित्र प्रस्तुत किया गया है।

जिस बौद्धाचार का विश्व में बोलबाला रहा है उसका उद्गम स्थान विशेष रूप से ऋग्वेद है। इसका भी दिग्दर्शन कराया गया है, जिसकी उपलब्धि आचार शास्त्र के इतिहास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सत्य—मानव जीवन का एक श्रेष्ठ गुण, कदाचित् सर्वश्रेष्ठ गुण सत्य का उल्लेख अपने सच्चा, विश्वसनीय, सफल, पूर्ण एवं पूर्ण प्रभाव वाला आदि अनेक अर्थों में हुआ है। मूलत: यह शब्द विशेषण प्रतीत होता है। ऋग्वेद में इसका एक अर्थ पवित्र नियम के रूप में भी प्राप्त होता है।

'ऋत' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में 'सत्य' के अर्थ में अनेक स्थानों पर हुआ है,

लेकिन इसका प्रचुर प्रयोग तो शाश्वत नियम के अर्थ में ही पाया जाता है।

ऋग्वेद में असत्यवाचक 'मिथुया, असत्, मोघम्, अलकम्, सत्यध्वृतम्, वाक्स्तेनम्, असत्यम्, अनृतम्' आदि शब्दों का उल्लेख हुआ है। जिन ऋचाओं में इन असत्यवाचक शब्दों का प्रयोग हुआ है उनमें अनाचारियों के प्रति घृणा व्यक्त की गई है तथा देवों से ऐसे व्यक्तियों को दण्डित करने की प्रार्थना की गई है। देवता असत्यवादियों को कठोरतम दण्ड देते हैं, इसका भी उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है।

ऋग्वेद में सत्यकथन की सार्थकता कहे हुए के आचरण पर है। अतः सत्य के आचरण पर बल दिया गया है।

श्रद्धा—मानव जीवन में श्रद्धा का एक पवित्र भाव होता है जो सत्य निष्ठा के सहारे विश्वास के रूप में विद्यमान रहता है। ऋग्वेद में इस भावात्मक तत्त्व को देवता के रूप में एक पूरा सूक्त कहा गया है, लेकिन जो भारतीय जनमानस में विश्वास का भाव है, उसका भी अनेक स्थानों पर उल्लेख किया गया है।

ऋग्वेद में 'श्रद्धा' शब्द से उद्भूत होनेवाले आस्था, निष्ठा, विश्वास आदि अनेक अर्थ हैं, उनका भी चित्रण 'श्रद्धा' शब्द से ही किया गया है।

अहिंसा—ऋग्वेद में भी मन, कर्म, वचन से किसी को कष्ट न देना, अहिंसा का स्वरूप माना गया है। क्योंकि ऋग्वेद की मूल भावना अहिंसामय सुख-शान्ति की है और सुख-शान्ति की भावना से ऋग्वेद ओत-प्रोत है।

ऋग्वेद में सुख के वाचक 'सुखम्, स्योनम्, सुदिनत्वम्, मृडितृ, मयः, मयोभुः, मयोभूः, सुग्म्यम्, शग्म्यम्, सुम्नम्, शर्मन्, शुनम्, शिवम्' आदि शब्द प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। शान्ति के लिए 'शम्' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में किया गया है और सुख शान्ति की उपलब्धि माधुर्यमय वातावरण में होती है। इसका भी वर्णन ऋग्वेद में किया गया है।

सुख-शान्ति से रहना ऋग्वेद का आदर्श है, जिसके लिए अहिंसा से युक्त होना अति आवश्यक है। जिसके प्रकाशन के लिए ऋग्वेद में मित्र, स्वस्ति, भद्र एवं अभय वाचक शब्द पाये जाते हैं।

ऋग्वेद में अहिंसा का स्पष्ट उल्लेख भी किया गया है जिसकी पुष्टि इस बात से होती है कि ऋग्वेद में अहिंसावाचक अरिष्टः, अपतिघ्नी, अघ्नतः, अक्षतः, अरिष्यत्, अद्रुहः, अध्रुक्, अद्वेषेण्यः, अद्वेषः, अध्वरः आदि शब्दों का उल्लेख किया गया है।

ऋग्वेद में हिंसा करनेवाले पणि, वृत्र, दस्यु आदि की हिंसा करने के लिए देवों से कामना की गई है तथा देवों ने हिंसा करनेवालों की हिंसा भी की है। जिससे चिरस्थायी अहिंसा की स्थापना हो सके।

दान—दीन-दुःखियों को आवश्यकतानुसार देना, दान कहलाता है जो कि हमारे मानवीय जीवन के लिए एक अत्यावश्यक अंग माना गया है।

ऋग्वेद में दानदाताओं को अनेक प्रकार से उच्च स्थान प्राप्त होने की चर्चा की गई है। दानी का समाज में सम्मान होता है तथा उसका रथ अबाध गति से चलता है। दान से दानी का धन घटता नहीं, अपितु बढ़ता है।

ऋग्वेद में दान और दक्षिणा ये दो शब्द विशेष रूप से दानार्थ उपलब्ध होते हैं, जिनसे दान करने की भावना का प्रकटीकरण होता है। दान के समान दक्षिणा देनेवाले की भी प्रशंसा ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर परिलक्षित होती है।

दान न देनेवालों की कठोर शब्दों से निन्दा की गई है तथा देवों से अदानियों का धन

हरण करने एवं दण्डित करने की भी प्रार्थना की गई है।

जो लोग दान उदारतापूर्वक देते हैं वे ही देवताओं के द्वारा अधिकाधिक धन-धान्य प्राप्त करते हैं। अर्थात् दानी ही देवताओं के दान के पात्र कहे जाते हैं कञ्जूस नहीं, इसका भी वर्णन ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर किया गया है।

ऋग्वेद में आदर्श दानपरायणता के भी दर्शन होते हैं। क्योंकि ऋग्वेद में जहाँ बड़े राजा लोग, ऋषि-महर्षि एवं विद्वानों को दान दक्षिणा देते हैं वहाँ दीनहीन जनों को भी दान देकर उनके कष्टों को शमन करने का प्रयत्न करते हैं।

समाज में सामञ्जस्य की भावना—समाज में सामञ्जस्य की भावना का उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है। उसमें भेद-भावना तथा सामाजिक अन्याय लेशमात्र को भी नहीं है। एक ही परिवार के सदस्य अपनी आजीविकार्जन के लिए विभिन्न प्रकार के कार्य अपनाने में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं।

ऋग्वेद में प्रारम्भिक वर्ण व्यवस्था का उल्लेख हुआ है। इसमें आज के हिन्दू समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था जैसी संकीर्णता नहीं है, क्योंकि ऋग्वेद की वर्ण-व्यवस्था गुण कर्मानुसार है जबकि वर्तमान हिन्दू समाज में जन्म पर आधारित है।

ऋग्वेद सामूहिक प्रार्थनाओं से ओत-प्रोत है जिसमें स्तोताओं ने जहाँ अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए देवों से प्रार्थना की है वहाँ उन्होंने समाज कल्याण के लिए सुख, शान्ति, स्वस्ति, भद्रता, निडरता, पापमुक्ति, आयुष्य, रक्षण एवं विजय के लिए सामूहिक रूप से भी देवों से प्रार्थनाएँ की हैं।

ऋग्वेद में सामूहिक रूप से देवों को सोमपान कराया गया है तथा मानव समुदाय भी सामूहिक सोमपान करते हुए चित्रित किये गये हैं। सामूहिक खान-पान को श्रेष्ठ माना गया है और एकाकी खानेवाले की पापी कहकर निन्दा की गई है।

ऋग्वेद में धार्मिक कृत्य भी सामूहिक रूप से किये जाने का विधान किया गया है और यज्ञ को सामूहिक रूप से करने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

परिवार ही समाज का एक घटक होता है तथा अनेक परिवारों के समूह से समाज का निर्माण होता है। पारिवारिक आचार से समाज प्रभावित होता है। अतः ऋग्वेद में उल्लिखित परिवारों में भी समानता एवं सामूहिकता पाई जाती है।

ऋग्वेद में आर्येतर पणि, दस्यु, वृत्रादि के साथ सामञ्जस्य की भावना का अभाव पाया जाता है।

प्रगतिशील जीवन—प्रगतिशील जीवन में श्रम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद में श्रम का महत्त्व स्वीकार किया गया है। देवता क्रियाशील व्यक्ति को पसन्द करते हैं और उसके मित्र भी होते हैं तथा श्रमिक की सहायता भी करते हैं।

मित्रों के मिलकर उद्योग करने से प्रगति होती है, लेकिन उन मित्रों का समान मनवाला होना आवश्यक है। ऋग्वेद में प्रगति में सहायक होनेवाली वस्तुओं का भी उल्लेख किया गया है।

प्रगति के लिए निरपराध, निष्पाप और अनिन्द्य होना अत्यावश्यक है। ऋग्वेद में पाप या अपराध वाचक (आगस्, एनस्, एनस्वन्तः, अघ, अघशंसः, दुरित, दुष्कृत, द्रुग्ध आदि शब्दों की बहुलता है जिनमें प्रतिपादित अपराधों से मुक्ति पाने के लिए देवों में आदित्य और वरुण देव से विशेषरूप से प्रार्थना की गई है। निन्दनीय कार्य एवं निन्दक से बचाने के लिए देवों से कामना की गई है और निन्दक को कठोर दण्ड देने की उनसे प्रार्थना की गई है।

प्रगति के लिए सुकर्मा, यशस्वी, ग्रहण परित्यागी, अदीन, उत्साही, अनृणी, स्वावलम्बी होने का उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है। आमोद-प्रमोद के साथ प्रगति करने के लिए दीर्घ जीवन की भी कामना देवों से की गई है।

वैवाहिक जीवन और काम सम्बन्धी आचरण का निरूपण—मानव का वैवाहिक जीवन प्रतिष्ठा की वृद्धि करनेवाला और उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों को करने के लिए प्रेरित करता है। सहनशक्ति का संचार कर जीवन में सदाचार और त्याग की भावना को बढ़ावा देनेवाला होता है।

वैवाहिक जीवन में प्रविष्ट होने के समय का कन्या एवं युवक की शारीरिक तथा मानसिक अवस्था का निर्देश ऋग्वेद में किया गया है।

ऋग्वेद में साथी के चुनाव में मध्यम मार्ग का अनुसरण किया गया है पूर्णरूप से कन्या भी साथी के चुनाव में स्वतन्त्र नहीं है और कन्या के माता-पिता तथा भाई को भी पूर्ण अधिकार नहीं है कि कन्या की इच्छा के विरुद्ध जिससे चाहें उसका विवाह कर दें। वर पक्ष के लोग भी योग्य वधू की प्राप्ति में वर की सहायता करते हुए चित्रित किये गए हैं।

ऋग्वेद में विवाह-विधि केवल सामाजिक ही नहीं है अपितु धार्मिक भी मानी गई है। क्योंकि विवाह सूक्त में देवों का अनेक स्थानों पर आह्वान किया गया है। विवाह का मुख्य उद्देश्य वैध सन्तानों की प्राप्ति, वह भी विशेषकर पुरुष सन्तानों की प्राप्ति करना माना गया है, जिनको पुरुष अपनी विवाहित पत्नी में ही प्राप्त कर सकता है। इसलिए ऋग्वेद में औरस (नित्यसूनुः) की लालसा विशेष रूप से पाई जाती है।

पति—पति-पत्नी का महत्त्व ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर चित्रित किया गया है। पत्नी का पति के जीवन में विशेष स्थान होता है। ऋग्वेद में पत्नी को पति का 'घर' कहा गया है। पति पत्नी का पारस्परिक व्यवहार मधुर एवं आह्लादकारी होता है। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर पति से आनन्दित पत्नी का वर्णन किया गया है।

पति को पत्नी पर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त है, इसलिए वह अपराधिनी पत्नी को दण्डित कर सकता है और त्याग भी सकता है। लेकिन शुद्धचरित्रा पत्नी को त्यागने पर सामाजिक दबाव पड़ता है और उसको ग्रहण करने के लिए बाधित किया जाता है। अनेक पत्नियों वाले पति की दुर्दशा का उल्लेख हुआ है। इसलिए ऋग्वेद में एक पत्नीव्रत को श्रेष्ठ माना गया है।

पति अपनी पत्नी का पूर्ण भरण-पोषण रूप कर्त्तव्य निभाने में तत्पर रहता है, इसलिए ऋग्वेद में कहीं पर भी विशेष रूप से पत्नी धन की चर्चा नहीं है।

पत्नी—पत्नी का पति के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। पत्नी अपने पति के लिए पूर्णरूप से समर्पण कर देती है। पति की अनुव्रता होती है तथा पुरुष सन्तान उत्पन्न करके समाज और परिवार में गौरव प्राप्त करती है।

धार्मिक दृष्टि से पत्नी अति उच्च अवस्था को प्राप्त है और पति के साथ धार्मिक कृत्यों के करने के अतिरिक्त पति की अनुपस्थिति में भी धार्मिक कार्य करने में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है।

सामाजिक स्थिति भी उसकी अच्छी है, वह मेलों में उत्साहपूर्वक भाग ले सकती है तथा उनके आनन्द का रसास्वादन कर सकती है।

पत्नी के साम्पत्तिक अधिकारों का उल्लेख ऋग्वेद में बहुत ही विरल है, लेकिन गृहशासिता (सम्राज्ञी) के रूप में पत्नी का उल्लेख हुआ है, जिससे उसको साम्पत्तिक अधिकारों की आवश्यकता ही नहीं होती। कर्त्तव्यनिष्ठ होने के कारण सभी वस्तुएँ स्वतः

ही उपलब्ध हो जाती हैं।

पिता—पिता का स्थान परिवार में गौरवपूर्ण है। पिता के सभी आदेशों को पालन करने के लिए पुत्र उद्यत रहते हैं। पिता का सम्पत्ति पर स्वामित्व होता है।

पिता का व्यवहार अपने पुत्र-पुत्रियों के साथ स्नेहपूर्ण होता है। पिता से पुत्र कभी आतंकित नहीं होता। पुत्र जब भी अपने पिता से मिलना चाहता है तो वह बेरोक-टोक मिल सकता है। पिता अपनी सन्तान का बड़े स्नेह के साथ लालन-पालन करता है।

पिता सन्तान की प्रारम्भिक शिक्षा का कार्य भी स्वयं करता है। विशेष शिक्षा के लिए ही वह गुरु के पास भेजता है।

पिता अपनी पुत्री का भी भेदभाव रहित होकर लालन-पालन एवं शिक्षा का प्रबन्ध करता है। परिवार का मुखिया होने के कारण अपराधी सन्तान को यथोचित दण्ड भी देता है।

माता—माता की स्थिति परिवार में पत्नी की अपेक्षा भी अधिक उन्नतावस्था में चित्रित की गई है। जिस प्रकार पिता बाहर के कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है, उसी प्रकार माता सभी प्रकार के गृह-कार्यों की संचालिका होती है। माता का व्यवहार अपने पुत्र-पुत्रियों के प्रति पिता से भी अधिक सौहार्दपूर्ण रहता है। यदि किसी कारणवश परिवार के अन्य जन सन्तान को छोड़ देते हैं तब भी माता उसका साथ देती है। माता का पुत्र की अपेक्षा पुत्रियों से अधिक सम्पर्क रहता है। जिनको वह गृह कार्यों की शिक्षा देती है और भविष्य में आनेवाले सभी कार्यों के प्रति सजग करती है।

पुत्रियों को विवाह के लिए समन में जाने के लिए विशेष प्रसाधन करके प्रेरित करती है। पुत्री के लिए योग्य वर प्राप्ति हेतु माता ऋग्वेद में विशेष रूप से प्रयत्नशील देखी गई है।

माता का सामान्य रूप से रहने का स्थान घर ही होता है वह अपनी सन्तानों के लालन-पालन का, उनके लिए वस्त्र बुनने तथा सिलने का कार्य भी करती है।

पुत्र—आर्यों में औरस पुत्रों के प्रति विशेष लालसा देखी गई है। वे गुणी पुत्रों को पाने के लिए लालायित रहते हैं। और उनकी प्राप्ति के लिए देवों से आराधना करते हैं। औरस पुत्र के अभाव में पुत्रिका पुत्र, क्षेत्रज एवं अन्योदर्य से भी अपनी पुत्रैषणा को पूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं।

पुत्र का व्यवहार अपने माता-पिता के प्रति अत्यन्त सौहार्दपूर्ण हुआ है। पुत्र अपने माता-पिता की आज्ञा पालन करना, माता-पिता के किये गये उपकारों के प्रति कृतज्ञ होना, उनके लिए गृह-निर्माण करना, उनकी सेवा के लिए तत्पर रहना, पिता के यश में वृद्धि करना, विनयी होना, पिता के अपमान का बदला लेना, पैतृक परम्पराओं की रक्षा करना, पिता के ऋण को चुकता करना एवं वंश वृद्धि करना अपना परम कर्त्तव्य मानता है। पुत्र पिता की सम्पत्ति का अधिकारी होता है।

पुत्री—ऋग्वेद में पुत्री की स्थिति मध्यकाल से कहीं अधिक उन्नतावस्था में है, क्योंकि इसमें पुत्री के प्रति हेय भावना को सूचित करनेवाला एक भी शब्द नहीं है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर पुत्री की प्रशंसा की गई है तथा एक स्थान पर तो 'दुहिता विराट्' कहकर उसको पुत्रों से भी अधिक गौरव प्रदान किया गया है।

पुत्री का मुख्य कार्य घर पर अपनी माता की सहायता करना होता है। वह घर पर रहकर ही सिलाई, बुनाई, कढ़ाई का कार्य करती है। और बाहर से जल लाना भी उसके विशेष कार्यों में से एक है।

सदा पितृगृह में रहनेवाली पुत्री, पिता के कामों में भी सहायता प्रदान करती है तथा

उसकी सुख-सुविधा का सदा ही ध्यान रखती है। यदि पिता रोग से पीड़ित है तो उसके लिए रोग-मुक्ति की प्रार्थना देवों से करती है।

पुत्री की शिक्षा मुख्यरूप से गृहकार्यों को भलीप्रकार से संचालन करना है, लेकिन यदि कोई पुत्री शास्त्रीय ज्ञान एवं रणकौशल प्राप्त करना चाहती है तो वह उसको सहर्ष प्राप्त कर सकती है। उसको प्राप्त करने के लिए परिवार की ओर से कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

पुत्री वर-चयन करने में स्वतन्त्र है, लेकिन भाई एवं माता-पिता की अनुमति को भी श्रेष्ठ माना गया है। वह मेलों में सोल्लास जा सकती है।

अभ्रातृमती पुत्री पिता के साम्पत्तिक अधिकार को प्राप्त करती है, लेकिन भ्रातृमती पुत्री विवाह के बाद पिता की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं रखती।

भाई-बहिन—ऋग्वेद में भाई-बहिन की स्थिति महत्त्वपूर्ण एवं गौरवयुक्त है। ऋग्वेद में भाई की कल्पना बहिन की अपेक्षा से हुई है। दो भाई परस्पर गौण वृत्ति से ही भाई कहलाते हैं। भाई-बहिन का पारस्परिक व्यवहार अति मधुरता के साथ चित्रित किया गया है। इनके विषय में किसी प्रकार की कटुता का उल्लेख नहीं पाया जाता।

ऋग्वेद में इधर-उधर घूमनेवाली संदिग्ध उपायों से जीविकार्जन करनेवाली युवतियों को भाई रहित कहा गया है। पुत्री के विवाह का भार पिता पर माना गया है। लेकिन भाई भी बहिन के नैतिक आचार की रक्षा करता हुआ परम्परा विधि से योग्य युवक के साथ विवाह कराने का उत्तरदायी माना गया है। ऋग्वेद में पिता की अपेक्षा भाई को अधिक दहेज देनेवाला कहा गया है।

ऋग्वेद में धर्म बहिन बनाने का भी संकेत उपलब्ध होता है। भाई अपनी धर्म बहिन को अवश्य ही कुछ-न-कुछ धन देता है। जैसा कि पणियों और सरमा के आख्यान से प्रतीत होता है। धर्म बहिन भी अपने धर्म भाई की हित-साधना में तत्पर रहती है।

भाइयों का पारस्परिक व्यवहार—ऋग्वेद में भाइयों का पारस्परिक व्यवहार स्नेहपूर्ण चित्रित किया गया है। एक भाई दूसरे भाई की समय पड़ने पर भरसक सहायता करता है। भाई परस्पर होनेवाली स्पर्धा से बचने का प्रयत्न करता है। एक भाई जिस कार्य में असफल हो जाता है, दूसरा भाई उसको करने में हिचकिचाता है।

छोटा भाई बड़े भाई की आज्ञापालन करना अपना कर्त्तव्य समझता है। बड़े भाई को विवाह भोज एवं धार्मिक कार्यों में प्राथमिकता दी गई है।

काम सम्बन्धी आचरण का निरूपण—ऋग्वेद के विवाह सूक्त में काम सम्बन्धी आचरण का निरूपण किया गया है, जिसके अनुसरण से वैध सन्तानों की प्राप्ति अपनी विवाहित पत्नी में ही सम्भव है।

सामाजिक कुरीतियाँ—

जुआ—ऋग्वेद में जुआ अनैतिक कार्य माना गया है। जुए के प्रति जुआरी आकर्षित होता है। वह न चाहता हुआ भी जुए में बार-बार प्रवृत्त होता है। जुआरी जीतने की आशा से द्यूत-स्थल पर जाता है, लेकिन वहाँ हार ही उसके हाथ लगती है।

मानसिक व्यथा से सन्तप्त जुआरी जब अपनी पारिवारिक दुर्दशा पर विचार करता है तो उसको महती वेदना होती है।

इस द्यूत सूक्त में अनेक परिवारों की दुर्दशा का उल्लेख किया गया है। और सूक्तान्त में जुआ खेलने का निषेध किया गया है तथा खेती करने का परामर्श दिया गया है जिसमें ही सुख-शान्ति का मूल बताया गया है।

चोरी—चौर्य कार्य भी अनैतिक कृत्यों में से ही माना गया है जिसके प्रति परिश्रमशील सदाचारियों ने घृणा व्यक्त की है।

ऋग्वेद में चोरवाचक तक्वा, रिपुः, तायुः, तस्करः, वनर्गुः हुरश्चित्, मुषीवान्, अघशंसः, वृकः, स्तेनः शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनमें तायुः, स्तेनः, तस्करः विशेष उल्लेखनीय हैं। उनके वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि इन तीन प्रकार के चोरों के गिरोह या टोलियाँ होती हैं।

तायु नामक चोर वस्त्रादि का हरण करता है लोग उसका पीछा करते हैं और कुत्तों को भी उनके पीछे दौड़ाते हैं।

स्तेन नामक चोर तायु से अधिक भयंकर होता है जो गिरोह या समूह के रूप में जंगलों में वास करता है। वे रात्रि के समय अश्वों, गौओं आदि पशु धन को ग्रामों से हरण कर ले जाते हैं। कभी-कभी ग्रामीण उनको चोरी करते समय पकड़ कर रस्सी से बाँध लेते हैं।

ऋग्वेद में सर्वाधिक कष्टदायी तस्कर नामक चोर होता है, यह तो साक्षात् डाकू होता है, क्योंकि यह पथिकों को मार्ग में रस्सी से बाँधकर धन हरण कर लेता है।

इन सभी चोरों को जहाँ प्रजा वर्ग के लोग दण्डित करते हैं वहाँ वे शासन की ओर से भी दण्डित किये जाते हैं। और कभी-कभी अधिक अपराध करनेवाले को कारागार में भी डाल दिया जाता है।

व्यभिचार—ऋग्वेद में व्यभिचार को घोर अनैतिक आचरण माना है। व्यभिचारी स्त्री-पुरुषों की कड़े शब्दों में निन्दा की गई है। यदि कोई स्त्री व्यभिचार से गर्भवती हो जाती है तब वह उस अवैध सन्तान को एकान्त में छोड़ देती है जिसके प्राणरक्षा की आशा कम ही होती है। अवैध सन्तानों पर दया का भाव हमें धर्मशास्त्रों में मिलता है।

ऋग्वेद में व्यभिचारी स्त्री-पुरुषों की निन्दा और घृणा से ही सन्तोष नहीं किया गया, अपितु व्यभिचारिणी स्त्री को छोड़ देने का भी उल्लेख किया गया है, लेकिन सदाचारिणी को छोड़ना पाप माना गया है।

जार—ऋग्वेद में 'जार' शब्द शुद्ध प्रेमी के लिए प्रयुक्त हुआ है, लेकिन उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य तथा धर्मशास्त्रों में जार उपपति या व्यभिचारी पुरुष तथा उसका स्त्रीलिंग शब्द 'जारिणी' व्यभिचारिणी स्त्री के रूप में उल्लिखित है।

ऋण—ऋणी व्यक्ति अपने जीवन में सुखी नहीं होता उसके जीवन में उषाकाल का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। ऋण चुकाने की चिन्ता में वह दिन-रात घुलता रहता है। अनृणी रहने के लिए वह वरुण, बृहस्पति, सोम, इन्द्रादि देवों से प्रार्थना करता है।

जीवन में कभी ऋण नहीं लेना चाहिए, लेकिन यदि लेना ही पड़े तो सरल व्यक्ति से ऋण ग्रहण करना चाहिए, कुटिल से नहीं। ऋण लेकर अपने जीवन में ही चुकता कर देना चाहिए।

ऋग्वेद में जुआ को चोरी, व्यभिचार और ऋण का जन्मदाता माना गया है। अतएव इसको त्यागने का उल्लेख भी किया गया है। इन अनैतिक आचरणों से विरत हुए बिना चिरस्थायी सुख-शान्ति का लाभ नहीं हो सकता। ऐसा ऋग्वेद का सन्देश है।

॥ इति शुभम् ॥

सहायक ग्रन्थों की सूची

वैदिक साहित्य

ऋग्वेद संहिता (मूल) : वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, सं० २०१०

ऋग्वेद संहिता भाष्य : स्वामी दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर

ऋग्वेद संहिता भाष्य : सायण, वैदिक शोध-मण्डल, पूना

ऋग्वेद संहिता भाष्य : स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वेंकटमाधव और मुद्गल वैदिक शोध-संस्थान, होशियारपुर, १९६६

ऋग्वेद संहिता : जयदेव शर्मा, हिन्दी भाष्य, आर्य साहित्य-मण्डल, अजमेर, सं० १९९२

ऋग्वेद संहिता : सातवलेकर सुबोध (हिन्दी भाष्य), स्वाध्याय-मण्डल,औंध

ऋग्वेद संहिता : श्रीराम शर्मा, भाषानुवाद, मथुरा

अथर्ववेद संहिता (मूल) : वैदिक यन्त्रालय, अजमेर

अथर्ववेद संहिता भाष्य : सायण, वैदिक शोध-संस्थान, होशियारपुर, १९६२

अथर्ववेद संहिता : सातवलेकर सुबोध भाष्य, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, १९५०

अथर्ववेद संहिता : जयदेव शर्मा हिन्दी भाष्य, आर्य साहित्य-मण्डल, अजमेर, सं० २००९

यजुर्वेद संहिता (मूल) : स्वाध्याय मण्डल, औंध

यजुर्वेद संहिता भाष्य : दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, १९२९

यजुर्वेद संहिता : भाषानुवाद, गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन

यजुर्वेद संहिता : सातवलेकर, सुबोध भाष्य, स्वाध्याय-मण्डल, औंध

यजुर्वेद संहिता : श्रीराम शर्मा, भाषानुवाद, मथुरा

यजुर्वेद संहिता : महीधर उव्वट भाष्य, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२९

सामवेद संहिता : वैदिक यन्त्रालय, अजमेर

मैत्रायणी संहिता : सातवलेकर, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, संवत् १९९८

तैत्तिरीय संहिता : सायण भाष्य, आनन्द आश्रम, संस्कृत-ग्रन्थावली, पूना

ऐतरेयब्राह्मण : सायण भाष्य, हाग द्वारा सम्पादित, बम्बई, १८६२

कौषीतकिब्राह्मण : हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, १९२०

तैत्तिरीयब्राह्मण : सायण भाष्य, आनन्द आश्रम, संस्कृत-ग्रन्थावली, पूना

शतपथब्राह्मण : सायण भाष्य, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

बृहद्देवता (शौनक) : हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, १९०४

तैत्तिरीयोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर

बृहदारण्यकोपनिषद् : आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १९१५

निरुक्त (सनिघण्टु) : दुर्गाचार्य की टीका सहित, बाम्बे संस्कृत और प्राकृतिक सीरीज़

निरुक्त : ब्रह्ममुनि की टीका सहित, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर

आपस्तम्ब धर्मसूत्र : चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९३२

गौतम धर्मसूत्र : अड्यार लायब्रेरी सीरीज़, मद्रास, १९४८

वसिष्ठ धर्मसूत्र : गवर्नमेंट सैण्ट्रल बुक डिपो, बम्बई, १८६३
मनुस्मृति : कुल्लूक भट्ट टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९३५
याज्ञवल्क्य स्मृति : मिताक्षरा टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०९
वसिष्ठ स्मृति : आनन्दाश्रम संस्कृत-ग्रन्थावली, पूना
महाभारत : गीता प्रेस, गोरखपुर
गीता : गीता प्रेस, गोरखपुर

अन्य ग्रन्थ

ऋक् सूक्त वैजयन्ती कोष : सं० हरि दामोदर वेलणकर, वैदिक शोध-मण्डल, पूना, १९६५
ऋग्वैदिक आर्य : राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, देहली,
आर्ष योग प्रदीपिका : सार्वदेशिक, दरियागंज, देहली
आर्य संस्कृति के मूल तत्त्व : सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, विद्या विहार, देहरादून, १९५३
उत्तररामचरित : भवभूति, साहित्य-भण्डार, मेरठ, १९६९
ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध : डॉ० शिवराज शास्त्री, विजयकमल प्रकाशन, मेरठ, १९६२
कामायनी : जयशंकरप्रसाद, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद
कर्त्तव्यशास्त्र : पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति, गु०वि०, काँगड़ी प्रकाशन
धर्मशास्त्र के इतिहास : अनु० अर्जुन चौबे काश्यप, उत्तरप्रदेश लखनऊ (राज० प्रका०)
धम्मपद : अनु० चन्द्रमणि भिक्खू, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९०९
नीतिशतक : अनु० रामनारायण, वेणीप्रसाद, इलाहाबाद, १९६८
पाणिनीय अष्टाध्यायी : रामलाल कपूर ट्रस्ट, वाराणसी
पाणिनीय धातुपाठ : आर्य साहित्य-मण्डल, अजमेर
विदुर प्रजागर (नीति) : सार्वदेशिक प्रकाशन, देहली, सं० २००९
वेदकालीन समाज : डॉ० शिवदत्त ज्ञानी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६७
वैदिक कोश : डॉ० सूर्यकान्त, वाराणसी, १९६३
वैदिक धर्म एवं दर्शन : अनु० डॉ० सूर्यकान्त, मोतीलाल, बनारसी-दास, बना० १९६३—मूल लेखक—आर्थर बरीडेलकीथ, दि रिलीजन एण्ड फिलोसफी आफ दि वेद एण्ड उपनि०
वैदिक सूक्तियाँ : डॉ० रामनाथ वेदालंकार, गुरुकुल काँगड़ी, सं० २००६
वैदिक सम्पत्ति : रघुनन्दन शर्मा, बम्बई
वैदिक साहित्य में नारी : प्रशान्तकुमार वेदालंकार, वासुदेव प्रकाशन, देहली, १९६४
शब्द-कल्पद्रुम कोश : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६१
समाजशास्त्र व सामाजिक संगठन : जी० के० अग्रवाल, मोहन पब्लिकेशन हाउस, मेरठ, १९६३
समाजशास्त्र की रूपरेखा : एस० पी० गुप्ता एण्ड जी० के० अग्रवाल, साहित्य-भवन, आगरा, १९६८

संस्कारविधि : स्वामी दयानन्द, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
सत्यार्थप्रकाश : स्वामी दयानन्द, गिरिजानन्द, वैदिक संस्थान, दिल्ली, सं० २०१३
संस्कृत-हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६६
सम्यक् सम्बुद्ध : भारतीय साहित्य-सदन, नई दिल्ली, १९६१
हिन्दू संस्कार : डॉ० राजबली पाण्डेय, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६६
Atharva Veda Samhita : W. D. Whitney.
A Sanskrit English Dictionary : Sir Monier Williams Oxford The Clarendon Press, 1964.
Education in Ancient India : A. S. Altekar Indian Book Depot, Benares, 1934.
History of Dharm Shastra : P. V. Kane, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1936.
Kinship Usages and Family Organisation : Iravati Karve, A.B.O.R.I Vol. XX, Poona, 1939.
Original Sanskrit Texts : J. Muir, Trupner & Co. London, 1848.
Rigveda Conception of Brother : Dr. D. N. Shastry, P.T.A.I.O.C., Bombay, 1949.
Rigvedic Culture : Avinash Chandra Das, R. Cambray & Co., Calcutta-1925.
Some Aspects of the Earliest Social History of India : S.C. Sarkar, Oxford University Press, London-1928
The Hymns of the Rigveda : R.T.H. Griffith, Vols. I to IV, E.J. Lazarus & Co., Benares-1889.
The Position of Women in Hindu Civilization : A.S. Altekar, Benares Hindu University, 1938.
The Early Brahmanic System of Gotra and Pravara : John Brough, Cambridge University, 1953.
The Position of Women In Hindu Law : Dwarka Nath Mittar, University of Calcutta, 1913.
Vedic Index of Names and Subjects : A.A. Macdonell and A.B. Keith, London, 1912.
Vedic India as Embodied Principally in the Rigveda : Z.A. Ragozin, Pisher Lrwin Ltd., London, 1915
Worterbuch Zum Rigveda : Wiesbaden Hermann Grossmann, 1955.

पत्र-पत्रिकाएँ

Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute. Vol. XX Poona-1939.
Proceedings and Transactions of the All India Oriental Conference (15th Session) Bombay-1949.
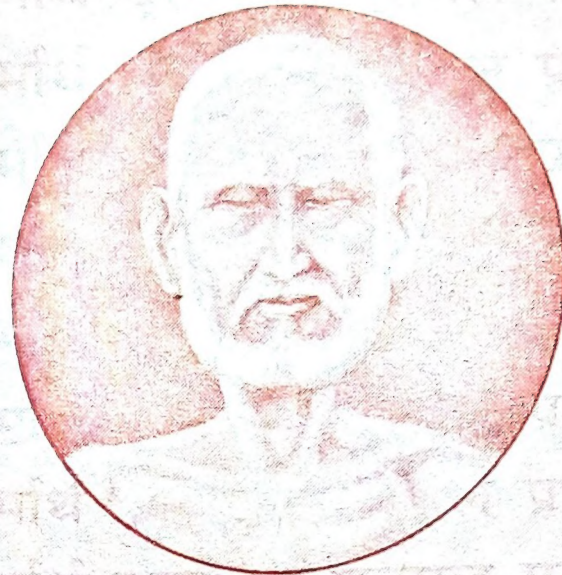
ओ३म्
ओ३म्
ओ३म्
गुरुवर्य विरजानन्दजी
ऋषिराज दयानन्द
पं० गुरुदत्त विद्यार्थी
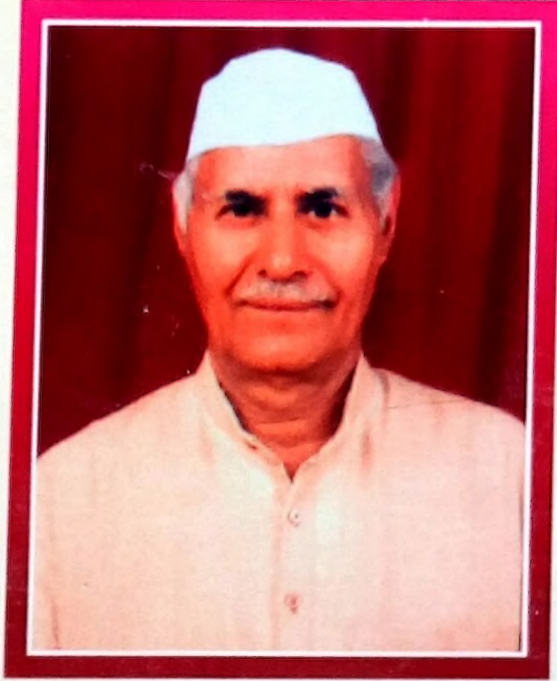
डॉ० सत्यप्रिय शास्त्री

जन्म : ४ दिसम्बर १९३५

ग्रम : देहा का पुर्वा, फर्रुखाबाद (उ०प्र०)

शिक्षा : सिद्धान्तभूषण, विद्यावाचस्पति, वेद शिरोमणि, एम. ए. संस्कृत, पी-एच. डी.

सामाजिक
सहभागतिता : हिन्दी सत्याग्रह पंजाब तथा गोरक्षा आन्दोलन दिल्ली में जेलयात्रा

जगदीशरन हिन्दू स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अमरोहा जे. पी. नगर में संस्कृत विभागाध्यक्ष एवं रीडर पद से १९९६ में सेवानिवृत्त

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी, ०११-६५८४५५९९, ९३१३७८४२७२